॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

युग प्रमुख, वात्सल्य मूर्ति, धर्म प्रभावक
आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज की हीरक जयन्ती के उपलक्ष में
माताश्री स्व. भंवरदेवी छाबड़ा (बिल्टीवाला) की स्मृति में
उनके परिवार द्वारा समर्पित

श्रीमदाचार्य अमृतचन्द्र सूरि विरचित

लघु-तत्त्व-स्फोट

सम्पादक
ज्ञानचन्द बिल्टीवाला

प्रेरक
करुणा मूर्ति उपाध्याय श्री भरतसागर महाराज

निर्देशिका
आर्यिकारत्न स्याद्वादमती माताजी

प्रकाशक
भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

प्रबन्ध सम्पादक ब्र श्री धमचन्द शास्त्री प्रतिष्ठाचाय, ज्योतिषाचाय
एवं
ब्र कु प्रभा पाटनी इन्दौर (म प्र)

प्राप्ति स्थान 1 आचाय श्री विमलसागर सघ

2 जनविद्या सस्थान, श्रीमहावीरजी
दिगम्बर जन नशियां भट्टारकजी,
सवाई रामसिंह रोड, जयपुर-302004

लागत मूल्य 30/- रुपये

प्रकाशक भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद

मुद्रक जना प्रिन्टस एण्ड स्टेशनस
बोरडी का रास्ता किशनपोल बाजार
जयपुर-302003 फोन 63068

तुभ्य नम परम धर्म प्रभावकाय ।
तुभ्य नम परम तीर्थ सुवन्दकाय ॥
'स्याद्वाद' सूक्ति सरणि प्रतिबोधकाय ।
तुभ्य नम विमल सिन्धु गुणार्णवाय ॥

चारित्र शिरोमणि, सन्मार्ग दिवाकर, करुणा निधि, वात्सल्य मूर्ति अतिशय योगी
तीर्थोद्धारक चूडामणि, अपाय विचय धर्मध्यान के ध्याता, शान्ति-सुधामृत के दानी,
वर्तमान में धर्म-पतितो के उद्धारक, ज्योति पुञ्ज, पतितो के पालक, कल्याणकर्त्ता,
दु खों के हर्ता समदृष्टा बीसवी सदी के अमर सन्त, परम तपस्वी
इस युग के महान साधक, जिन भक्ति के अमर प्रेरणास्रोत,
गुरुदेव आचार्यवर्य 108 श्री विमलसागर जी महाराज
के कर कमलों में ग्रन्थराज" सादर समर्पित

उपाध्याय श्री भरत सागर जी महाराज

सकल्प

"णाण पयास" सम्यग्ज्ञान का प्रचार प्रसार केवलज्ञान का बीज है। आज कल युग मे ज्ञान प्राप्ति की तो होड लगी है पदविया और उपाधिया जीवन का सवस्व बन चुकी है, परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर मनुष्यों का लक्ष्य ही नहीं है।

जीवन में मात्र ज्ञान नही सम्यज्ञान अपेक्षित है। आज तथाकथित अनेक विद्वान अपनी मनगढन्त बातो की पुष्टि पूर्वाचार्यो की माहर लगाकर कर रहे है ऊटपटाग लख निया सत्य की श्रणी में स्थापित की जा रही है, कारण पूर्वाचाय प्रणीत ग्रथ आज सहज सुलभ नही है और उनके प्रकाशन व पठन पाठन की जसी और जितनी रुचि अपेक्षित है वसी और उतनी दिखाई नही देती।

असत्य को हटान क लिये पर्चेबाजी करने या विशाल सभाओ मे प्रस्ताव पारित करने मात्र से काय सिद्ध होना असभव है। सत्साहित्य का प्रचुर प्रकाशन व पठन-पाठन प्रारभ होगा, असत का पलायन होगा। अपनी सस्कृति की रक्षा क लिए आज सत्साहित्य क प्रचुर प्रकाशन की महती आवश्यकता है –

येनते विदलन्ति वादिगिरय स्तुष्यन्ति वागीश्वरा
भव्या येन विदन्ति निर्वृतिपद मुञ्चन्ति मोह बुधा।
यद् बन्धुर्यमिना यदक्षयसुखस्याधारभूत मत
तल्लोकत्रयशुद्धिद जिनवच पुष्याद विवेकश्रियम्॥

सन १९८४ से मेरे मस्तिष्क में यह योजना बन रही थी। परन्तु तथ्य यह है कि 'सकल्प के बिना सिद्धि नही मिलती है।" सन्माग दिवाकर आचाय १०८ श्री विमलसागर जी महाराज की हीरक जयती के मागलिक अवसर पर मा जिनवाणी की सेवा का यह सकल्प मने प पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री व उपाध्याय श्री के चरण सानिध्य मे लिया। आचार्य श्री व उपाध्याय श्री का मुझे भरपूर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। फलत इस कार्य में काफी हद तक सफलता मिली है।

इस महान् कार्य में विशेष सहयोगी प धमचदजी व प्रभाजी पाटनी रहे। इन्हे व प्रत्यक्ष परोक्ष मे कायरत सभी कार्यकर्त्ताओं के लिए मेरा आशीर्वाद है। पूज्य गुरुदेव के पावन चरण-कमलो में सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्ति पूर्वक नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु।

—आर्यिका स्याद्वादमती

प्रकाशकीय

इस परमाणु युग म मानव के अस्तित्व की ही नही अपितु प्राणिमात्र के अस्तित्व की सुरक्षा की समस्या है। इस समस्या का निदान अहिंसा अमोघ अस्त्र स किया जा सकता है। अहिंसा जनधम, सस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार भी है।

तीथकरो के मुख स निकली वाणी को गणधरों ने ग्रहण किया और आचार्यों न निबद्ध किया जो आज हमे जिनवाणी के रूप में प्राप्त है। इस जिनवाणी का प्रचार प्रसार इस युग के लिए अत्यन्त उपयागी है। यही कारण है कि हमारे आराध्य पूज्य आचार्य, उपाध्याय एव साधुगण जिनवाणी के स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार मे लगे हुए हैं।

उन्ही पूज्य आचार्यो में से एक है सन्माग दिवाकर चारित्रचूडामणि परमपूज्य आचार्यवर्य विमल सागर जी महाराज, जिनकी अमृतमयी वाणी प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी है। आचार्यवय की हमेशा भावना रहती हैं कि आज के समय म प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थो का प्रकाशन हो और मन्दिरो में स्वाध्याय हेतु रखे जाए जिसे प्रत्येक श्रावक पढकर मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर ज्ञानज्योति जला सक।

जनधम की प्रभावना जिनवाणी का प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व मे हो, आर्ष परम्परा की रक्षा हो एव अन्तिम तीथकर भगवान् महावीर का शासन निरन्तर अबाध गति से चलता रहे। उक्त भावनाओं को ध्यान म रखकर परमपूज्य ज्ञानदिवाकर, वाणी भूषण उपाध्यायरत्न भरतसागर जी महाराज एव आर्यिका स्याद्वादमती माता जी की प्रेरणा व निर्देशन मे परम पूज्य आचार्य विमलसागर जी महाराज की 74वी जन्म जयन्ती के अवसर को 75वी जन्म-जयन्ती के रूप मे मनाने का सकल्प समाज के सम्मख भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद ने लिया। इस अवसर पर 75 ग्रन्थो क प्रकाशन की योजना के साथ ही भारत के विभिन्न नगरो में 75 धार्मिक शिक्षण शिविरो का आयोजन किया जा रहा हैं और 75 पाठशालाओ की स्थापना भी की जा रही है। इस ज्ञान के यज्ञ मे पूर्ण सहयोग करने वाले 75 विद्वानो का सम्मान एव 75 युवा विद्वानो को प्रवचन हेतु तैयार करना तथा 7775 युवा वर्ग से सप्तव्यसन का त्याग करना आदि योजनाए इस हीरक जयन्ती वर्ष मे पूर्ण की जा रही है।

सम्प्रति आचार्यवर्य पू विमलसागर जी महाराज के प्रति देश एव समाज अत्यन्त कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ उनके चरणो मे शत शत नमोस्तु करके दीर्घायु की कामना करता है। ग्रन्थो के प्रकाशन मे जिनका अमूल्य निर्देशन एव मार्गदर्शन मिला है, वे पूज्य उपाध्याय भरतसागर जी महाराज एव माता स्याद्वादमती जी है। उनके लिए मेरा क्रमश नमोस्तु एव वन्दामि अर्पण है।

ब्र प धर्मचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष
भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्

आशीर्वाद

जनागम अनेक नयों के सगम स्वरूप है। जिनवर के नय चक्र को न समझ पाने के कारण कोई निश्चयाभासी बन जाते है तो कोई व्यवहाराभासी बने रह जाते हैं। इन एकान्त रूप मिथ्यावादो से मुक्ति का उपाय आर्ष ग्रन्थों की सही समझ है उनका स्वाध्याय है।

एकान्त क अधेरों से समाज को मुक्ति प्राप्त हो और जन-जन आत्म हित साध सक इस पुनीत उद्देश्य की पूर्ति हेतु 1990 मे आचाय श्री विमल सागर जी महाराज का हीरक जयन्ती वप हमारे लिए एक स्वर्णिम अवसर लेकर आया था। आर्यिका स्याद्वादमती माताजी न आचाय श्री एव हमारे सानिध्य मे एक सकल्प लिया था कि पूज्य आचार्य श्री की हीरक जयन्ती के अवसर पर आर्ष साहित्य का प्रचुर प्रकाशन हो और यह जन-जन को सुलभ हो। फलत 75 आर्ष ग्रन्थो के प्रकाशन का निश्चय किया गया था, क्योकि सत्य सूय क प्रकट होन पर असत्य अन्धकार स्वत ही पलायन का जाता है।

प्रस्तुत ग्रथराज उसी कडी में प्रकाशित हो रहा है। इस महदनुष्ठान में जिस किसी न किसी भी प्रकार का सहयोग किया है उन सबको हमारा आशीर्वाद है।

—उपाध्याय भरतसागर

आभार

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणि-
स्तद्वाच परमास्तेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्योतिका ॥
सदरत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालम्बन ।
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमत साक्षाज्जिन पूजित ॥पदमनदी प ॥

वर्तमान इस कलिकाल मे तीन लोक के पूज्य केवली भगवान इस भरतक्षेत्र मे साक्षात् नही है तथापि समस्त भरतक्षेत्र मे जगत्प्रकाशिनी केवली भगवान की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधारस्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी है। इसलिए उन मुनियो की पूजन तो सरस्वती पूजन है तथा सरस्वती की पूजन साक्षात् केवली भगवान की पूजन है।

आर्ष परम्परा की रक्षा करते हुए आगम पथ पर चलना भव्यात्माओं का कर्तव्य है। तीर्थंकर के द्वारा प्रत्यक्ष देखी गई दिव्यध्वनि मे प्रस्फुटित तथा गणधर द्वारा गूथित व महान आचार्यो द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा प्रचार-प्रसार मार्ग प्रभावना नामक एक भावना तथा प्रभावना नाम का सम्यग्दर्शन का अग है।

युग प्रमुख आचार्य श्री के हीरक जयन्ती वर्ष के उपलक्ष्य मे हमें जिनवाणी के प्रसार के लिये एक अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है। वर्तमान युग मे आचार्यश्री ने समाज व देश के लिए अपना जो त्याग और दया का अनुदान दिया है वह भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। ग्रन्थ प्रकाशनार्थ हमें सानिद्य एवं नेतृत्व प्रदाता पूज्य उपाध्याय श्री भरतसागर जी महाराज व निर्देशिका जिन्होने परिश्रम द्वारा ग्रन्थो की खोजकर विशेष सहयोग दिया एसी पूज्या आ स्यादवादमती माताजी के लिये मै शत-शत नमोस्तु वन्दामि अर्पण करती हू। साथ ही त्यागीवर्ग जिन्होने उचित निर्देशन दिया उनको शत शत नमन करती हू। ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अमूल्य निधि का सहयोग देने वाले द्रव्यदाता की मै आभारी हू। तथा यथा समय शुद्ध ग्रन्थ प्रकाशित करने वाले जैना प्रिन्टस, जयपुर की मै आभारी हू। अन्त मे प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप मे सभी सहयोगियो के लिये कृतज्ञता व्यक्त करते हुए सत्य जिन शासन की, जिनागम की भविष्य मे इसी प्रकार रक्षा करते रहे, ऐसी कामना करती हू।

कु प्रभा पाटनी सघस्थ

पिताश्री
श्री कन्हैयालालजी छाबडा
(पिल्टावाला)
पुत्र स्व श्री लखमाचन्द जी एवं
स्व श्रीमति जडाव देवी

माताश्री
स्व श्रीमति भंवरदेवी छाबडा
पुत्री स्व श्री छगनलालजी चंद तुंगायाले
एवं स्व श्रीमति किस्तूर बाई
जन्म 1909 पुण्य वर्ष 1986

स्व माता श्रीमती भँवर देवी

एक संक्षिप्त परिचय

हमारी पूजनीया धाय (माता श्री) का जन्म सन् 1909 मे जयपुर नगर में हुआ था। उनके पिता स्व श्री छगनलाल जी बद तुवा वाले जयपुर राज्य म चुगी वसूली के महकमें मे सेवारत थे। उनकी माता स्व सिरेकुँवरबाई जी स्वाध्यायशीला तथा धमपरायण महिला थी। सम्भवत इसी के परिणाम स्वरूप हमारी 'धाय' में एक अद्भुत धार्मिक समझ एव दृढ़ता थी। 15 वर्ष की छोटी उम्र म ही हमारे परिवार म चली आ रही शीतलाष्टमी को ठडा भोजन करने एव देवी का पूजने की रूढ़ी का उन्होने परित्याग कर दिया था। उन्ह वीतरागी देव शास्त्र एव गुरु पर दृढ श्रद्धा थी तथा देव पूजा और स्वाध्याय नित्य ही नियम पूवक करती थी। रत्नत्रय का तेला पूरा कर 55 वष की उम्र में उन्होन आजीवन ब्रह्मचय व्रत ले लिया था। नगर में मुनि सघ के पधारने पर वे जहां तक बन पडता था उनके आहारार्थ चौका लगाती थी। औषधालय, अनाथालय आदि सस्थाओ एव असहाय, दुःखी व्यक्तियो की यथाशक्ति आर्थिक सहायता करने में वे सदा तत्पर रहती थी।

धार्मिक जीवन का यह रूप बाह्य क्रिया मात्र तक सीमित नही था। वरन् उसकी सुगन्धी का प्रसार उनके पारिवारिक सम्बन्धो म प्रकट लक्षित होता था। अपने पीहर पक्ष म अनुज श्री भवर लालजी बद (सेवा निवृत्त राजकीय अधिकारी जिन्होने 'जीवनोपयोगी पाथेय' आदि अनेक लघु पुस्तिकाओं को लिखकर एव छपा कर वितरित किया है) एव श्री सूरजमलजी बद (सेवा निवृत्त राजकीय अधिकारी अध्यक्ष श्री वीर सेवक मण्डल जयपुर सदस्य प्रबन्धकारिणी समिति श्री दि जैन अतिशय क्षेत्र, श्री महावीरजी) अनुजा स्व श्रीमति सूरज देवी जी धमपत्नि स्व श्री अमरचन्द जी कासलीवाल (फौजदारजी वाले) एवं श्रीमति चाँददेवी जी धमपत्नि श्री पृथ्वीराज जी गगवाल तथा इनके परिवारो में छोटे बड सभी को उन्होने पूरा स्नेह प्रदान किया था। अपने मामा स्व श्री गुलाबचन्दजी हीरालालजी गोदिका के परिवारजनो म भी समान रूप म उनके स्नेहिल सम्बन्धो का विस्तार हुआ था। उनकी उपस्थिति छोटे बडे सभी का ध्यान आकर्षित करती थी उनके सानिध्य म सभी के चेहरे पर एक मुस्कान उभर आती थी।

10-11 वष की छोटी आयु म हमारे पिता श्री बन्शीलाल जी से विवाह होने पर वे छाबड़ा (बिलालाना) परिवार की सदस्या बनी थी। यहां भी उनके स्नेह सम्बन्धो का विस्तार हमारी दादी श्रीमति जड़ाव देवीजी, ताऊजी स्व श्री नानूलालजी, ताईजी स्व श्रीमती गोगादेवी जी

के प्रति सेवा और श्रद्धा के रूप में हुआ था। उनकी सन्तानों-अनोखी देवी जी धर्मपत्नि श्री गणीचन्द जी बिलाला, अनूपचन्द जी, शान्तिकुमार जी, कमला देवी धर्मपत्नि श्री फकीरचन्द जी गंगवाल एवं प्रेमदेवी धर्मपत्नि श्री नेमीचन्दजी बज तथा अन्य परिवार जनों को उन्होंने सदैव स्नेह प्रदान किया था, इन सभी से भरपूर स्नेह और श्रद्धा उन्होंने पायी भी थी। (कभी किन्ही से कोई बात सुनी हुई तो वह अन्तमुहूर्तिक ही रही उससे सम्बन्ध कटु कभी नही बने।)

व्यक्ति के धार्मिक संस्कारो की परीक्षा उसके इष्ट वियोग एवं रोगादि परीषह के समय होती है। जीवन के अन्तिम वर्षों मे उनकी स्वयं की देह रुग्ण और शिथिल हो गई थी खडे होकर चलना भी दूभर हो गया था। कुछ माह तो बिस्तर पर ही लेटे रहना पडा। इस सब के दौरान जहां तक बन पडा उन्होंने स्वावलम्बन नही छोडा। सबसे बडी बात यह है कि देह के सारे कष्ट उनके चित्त की शान्ति भंग नही कर सके चेहरे पर अन्त समय तक कायरता एवं दैन्य की रेखायें नही खींच सके।

परमात्म प्रकाश की गाथा 2/112 की टीका में ब्रह्मदेव सूरि कहते है कि श्रावक साधु को आहार दान करके बारह प्रकार के तप तथा उनके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले स्वर्ग और मोक्ष ही दे देता है। हमारी 'बाय' ने तो हम भाई-बहनों को जन्म दिया पाला-पोसा बडा किया आहार औषध अभय ज्ञान सभी प्रकार के दान दिये। (हमारी अग्रजा सरदार बाई एवं एक भ्राता वीरेन्द्र का अल्प आयु मे स्वर्गवास हो गया था)। हम उनके उपकारो को जीवन मे कुछ सत्कार्य कर सार्थक कर सकें यही वीतरागी परमात्मा से प्रार्थना है —

महेन्द्र कुमार—हीरा देवी ज्ञानचन्द—सुशीला देवी प्रेम देवी—स्व ताराचन्द पाटनी
विद्या देवी—कलाशचन्द सौगानी राजेन्द्र कुमार—रतन देवी
सत्येन्द्र कुमार—शशि देवी एवं समस्त परिवार

प्रस्तावना

आचार्य अमृतचन्द्र जन अध्यात्म के क्षत्र मे अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त आचाय है। विद्वज्जन इनका काल विक्रम की दसवी सदी का उत्तरार्ध मानते है। आ कुदकुन्द के समयसारादि ग्रन्थो के टीकाकार के रूप मे पुरुषाथ सिद्धयुपाय मे श्रावक के आचार एव 'तत्त्वार्थसार' मे आचाय उमास्वामी रचित 'तत्त्वार्थ सूत्र' का सार प्रस्तुत करने के रूप मे स्वाध्याय प्रमी जन उन्हे जानते है। उनके ग्रन्थो के रचना सौष्ठव एव प्रौढ चिन्तन के सम्मुख पाठक का हृदय बरबस श्रद्धा से अभिभूत हो उठता है। ऐसे महान् आचाय का यह 'लघुतत्त्व स्फोट' अपरनाम 'शक्तिमणित कोष' ग्रन्थ का अहमदाबाद के देला भण्डार के हस्तो से निकल कर प्रकाश मे आ जाना इस अध सदी की अविस्मरणीय घटना है। जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा की स्तुति मे रचे गये ग्रन्थ के 625 पदो को पढने पर पाठक को अध्यात्म के जिस तेजस्वी रूप के दशन होते है वह शायद उसने कभी नही किये और वह स्वय आचार्य की भांति स्वशक्ति के बहुत शब्दो मे इस जडाव का पुन पुन आस्वादन करते रहना चाहेगा। पाठक को इस 'स्वशक्ति के जडाव' का आस्वादन कराने का श्रेय सवप्रथम स्वनामधन्य मुनि पुण्यविजय जी को जाता है कि उन्होने इसकी एक प्रति कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पद्मनाभ जनी को दी और प० डा पन्नालाल जी साहित्याचार्य के सहयोग से प्रोफेसर जनी द्वारा यह अग्रजी भाषा मे अनूदित होकर मुद्रित हुई। प० डा पन्नालाल जी ने डा दरबारी लाल जी कोठिया एव प० कलाशचन्द्र जी शास्त्री के साथ गभीर ग्रथ मन्थन के बाद श्री गणेश वर्णी दि जन सस्थान वाराणसी की ओर से 1981 मे ग्रन्थ को हिन्दी भाषा मे सम्पादित कर प० कैलाशचन्द शास्त्री की विस्तृत भूमिका सहित प्रकाशित कराया है। ग्रन्थ की क्लिष्ट पदावली के अथ मे प्रवेश को सुलभ कर देने से आचाय अमृतचन्द्र के कुल आदि के सम्बन्ध मे जिज्ञासुजन श्री दि० जन गणेश वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी से प्रकाशित ग्रन्थ की श्री कलाशचन्द जी शास्त्री की भूमिका देखे। पाठक वृन्द मुनि पुण्यविजय जी के साथ साथ डा पन्नालाल जी आदि उक्त विद्वानो के भी चिरऋणी हो गये है।

सन् 1985 86 में आदरणीय श्री ज्ञानचन्द्र जी खिन्दूका तत्कालीन अध्यक्ष प्रबन्धकारिणी समिति श्री दि० जन अतिशय क्षत्र श्री महावीरजी (राज) के सौजन्य से कु भोज बाहुबली के प० श्री माणिकचन्द जी चवरे से प्राप्त ग्रन्थ की प्रतियो मे से एक प्रति हमे प्राप्त हुई और स्थानीय श्री दि० जन मन्दिर, सघीजी चौकडी मोदीखाना की शास्त्र सभा मे नियमित रूप से इसका स्वाध्याय किया गया। ग्रन्थ इतना अद्भुत है कि एक बार शास्त्र सभा मे पूरा स्वाध्याय करके इस बन्द करके हम रख नही सके। शास्त्र सभा की रविवारीय गोष्ठियो मे एव व्यक्तिगत स्वाध्याय मे इसका पुन पुन अथ मन्थन 1985 86 से अब तक होता ही रहा है। जसे गन्ने की गडेरी को चूस चूसकर भी रस लुब्ध मानव उसे चूसे ही जाता है वसे ही इस ग्रन्थ के पदो की स्थिति है पाठक को प्रत्येक बार ही इसके पद नये अर्थ और रस से पुरस्कृत करते है। पदो म ऐसा अ

गाम्भीय है कि उनके भावार्थ को एक व्याख्या में तो सीमित किया ही नहीं जा सकता, अनेक प्रयत्न भी उसके पार को पा लेने का दावा नहीं कर सकते। नया प्रयत्न प्रयत्न-कर्त्ता की तो चेतना पर आये कालुष्य को हटाकर उसे प्रदीप्त करता ही है स्वाध्याय प्रमी जनो को भी सम्भवतया लाभ ही करेगा इस विचार से हमने भी पदो को पढ़कर जो भाव विशेष चित्त मे उदित हुआ उसे अभिव्यक्ति दी है। पद के सम्पूर्ण पक्षो को व्यक्त करने की हमारी चेष्टा नही रही है उस हेतु तो पाठक को स्वय ही प्रयत्न करना होगा उनका समस्त अर्थ—और पाने हेतु तो दोहन उसे ही करना होगा।

ग्रन्थ के पद क्लिष्ट सस्कृत भाषा म है। उसके अनुवाद को हमने प० डा पन्नालाल जी साहित्याचाय के अनुवाद से बहुभाग ग्रहण कर मात्र अपने ढग से व्यवस्थित कर दिया है। कही कही भिन्न अर्थ भी हमे सभव लगा तो हमने ले लिया है। अनुवाद म जो कुछ सही है उस सबका श्रय श्रद्धय साहित्याचार्यजी को है और पूरी सावधानी बरतते भी कोई अशुद्धि आ गई हो तो हम क्षमा प्रार्थी है विद्वज्जन उसे सुधार ल और हमे सूचित करने की कृपा करें।

पूज्य आ विमल सागर जी महाराज की हीरक जन्म-जयन्ती क उपलक्ष्य म 75 ग्रन्थ प्रकाशन की योजना की चर्चा हमने पढ़ी/सुनी तो हमारे अनुज चि सत्येन्द्र कुमार जो हमारी स्वर्गीय माता श्रीमति भवर देवी की स्मृति मे परिवार की ओर से एक ग्रन्थ प्रकाशित करने का मनोभाव अनेक बार व्यक्त कर चुके थे एव समस्त ही परिवार जनो ने जिसकी अनुमोदना की थी को काय रूप देने का स्वर्ण अवसर ही हमारे सामने उपस्थित हो गया। सोनागिर सिद्ध क्षेत्र म जब आचार्य श्री ससघ विराज रहे थे हमने जाकर ग्रन्थराज लघुतत्त्व स्फोट' (अपनी व्याख्या सहित) को मुद्रित करा हमारे परिवार की ओर से आचार्य श्री की हीरक जयन्ती के क्रम मे समर्पित करने की अनुमति देने हेतु पूज्य उपाध्याय श्री भरत सागर जी महाराज से सविनय प्रार्थना की। उपाध्याय महाराज ने बड़ी ही उदारतापूर्वक हमे अनुमति दे दी। कुछ क्षयोपशम की मदता, कुछ प्रमाद वष पर वष यो ही गुजर गये ब्र प्रभाजी के पुन पुन तकादे के पत्र आते रहे और हम शीघ्र ही कार्य पूरा होगा का उन्हे आश्वासन देते रहे और साथ ही उपाध्याय महाराज आशीर्वाद द, यह भी लिखते रहे। कीचड मे फँसे बल की सी अपनी हालत के बारे म हम जानत थे कि यह गुरुतर कार्य हमारे बस का नही है और उपाध्याय महाराज का आशीर्वाद ही इसे पार लगायेगा। आखिर आधा-अधूरा जितना तयार हुआ 1992 के जून मास मे जना प्रिंटर्स के मालिक प्रियवर कैलाशचन्द जी साहू को मुद्रण हेतु एक भाग हमने प्रस्तुत कर दिया। सामग्री तैयार करके देने मे विलम्ब हुआ तो भी प्रेस ने धर्य रखा एव साफ सुथरा मुद्रण किया उस हेतु हम श्री कैलाशचन्द जी तथा उनके साथियो के आभारी है।

अक्टूबर, 92 मे पूज्य आ० सुबाहु सागर महाराज को ग्रन्थ के कुछ मुद्रित पृष्ठ अवलोकनार्थ प्रस्तुत किये। आचार्य श्री ने हमे आशीर्वाद निम्न प्रकार प्रेषित कर अनुग्रहित किया—

सुजानमल
5.12.92

श्री देव शा न गुरु के परम भक्त धर्मपरायण धर्मानुरागी श्री ज्ञानचन्द भाई बिल्टी वाले को–श्री मुनि संघ की ओर स धर्म वृद्धि शुभ आशीर्वाद। श्री लघु तत्व स्फोट श्री आचार्य अमृत चन्द्र जी का ग्रन्थ विक्रम सवत २०८ म श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थ माला नरिया वाराणसी से प्रथम आवृत्ति ७८० संख्या मे छपवाया था। उत्तम सुन्दर ग्रन्थ को देखते-देखते ही स्वाध्याय के प्रेमी भक्तगणो ने ले लिया। ग्रन्थ का अभाव होने से श्री ज्ञानचन्द भाई एव साथी मित्रगण ने मिलकर यह लघुतत्व स्फोट सुन्दर गभीर ग्रन्थ को पुन छपवाने का प्रयत्न चालु है। हमने कुछ प्रूफ देखा, उत्तम है। श्री १००८ भगवान महावीर प्रभ का दिव्यवाणी का प्रचार एव प्रसार करना एव चचल लक्ष्मी को सदुपयोग म खर्चने का उत्तम समय मिला है। धन्यवाद है। छोटा सा ग्रथ है मगर माम जसा गभीर तत्व भरा है। ऐसा सुन्दर साहित्य के छपकर स्वाध्याय सभी भक्तो के हाथ मे आने से दुनिया म श्री वीर प्रभ जी की वाणी कोन-कोन में गू जती रहेगी। आप सब परिश्रम करने वालो भक्तो को हमारा शुभ धर्म वृद्धि आशीर्वाद है। अनेक धन्यवाद है धन्यवाद है धन्यवाद है।

आचार्य सुबाहु सागर

मार्च माह मे इस वर्ष पर्वतराज सम्मेद शिखर जी की वदना क अवसर पर पूज्य उपाध्याय महाराज को ग्रन्थ के कुछ मुद्रित पृष्ठ हमने अवलोकनार्थ प्रस्तुत किये। आपने हमे आशीर्वाद दिया और मुद्रण कार्य को आचार्य श्री की जयन्ती तक पूर्ण करने के निर्देश दिये। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे सस्कृत पदो को अलग से देने क सम्बन्ध म पाठको की कठिनाई की बात आपने कही। यह ही प० डा पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने मढिया जी जबलपुर से मुद्रित मूल भाग का अवलोकन कर अपने दि 29/8/93 के पत्र मे लिखी। ग्रन्थ की इस प्रकार की योजना को पढने का पाठ करने कठस्थ करने की सुविधा की दृष्टि से श्रद्धेय विद्वान प० जुगल किशोर जी मुख्तार की 'समन्तभद्र ग्रन्थावली 1981' के अनुसरण म हमने अपनाया था। कठिनाई के लिये हम पाठक वर्ग से क्षमा प्रार्थी है।

विषय–प्रवेश

होगा। ऐसा नही है कि हमारी एक, बहुमान्य चिन्तन धारा यहा तिरस्कृत हुई है वरन् सिक्के का दूसरा पहलु भी वर्णित होकर तत्त्व का सक्षेप मे समग्र प्रस्फुटन यहा हुआ है।

सभी जानते है कि जैन दर्शन मे जीव पुदगल आदि जगत् के पदार्थ अनेकान्त स्वरूप स्वीकार किये गये हैं। आचार्य इसे द्वयात्मक वस्तुवाद' की सज्ञा देते है (8/10)। तदनुसार आत्मा को द्वितय रूप वे स्वीकार करते हैं (13/25)। इस द्वितय रूप के सम्यक् बोध, अनुभूति और तदनुसार दृढ उग्र निष्कप वर्तन से आत्मा का अनन्त गुण वभव अनावृत्त हो मानव स्वादामृत' को प्राप्त हो जाता है 'विश्वमय परमात्मा' हो जाता है।

आत्म तत्त्व की यह द्विरूपता क्या है ? सरल शब्दो मे आत्मा एक प्रकार ही नही है वह दूसरे प्रकार भी है। प्रदेश अपेक्षा वह जड चेतन सभी पदार्थों से पृथक है ज्ञान-दर्शन शक्तियो की अपेक्षा वह विश्व गूढ स्वभाव है। दूसरे शब्दो मे वह एक ओर पदार्थों की विशाल समूह सत्ता मे गर्भित है तो दूसरी ओर अपनी चेतना की महिमा मे विश्व को समाये हुए है।

जीव की विश्व व्यापी ज्ञान-दर्शन शक्तियो का तीक्ष्ण व्यापार जगत के पदार्थों से स्वरस ग्रहण करता हुआ स्व धातु पोषण करता है उसकी समस्त आत्मशक्तियो को पुष्ट करता है विकार तो करता ही नही (11/4)। प्रश्न है दर्शन ज्ञान शक्तियो का यह व्यापार क्या बाह्य पदार्थों के व्यवहार/वर्तन को भी प्रभावित करता है ? सूक्ष्म अणु जगत के क्षेत्र मे हो रहे वैज्ञानिक प्रयोग/शोध बता रहे है कि अणु के अवयव स्वरूप इलेक्ट्रोन प्रोटोन आदि दृष्टा के अनुसार दृश्य रूप धारण करते हैं। विज्ञान चिन्तक फ्रिटजोफ कापरा कहते है 'मेरा चेतन निर्णय कि मै इलेक्ट्रोन को कसे देखू, कुछ हद तक इलेक्ट्रोन के गुणो को निर्धारित करेगा। यदि मैं उससे कण की ईहा करूगा तो वह कण रूप मे उत्तर देगा यदि मै उससे लहर की ईहा करूगा तो वह मुझे लहर रूप मे उत्तर देगा। हम प्रकृति के सम्बन्ध म बिना साथ ही अपने सम्बन्ध म कह कभी कुछ नही कह सकते।'[1]
(The Turning point' by FritJof capra p 77)

आचार्य अमतचन्द्र को वैसे तो बहुत सरोकार नही है कि बाह्य पदार्थ ज्ञाता के अनुरूप वर्तन करते है या नही। वे विरक्त-दर्शन है। जगत प्रकाशित न हो तो सूर्य का क्या बिगडता है ? पर सूर्योदय होने पर जगत के पदार्थों का प्रकाशित होने का स्वभाव है वे प्रकाशित होते ही इस तथ्य से आचार्य सुपरिचित है। वे कहते है जो पदार्थ ज्ञान मे स्पष्ट रूप से ग्रहण किया गया है वह कारको का स्वसमीकरण करता है। निश्चय व्यवहार रूप जगत की सहृति कभी हानि को प्राप्त नही होती (13/18)। भगवान महावीर की स्तुति मे कहते है, 'आपने दृढचित्त के परिणाम मात्र को जो विश्व के उदय प्रलय और पालन करने वाला है आत्माधीन किया है।' (1/24)

आचार्य विश्व के जड-चेतन पदार्थों के अन्तर्सम्बन्धो की पृष्ठभूमि मे जीव के सुख दुख की रचना होती हुई देखते है उसकी मुक्ति अथवा बधन देखते है। जो कषायो से इन सम्बन्धो को मलिन करने का अपराध करते है वे अज्ञानी नष्ट होते है, जगत मे भाति भाति जड

चेतन पदार्थों की विपरीतता भोगते है । जो अन्तर्सम्बन्धो के पावन तम रूप को ज्ञान का विषय बनाते है वे कृतकृत्य हो जाते है । ऐसे विश्वमय महापुरुषो के चरणो मे पुद्गल अपने स्निग्धतम रूप मे चारो ओर वतन करता है ससारीजन बरबस भक्ति मे नतन कर स्वय को धन्य अनुरूप करते है । जो जन बाह्य से सम्बन्ध विहीन किसी आत्मा की तलाश करते है और सब सम्बन्धो को मात्र ससार रूप बन्धन रूप ही देख कर परआश्रित से रिक्त होते है उन्हे आचाय आख मीचे हाथी की भाति पतित होता हुआ कहते है (13/9) । उनका तो स्पष्ट कहना है कि जिनेन्द्र परमात्मा पर पदार्थों को ज्ञान मे आलम्बन बनाकर ऊपर उठे है । अत जगत के पदार्थों के साथ ज्ञान मे घनावघट्टन करते उनका पुन पुन विश्लेषण करते उन्हे ज्ञान के अगारे के स्थान पर 'तिलगा' बना देने की वे मानव को प्रेरणा करते है ।

आचाय चतन्य/ज्ञान की कणिका जहा भी उदित हुई है उसे सूय की तुलना मे बडी मानते है (23/15) अज्ञानी जन अन्यो की मान्यताओ के प्रति असहिष्णु बन हिंसा एव घृणा का माहौल समाज मे बना देते है । आचाय का कहना है कि चाहे शून्यवाद हो चाहे विज्ञानवाद अथवा अद्व तवाद कोई वाद हो उसे स्याद्वाद से सस्कृत कर हम ग्रहण करे तो वह हमे अमृत ही प्रदान करेगा चाहे वह एकान्त रूप मे अन्यो मे विष की रचना कर रहा है । जो मानव ज्ञानाग्नि मे पवित्र कर जगत के रागादि एव रूपादि समस्त पदार्थों को अपना ज्ञेय बनाने को उद्यत हुआ है वह साम्प्रदायिक अभिनिवेश एव मताग्रह का शिकार आखिर कसे हो सकता है ?

जैनाचार्यों ने चेतन जड रूप जगत के समस्त पदार्थों को प्रसिद्ध वज्ञानिक आइन्सटाईन की भाति चतु आयामी स्वीकार किया है । वह चौडाई लम्बाई और ऊचाई लिये वतमान जितना ही नही है वरन् उसका एक अतीत है और वह भविष्य की ओर गतिशील है । काल के क्रीडा स्थल बने हुए जड चेतन सभी पदाथ स्व-पर प्रत्यय पूवक पुरानी पर्यायों को छोडकर नूतन हुये जा रहे ह । आचार्य हमे नूतनता का स्वागत करने का आह्वान करते है और कहते है कि नूतनता को ग्रहण किये बिना कोई पदाथ काल मे कसे टिक सकता है ? (21/9)

चतु आयामी और परस्पर सम्बन्धो मे वर्तन करते पदार्थ जगत के बीच आचार्य मानव को भूताथ के विचार मे सुस्थिर दृष्टि रख सवत्र समभाव रखते हुए चतन्य के सामान्य विशेषभाव से परिपूर्ण अति स्पष्ट स्व मे निवास कराना चाहते है । (25/17) षट् गुणी हानि वृद्धि करते अगुरुलघु गुण रूप स्व प्रत्यय से हर पदार्थ प्रवाह रूप है स्वय ही स्वय का उद्गम है/स्रोत है । स्व प्रत्यय तो एक ही है अत कोई पदाथ स्व प्रत्यय मात्र से अन्य से निरपेक्ष होकर नाना रूप /विरूप रूप नही हो सकता । पदाथ चाहे जीव हो चाहे अजीव पर प्रत्यय पूर्वकता से ही नाना रूप हो रहे है । एक रस प्रसार से युक्त शुद्ध अहन्त सिद्ध परमात्मा भी जगत को ज्ञान मे प्रकाशित करते हुए निरन्तर नाना रूपता का वदन कर रहे है । यह जीव का स्वभाव है और स्वभाव तर्क का विषय नही होता (14/10) । स्व पर प्रत्यय पूवकता से जीव का यह परिणमन बहुभाग होने' रूप है और कर्ता कर्म आदि कारको को अपने मे गर्भित किये हुए है । तथा मानव को योग एव उपयोग के स्तर पर उसके क्रिया व्यापार का यह आधार बनता है उसके करने मे यह होना' गर्भित होता

है तथा सम्यक् करने द्वारा/भावना द्वारा ही आत्मा की अनन्त शक्तियों के सहज परिणमन प्रवाह का उसे स्पर्श हो पाता है, वह स्व भूमि को प्राप्त कर पाता है। आत्म वैभव का पूर केवल उन्ही के लिये उमड़ता है जिन्हे उसकी तलाश है जिन्हे उसकी प्यास है। जो फल प्राप्ति के अभिलाषी नही है और उस हेतु प्रयत्न नही करते है उनके आत्म गुणों मे कोई स्फुरणा उत्पन्न नहीं होती और कोपल रूप मे वे नहीफूटते फूट भी जायें तो घनावघट्टन के/प्रयत्न के अन्तबाह्य दबाव न पड़ने से वे कलिया फूल नही बनती और मानव को उनकी सुगन्धका लाभ नही मिलता।

आचार्य भांति भांति से द्वितयता के अनेकान्त के दर्शन कराके हमारे भ्रम दूर करने का प्रयत्न करते है। उदाहरणार्थ जिनेन्द्र का प्रयास केवल अपने दुःख दूर करना नही था अपने साथ अन्यो के दुःख दूर करना उन्हे इष्ट था। अन्यो के दुःख दूर करने मे आलम्बन बनने वाले के स्वयं के दुःख तो स्वतः ही दूर हो जायेंगे। पुनः दुःख से भागने से दुःख दूर नही हो जाते वरन् उन्हे जड़ से उखाड़ने हेतु दुःखो का सामना करना होता है उन्हे ओढ़ना होता है, उनके बीच अपनी आनन्दानुभूति को बनाये रखना होता है। आचार्य बड़ी दृढ़ता पूर्वक कहते है कि पर पदार्थ मे किसी की शक्ति हरण करने की सामर्थ्य नही है।' पर प्रत्यय तो अनुभव को माना रूपता मात्र देता है पर वह सुखानुभव के स्थान पर दुःखानुभव बनता है तो इसमे तो स्व-प्रत्यय का ही दोष है उसने अपने से मुंह मोड़कर अनात्म रूप वर्तन आरम्भ कर दिया है। ऐसे मे पर प्रत्यय उसके आत्म रूप को भी कहां से दे देगा? अतः पर प्रत्यय से किसी का झगड़ा नही है सारा झगड़ा वस्तुतः उसका अपने कुत्सित रूप हो रहे स्व से है। अपने मे ग्रहण की हुई मानी हुई सब कुत्सितता को मानव छोड़ दे और जिनेन्द्र स्वरूप अपनी आत्म महिमा को स्वीकार करे तो ऐसा मानव बाह्य सभी रूपादि रागादि आदि पर प्रत्ययो से हर परिस्थिति और प्रसंग के बीच तेजोमय स्व का ही आनन्दानुभूति का ही स्पर्श करता है क्योंकि इसके सिवा अन्य कुछ उसमे है ही नही।

अन्य कुछ आलम्बन के रूप मे मानव अपने स्तर मुताबिक स्वीकार करता है इससे उसकी विभा को आचार्य अन्य की विभा या अविभा नही कहते है। विभामयता यदि है तो स्व की है पर तो मात्र आलम्बन है। इसी प्रकार आचार्य कहते है बोध का प्रतिबोधक नही है। गुरु के आलम्बन से ज्ञान होते भी ज्ञान तो व्यक्ति का स्वयं का ही है और आवरण का क्षयोपशम बढ़ने पर वह बिना गुरु के भी दूर, निकट सूक्ष्म स्थूल आदि को जान लेता है। इस प्रकार द्वितयता के आराधक आचार्य की दृष्टि मे स्व की महिमा का आलम्बन रूप तीर्थ से कोई विरोध नही है और वे जिनेन्द्र के लिये कहते है कि आप तीर्थ से उत्पन्न हुए है एवं तीर्थ आपसे उत्पन्न होता है।

जिनेन्द्र की वाणी मे द्वयात्मक वस्तुवाद' का निरूपण हुआ है और यह आत्मा की भांति सभी जड़ चेतन पदार्थों पर लागू होता है। मानव के कषाय कर्म आदि सब द्वितय रूप हैं। योगो को नष्ट कर मानव चतुर्दश गुणस्थानवर्ती अयोगी परमात्मा होना चाहता है, पर लोक-पूरण समुद्घात की महान योग सामर्थ्य उपलब्ध करने पर ही यह संभव है। हम कर्म-क्लेश नष्ट

करना चाहते है पर यह हम कर्मोदय के घेरे मे रहकर ही कर सकते हैं जब तक अन्तिम गाठ न खुल जाय कम ही हमारी शरण है। शुभ राग आदि मन्द कषाय को मोक्ष मार्ग मे सहायक सभी मानते है। कषाय के तीव्र स्पर्धकों का उदय हो तो आचार्य उन्हें लाघकर स्वय को हल्का रखने को कहते है। प्रत्येक ही पदार्थ इस प्रकार द्वितयरूपहोने से जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा के खजाने भीतर एव बाहर निकट ही प्रकट होवे भी जो जन देखनही पाते उनके अज्ञान पर आचार्य को तरस आता है।

[आचाय ने ग्रन्थ के आरम्भ में आदिनाथ को स्वयभू बनाने वाले छलकते हुए निमल परिणमनशील चतन्य तेज की स्तुति की है। उस तेज को ॐ भूर्भुव आदि मन्त्रो के समीचीन मनन रूप स्वीकार किया है। ग्रन्थ के अन्तिम पद में आचार्य ने अपने सयमयुक्त जीवन का फल ज्ञानाग्नि के जागरण मे चाहा है जो कषाय कीट को जलाकर स्वभाव रूप लक्ष्मियों को अनुभव करा द। निर्मल आत्म तेज का जागरण क्या है और कसे सभव है इसे स्पष्टतया समझाना ही इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन है। (17 वी 18वी पच्चीसी मे स्याद्वाद एव अनेकान्त की चर्चा हुई है क्योंकि इन्हे बिना समझे ग्रन्थ के विषय को भले प्रकार कोई व्यक्ति समझ भी नही सकता।) सक्षप मे तत्व के इस स्फोट को आचार्य ने 'लघुतत्व स्फोट' नाम दिया है। दूसरा नाम 'शक्तिमाणित कोष' है। आचाय शब्दो मे स्वशक्ति के इस जडाव का बार-बार आस्वादन करना चाहते है। छद्मस्थ स्तर पर जिनेन्द्र स्वरूप हमारी आत्मा की शक्तियां कसे कार्य करती है हम कैसे अभी उन्हे पहचाने और अधिकाधिक वे कैसे अनुभव का विषय बने, पदो के भावार्थ मे यही समझने की कोशिश की गई है।पद पद मे गभीर अर्थ को समाये हुए ग्रन्थराज का नाम आचार्य ने लघु तत्व स्फोट' समवत इसलिए दिया है कि महत् तत्व स्फोट तो अर्हन्त परमात्माओ के स्तर पर होता है। जिन्हे वह प्राप्त करना हो उन्हे प्रथम इस लघु स्फोट को आत्म सात् करना ही होगा। माग इसी तरफ होकर है एकान्त की नीरस असारभूत कुगली से होकर नही।

आभार—कहने की आवश्यकता नही कि हमारे बूते से बाहर यह भारी कार्य पूज्य परमेष्ठियो के आशीर्वाद से ही सभव हुआ है और इस हेतु हम उनके चिरऋणी रहेगे। स्थानीय विद्वान श्रद्धय डॉ कमलचन्द सौगानी डॉ शीतल चन्द जैन, डॉ प्रेमचन्द रॉवका तथा दिल्ली निवासी सेवा निवृत प्रिंसीपल डा सुमति चन्द जैन के प्रति उनके सुझाव एव उदारतापूर्ण सहयोग के लिए भी हम आभारी है। श्री दि जन मन्दिर सघीजी की 1979 80 से चल रही शास्त्र सभा की तो हम पुन पुन सविनय वदना करते है जहाँ सदस्य गणो मे परस्पर चिन्तन-मथन से ग्रन्थ राज का किंचित् अर्थ नवनीत प्राप्त करने का सौभाग्य हमे प्राप्त हुआ है। इस उपकार हेतु शास्त्र सभा के सदस्यों का हम पुन पुन साधुवाद करते है।

—ज्ञान चन्द बिल्टीवाला

स्वशक्ति के कुछ अमृत बिन्दु

4/12 स्व तथा पर प्रत्ययों से समस्त वस्तुओं की अनन्त पर्यायों की सन्तति रूप श्री उदित होती है।

4/24 जो बाह्य में प्रमेयों की विशदता प्रकट होती है, वह यह भीतर प्रमाता की विशदता है।

5/7 कोई एक पदार्थ की सत्ता पदार्थ मण्डली का उल्लंघन कर पृथक प्रकट नहीं है।

5/9 बाह्यार्थ का अभाव करने पर अन्तर-अर्थ कहां है तथा बिना अन्तर-अर्थ के बाह्यार्थ नहीं है।

7/4 हे ईश ! अतिवत्सल आप सकल विश्व को छोड़कर बलपूर्वक मेरे पर [अमृत] वर्षा कर रहे है।

8/11 प्रत्येक तीर्थ का ज्ञान कराने वाली आपकी वाणी रूप बूंदों द्वारा नाना मार्ग रचना हुई है। उसे सुनकर समुदाय बोध से शुद्ध आशय वाले किन्हीं को ही उसका अर्थ ग्रहण हुआ है।

8/21 जिनेन्द्र के प्रयास का फल स्वयं की तथा अन्यों की दुःख रचना नष्ट करना था।

9/10 आपका संयम बोध प्रधान है परिग्रहीन का बोध अहेतुवत् (अकाम कारी) है।

9/13 वीर्य दर्शन ज्ञान को तीक्ष्ण करता है दर्शन-ज्ञान की तीक्ष्णता से निराकुलता होती है।

11/2 पूर्व का संचित पाप सुविशुद्ध चैतन्य के उद्गारों से नष्ट हो जाता है।

11/3 यह अत्यन्त तेजयुक्त बोध रूप अग्नि समस्त विश्व को चाहती है। आप मात्रा विशेषज्ञ इसे उचित मात्रा ही देते है।

12/3 आकाश और काल में रहने वाले द्रव्य और पर्यायें आपके ज्ञान की ज्ञानता को नष्ट करने मे समर्थ नहीं है।

12/22 आप पूर्ण कारण है पूर्ण कार्य हैं अनादि-अनन्त है जैसे पहले थे वैसे आगे है।

13/13 रागी विषय का एवं वीतरागी विषयी का स्पर्श करता है। दोनों के एक साथ वेदन में एक के उपद्रव है, एक के नहीं।

अनुक्रमणिका

शुद्धि पत्रक

संस्कृत पद भाग

पृष्ठ/पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ/पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
1/आरभ मे	—	बसन्ततिलका	43/20	व	न
4/9	व	न	47/13	वृत्तमान्	द्युतिमान्
5/आरभ मे	—	वस ततिलया	48/13	विमति	विमाति
5/21	विनिपेधमय	विधि निपधमय	52/18	पदन्यासराशु	पद यासेराणु
9/आरभ मे	—	वस ततिलका	53/6	पुञ्जी	पुञ्जी
15/आरभ मे	—	वशस्थवृत्तम्	53/24	अ(प)	अ(म)
29/आरभ मे	—	अनुष्टप	55/24	हुतोत्फुल्लो	हठोत्फुल्लो
33/15	सदकतयापपि	सदकतयापि	57/26	कालानिलानिला	कालानिला
34/16	(यतो) हतो	हतो	59/24	कुर्वति	कुर्वन्ति
39/2	यदन्त्यनुग्रहात्ते	यदन्त्यनुग्रहात्त	60/7	स्वकमच्छ्व	स्वकर्मच्छ्व
39/5	गुणादिधानशक्तिम्	गुणाद्विधानशक्तिम्	60/18	स्तम्भेऽपि	स्तम्भेऽपि
39/8	मयाभिपेचमुच्च	मयाभिपधमुच्च	62/2	मणितानि	मणितानि
39/12	म	न	63/12	उज्जम्भित	उज्जृम्भित

भावार्थ एव अनुवाद भाग

पृष्ठ/पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ/पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
1/3	समीचन	समीचीन	97/7	आधारित	आचरित
फुटनोट	फलटन प्रकाशन	वाराणसी प्रकाशन	98/20	बांधना	बधना
2/17	सपाश्व	सुपाश्व	98/21	भूत उसकी स्वभाव	उसकी स्वभाव भूत
10/18	वैभव	वभव	111/27	कारक	कारण
28/22	का	के	113/4	दूरी अस्पृष्टता	दूरी/अस्पृष्टता
31/2	आपने	अपने	117/11	बठता ातथ	बैठता तथा
अतिम पक्ति	समग्रहता	समग्रता	120/7	काथ	काय
40/15	स्वय रागादि	स्वय को रागादि	120/10	पूण	पूण
45/27	परीषय-जय को तथा	परीषह-जयतथा	122/23	घट दशन	घट के दशन
51/19	सब्बे	सव्वे	123/7	अन्यायोह	अन्यापोह
54/2	तही	नही	129/12	कसे	कसे
54/23	ही भिन्न	भिन्न ही	143/23	प्रकार सागर	बोध सागर
55/30	अज्ञान	अज्ञान	149/3	आलम्बन रूप	आलम्बन से नानारूप
57/28	किया चक्र	क्रिया चक्र	149/22	उदय को प्राप्त	उदय होने के साथ
63/28	अवरूपता	भावरूपता	152/26	उपपुक्त	उपयुक्त
72/9	मावन	मानव	155/7	न कभी	न
73/1	क्रो	को	155/9	स्व-सिंचन ही	ही स्व-सिंचन
76/20	चतन्य	चत य	159/3	मप	मर्म
76/29	स्वभाव से	स्वभाव मे	159/8	विभो	विभो
80/19	लोक के स्वामी	लोक का स्वामी	159/23	सा द्घात	समुद्घात
	अपने	ससारी अपने	159/29	क	के
80/20	परिचित	अपरिचित	160/30	स्थिति	स्थित
84/4	जा	जो	163/7	ऐसे यह	ऐसे आप यह
87/25	चतुगीते	चतुर्गति	164/16	है यह	है, यह
88/20	स्पश का	स्पर्श का	167/15	नही जीव	नही जीव
92/29	कवल	केवल	167/20	कठिन उत्कृष्ट	कठिन[एव]उत्कृष्ट
93/15 16	द्वितीय	द्वितय	170/30	हाथ मे धरे	आवले की भाँति
96/28	के समग्र	समग्र		आँवले की भाँति	हाथ मे धरे

संस्कृत पद भाग

पृष्ठ/पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ/पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
2/18	नक्पूर्णं	नक्पूण'	27/8	तनुने	तनुते
10/4	च	न	47/1	निरन्तरोत्सपशु	निरन्तरोत्सपशु
14/14	असो	असौ	47/3	सामान्यविद	सामान्यविश
24/24	स्फुट'	स्फुट	47/13	च	न
15/24	स	सम	48/7	सुपेति	सुपति
21/19	तमनो	तमो	48/12	प्रलम्पि'	प्रलम्पित'

अनुवाद एवं भावार्थ भाग

पृष्ठ/पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ/पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
3/14	स्पष्ट'	स्पष्टत'	18/16	मन उन्हें ज्ञानाग्नि से पवित्र ग्रहण करते हैं ॥१ ॥	
5/1	[और इस क्रम से]	*	22/14	यहाँ	यह
7/1	आत्मा की महिमा में न नित्य	*	39/21	स्वोपार्जित उदय	*
7/2	न निरन्तर रह	न रह	62/20	ज्ञानो योग की साकरता	*
7/5	रहा है ॥५॥		68/5	है ही ॥१०॥	*
18/15-16	पदार्थों को विषय-कषाय से दूषित कर ग्रहण करते हैं	*			

* 5/1 प्रविष्ट होकर भी [इस क्रम से]

7/1 आत्मा की नित्य महिमा में न निरन्तर

* 7/5 रहा है। जिनेन्द्र के मत में आत्मा का ही निरन्तर ध्यान-चिंतन करने पर बल नहीं है, न ही अन्य पदार्थों को ध्यान चिंतन का विषय बनाने का निषेध है बल केवल चित्त की प्रशान्त आनन्दमयता की निरन्तरता पर है ॥५॥

* 18/15-16 पदार्थों के ग्रहण को विषय कषाय से दूषित करते है,

* 18/16 मन ऐसा नहीं करते हैं। दर्शनोपयोग में तो पदार्थ पवित्र रूप में ही ग्रहण होता है ॥१ ॥

* 39/21 स्वोपार्जित कर्मों के उदय

* 62/20 ज्ञानोपयोग की साकारता

* 68/5 है ही। अथवा उपयोग के स्तर पर छद्मस्थ मानव के परिचय में आनेवाला आत्मा का प्रत्येक परिणाम अब्धि की गहराईयों से उभर कर आता है, जिसका पार गणधर तक नहीं पा सकते ॥१०॥

पृष्ठ/पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ/पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
69/3 19-23	प्रागभाव	प्रागभाव	144 24	महिमा में	महिमा स
70/9	नित्तया	नित्यता	159/10	कीडा मूर्ति	क्रीडा मूर्ति
71/2	शुद्धशुद्ध	शुद्धाशुद्ध	153/9	द्वयात्मकता प्रदान	सामथ्य प्रदान
72/6	सज्जित आपमे	सज्जित, आपमे	159/18	अवधि ज्ञानी	*
187/9	24 24वें पद का अनुवाद है	23	161/18	है ।।१०।।	*
120/13	लगता है,	लगता है।	171/10	योगों की प्रवत्ति करते हुए	*
121/12	जो रहे है तो	भी रहे हैं तो	178/24	कर सकते है।	कर सकते हैं ?

* 187/9 पद 24 इस प्रकार इस जगत में जिसक ऊपर भार निहित है ऐसे स्याद्वाद क रहते हुए एक वस्तु को जिसका स्वभाव स्पष्ट ही सत और असत से तन्मय है, विधि और निषध दोनों ही जिसक अभिधय है, एक शब्द भी विवक्षित होता हुआ कहने किसे समथ है।

159/18 अवधि (विभग) ज्ञानी

* 161/18 है। तुच्छता उत्पन्न न हो इस हेतु मनव को वत य क विकास रूप हास्य स अपनी तेजस्विता बनाये रखनी होगी/बढाते रहनी होगी ।।१०।।

171/10 योगो को निश्चल रखते हुए

आचार्य अमृतचन्द्र रचित

लघु-तत्त्व-स्फोट

(शक्तिमणितकोश)

ॐ नमः परमात्मने । नमोऽनेकान्ताय

स्वायम्भुवं महः इहोच्छलदच्छमीडे
येनादिदेव भगवानभवत् स्वयम्भूः ।
ॐ भूर्भुवःप्रभृतिसन्मननैकरूप-
मात्मप्रमातृ परमातृ न मातृ मातृ ॥१॥

भातासि मातृमसि मेयमसीशमासि
मानस्य चासि फलमित्यमितासि सत्यम् ।
नास्त्यन्य (नास्यन) किञ्चिदुत नासि तथापि
किञ्चिदसीव चिच्चकचकायितचुम्बुकत्वैः ॥२॥

एको न भासयति देव न भासतेऽस्मि-
न्नन्यस्तु भासयति किञ्चन भासते च ।
तौ द्वौ तु भासयसि शम्भव भाससे च
विश्वं च भासयसि भासि न भासको न ॥३॥

यद्भाति भाति तदिहाथ च भात्यभाति
नाभाति भाति स च भाति न यो नभाति ।
भा भाति भात्यपि च भाति न भात्यभाति
सा चाभिनन्दन विभान्त्यभिनन्दति त्वाम् ॥४॥

लोकप्रकाशनपरः सवितुर्यथा यो
वस्तुप्रमित्यभिमुखः सहजप्रकाशः ।
सोऽयं तमोल्लसति कारकचक्रचर्चा-
चित्रोऽप्यचत्वुररसप्रसरः सुबुद्ध ॥५॥

एक प्रकाशकमुशन्त्यपर प्रकाश्य–
मन्यत्प्रकाशकमपीश तथा प्रकाश्यम ।
त्व न प्रकाशक इहासि न च प्रकाश्य
पदमप्रभ ! स्वयमसि प्रकट प्रकाश ॥६॥

अन्योन्यमापिबति वाचकवाच्यसघस्
सत्प्रत्ययस्तदुभय पिबति प्रसह्य ।
सत्प्रत्ययस्तदुभयेन न पीयते चेत्
पीत समग्रममृत भगवान् सुपार्श्व ॥७॥

उन्मज्जतीति परित विनिमज्जतीति
मग्न प्रसह्य पुनरुत्प्लवते तथापि ।
अ र्तनिमग्न इति भाति न भाति भाति
च द्रप्रभस्य विशदश्चितिचन्द्रिकौघ ॥८॥

यस्मिन्नवस्थितिमुपत्यनवस्थित तत
तत्स्थ स्वय सुविधिरप्यनवस्थ एव ।
देवोऽनवस्थितिमितोऽपि स एव नान्य
सोऽप्यन्य एवमतथापि स एव नान्य ॥९॥

शून्योऽपि निभरभृतोऽसि भृतोऽपि चान्य
शून्योऽन्यशून्यविभवोऽप्यसि नकपूर्णए ।
त्व नकपूर्णमहिमाऽपि सदक एव
क शीतलेति चरित तव मातुमीष्टे ॥१०॥

नित्योऽपि नाशमुपयासि न यासि नाश
नष्टोऽपि सम्भवमुपषि पुन प्रसह्य ।
जातोऽप्यजात इति तकयतां विभासि
श्रेय प्रभोऽद्भुतनिधान किमेतदीदृक ॥११॥

सन्नप्यस स्फुटमसन्नपि सश्च भासि
सन्मांश्च सत्त्वसमवायमितो न भासि ।
सत्त्व स्वयविभव भासि न चासि सत्त्व
सन्मात्रवस्त्वसि गुणोऽसि न वासुपूज्य ॥१२॥

भूतोऽधुना भवसि नैव न वर्तमानो
भूयो भविष्यसि तथापि भविष्यसि त्वम् ।
यो वा भविष्यसि स वर्तसि वर्तमानो
यो वर्तसे विलसदेव स एव भूतः ॥१३॥

एकः प्रतीतविषमापरिमेयमेय-
वैचित्र्यचित्रमनुभूयत एव देव ।
दृष्ट्वा प्रसाधयविबं तवनन्तशान्त-
माद्य तमेव सहयामि सहन्महस्ते ॥१४॥

सर्वात्मकोऽसि न च जातु परात्मकोऽसि
स्वात्मात्मकोऽसि न तथास्यपरः स्व आत्मा ।
आत्मा त्वमस्य न च धर्मनिरात्मता ते
न च्छिन्नधर्मकप्रसरक्षमतास्ति साऽपि ॥१५॥

अन्योन्यबद्धरसिकाद्भुत सत्त्वतन्तु-
स्यूतस्फुरत्किरणकोरकनिर्भरोऽसि ।
एकप्रभाभरसुसंभृत शान्त शान्ते
चित्सत्त्वमात्रमिति भास्यथ च स्वचित्ते ॥१६॥

यास्ति क्षणक्षयमुपाधिवशेन भेद-
मापद्य चित्रमपि चारचयत्यचित्र ।
कुन्थो ! स्फुटन्ति घनसंघटितानि [ता हि] नित्य
विज्ञानधातुपरमाणव एव तव ॥१७॥

एकोऽप्यनेक इति भासि न चास्यनेक
एकोऽप्यनेकसमुदायमयः सदैव ।
नानेकसम्भ्रममयोऽस्यसि चैक एक-
स्त्वं चिच्चमत्कृतिमयः परमेश्वरार ॥१८॥

निर्वारितोऽपि कलसे घटितोऽपि वार
प्राप्तोऽपि वारणमितोऽप्यसि निर्विभागः ।
भग्नोऽविभक्तोऽपि परिपूर्तिमुपैषि भागै-
र्निर्भाग एव च चिता प्रतिभासि मल्ले ॥१९॥

उत्पादितोऽपि मुनिसुव्रत रोपितत्त्व-
मारोपितोऽप्यसि समुदघत एव नव ।
नित्योल्लसन्निरवधिस्थिरबोधपाद-
व्यनद्धकृत्स्नभुवनोऽनिशमच्युतोऽसि ॥२०॥

विष्वक्ततोऽपि न ततोऽस्यततोऽपि नित्य
मन्त:कृतत्रिभुवनोऽसि तदग्रगोऽसि ।
लोकैकदेशनिभृतोऽपि नमे त्रिलोकी
माप्लावयस्यमलबोधसुधारसेन ॥२१॥

बद्धोऽपि मुक्त इति भासि च चासि मुक्तो
बद्धोऽसि बद्धमहिमापि सदासि मुक्त ।
नो बद्धमुक्तपरतोऽस्यसि मोक्ष एव
मोक्षोऽपि नासि चिदसि त्वमरिष्टनेमे ॥२२॥

भ्रान्तोऽप्यविभ्रममयोऽसि सदाभ्रमोऽपि
साक्षाद भ्रमोऽसि यदि वाभ्रम एव नासि ।
विश्वासि साप्यसि न पार्श्व जडोऽसि नव
चिद्भारभास्वररसातिशयोऽसि कश्चित ॥२३॥

आत्मीकृताचलितचित्परिणाममात्र-
विश्वोदयप्रलयपालनकर्तृ कर्तृ ।
नो कर्तृ बोद्धृ न च बोदयि बोधमात्र
तद्वधमान तव धाम किमद्भुत न ॥२४॥

ये भावयन्त्यविकलार्थवती जिनाना
नामावलीममृतचन्द्रचिदेकपीताम ।
विश्व पिबन्ति सकल किल लीलयव
पीयन्त एव न कदाचन ते परेण ॥२५॥

(२)

तेज स्पृशामि तव तद दशिबोधमात्र
मन्तबहिर्ज्वलदनाकुलमप्रमेयम ।
चैतन्यचूर्णभरभावितवश्वरूप्य—
मप्यत्यजत सहजमूर्जितमेकरूपम ।।१।।

ये निर्विकल्पसविकल्पमिद महस्ते
सम्भावयन्ति विशद दशिबोधमात्रम ।
विश्व स्पृशन्त इव ते पुरुष पुराण
विश्वाद्विभक्तमुदित जिन निर्विशन्ति ।।२।।

प्रच्छादयन्ति यदनेकविकल्पशकु—
व्रातान्तरङ्गजगतीजनित रजोभि ।
एतावतव पशवो न विभो भवन्त—
मालोकयन्ति निकटप्रकट निधानम् ।।३।।

यन्नास्तमेति बहिरथतमस्यगाधे
तत्रव नूनमयमेवमुदीयते स्वम् ।
व्योम्नीव नीलिमतले सवितु प्रकाश
प्रच्छन्न एव परित प्रकटश्चकास्ति ।।४।।

नावस्थिति जिन ददासि न चानवस्था-
मुत्थापयस्यनिशमात्ममहिम्नि नित्यम ।
येनायमद्भुतचिदुद्गमचुञ्चुरुच्चै—
रेकोऽपि ते विधिनिषेधमय स्वभाव ।।५।।

यस्मादिद विनिषेधमय चकास्ति
निर्माणमेव सहजप्रविजम्भित ते ।
तस्मात्सदा सदसदादिविकल्पजाल
त्वय्युल्लिलासमिदमुत्प्लवते न चित्रम् ।।६।।

भावो भवस्यतिभृत' सहजेन धाम्ना
शू'य परस्य विभवेन भवस्यभाव ।
यातोऽप्यभावमयता प्रतिभासि भावो
भावोऽपि देव ! बहिरर्थतयास्यभाव ॥७॥

तिर्यग्विभक्तवपुषो भवतो य एव
स्वामिन्नमी सहभुव प्रतिभान्ति भावा' ।
तरेव कालकलनेव कृतोदध्वखण्ड—
रेको भवान् क्रमविभूत्यनुभूतिमेति ॥८॥

एव क्रमाक्रमविवर्त्तिविवर्तगुप्त
चि'मात्रमेव तव तत्त्वमतकयन्त ।
एतज्जगत्युभयतोऽतिरसप्रसारा—
न्निस्सारमद्य हृदय जिन दीयतीव ॥९॥

आलोक्यसे जिन यदा त्वमिहाद्भुत श्री
सद्य प्रणश्यति तदा सकल सपत्न ।
वीर्यं विशीर्यति पुनस्त्वयि दृष्टनष्टे
नात्मा चकास्ति विलसत्यहित सपत्न ॥१०॥

नित्योदिते निजमहिम्नि निमग्नविश्वे
विश्वातिशायिमहसि प्रकटप्रतापे ।
सम्भाव्यते त्वयि न सशय एव देव
ददात् पशोर्यदि पर चिदुपप्लव स्यात ॥११॥

विश्वावलेहिभिरनाकुलचिह्नि'स
प्रत्यक्षमेव लिखितो न विलोक्यसे यत ।
बाह्यार्थसक्तमनस स्वपतस्त्वयीश
नून पशोरयमनध्यवसाय एव ॥१२॥

रोमन्थमन्थरमुखो ननु गौरिवार्थां
नेककमेष जिन चवति किं वराक ।
त्वामेककालतुलितातुलविश्वसार
सुस्वकशक्तिमचल विचिनोति किन्न ॥१३॥

स्वस्मिन्निरुद्धमहिम्ना भगवस्त्वयाय
गण्डूष एव विहित' किल बोधसिन्धु' ।
यस्योमयो निजभरेण निपीतविश्वा
वैबोध्दवसन्ति' हृत्कुडमलिताऽस्फुरन्त्य' ।।१४।।

स्वद्भवककणवीक्षण(विस्मयोत्थ)विह्वयोत्थ
सौस्थित्यमन्थरदृश' किमुदासतेऽमी ।
तावत्स्वरिमकरपत्रमिव स्वमूर्ध्नि
व्यापारयन्तु सकलस्त्वमुपैषि यावत ।।१५।।

ये साधयन्ति भगवस्तव सिद्धरूप
तीक्ष्णस्तपोभिरभितस्त इमे रमन्ताम ।
स्याधत्स कोऽपि जिन साधयतीह काय
काय हि साधनविधिप्रतिबद्धमेव ।।१६।।

विश्रान्ततन्त्व इमे स्वरसप्रवृत्ता
द्रव्यान्तरस्य यदि सघटनाध्यवसन्ते ।
मध्य व पुष्कलमलाकुलकश्मलेय
देवाशिर्षेव विघटेत कषायकन्या ।।१७।।

अज्ञानमारुतरयाकुलविप्रकीर्णा
विज्ञानपुञ्जरकणा विचरन्त एते ।
शश्यन्त एव सपदि स्वपदे विधातु
सपश्यता तव विभो विभव महिम्न ।।१८।।

बोधातिरिक्तमितरत् फलमाप्तुकामा
कस्माद् वहन्ति पशवो विषमाभिलाषम् ।
प्रायेण विश्वविषयान्तभितुम तास
कि बोधमेव विनियम्य न धारयन्ति ।।१९।।

यरेव देव पशवोऽसुभिरस्तबोधा
विष्वककषायकणकर्तु रता वहन्ते ।
निरवाणबोधकुशलस्य महार्णवोऽमृत
तैरेव ते शमसुधारसशीकरौघ' ।।२०।।

ज्ञातृत्वसुस्थितदशि प्रसभाभिभूत
कर्तृत्वशान्तमहसि प्रकटप्रतापे ।
सविद्विशेषविषमेऽपि कषायजन्मा
कृत्स्नोऽपि नास्ति भवतीश विकारभारः ॥२१॥

सप्रत्ययसङ्कुचितपुष्कलशक्तिचक्र-
प्रौढप्रकाशरभसार्पितसुप्रभातम् ।
सम्भाव्यते सहजनिर्मलचिद्विलास
नीराजयन्निव महस्तव विश्वमेतत् ॥२२॥

चिद्भारभरवमहोभरनिर्भराभि
शुम्भत्स्वभावरसवीचिभिरुद्धराभिः ।
उन्मीलितप्रसभमीलितकातराक्षा
प्रत्यक्षमेव हि महस्तव तर्कयाम ॥२३॥

विश्वैकभोक्तरि विभौ भगवत्यनन्ते
नित्योदितैकमहिमन्युदिते त्वयीति ।
एकैकमर्थमवलम्ब्य किलोपभोग्य
मद्याप्युपप्लवधिय कथमुत्प्लवन्ते ॥२४॥

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥२५॥

(३)

भावावतारसनिर्भरभावितस्य
योऽभूत् सदाविरतमुत्कलिकाविकास ।
तस्य प्रभोऽद्भुतविभूतिपिपासितानाम्-
मस्माकमेककलयापि कुरु प्रसादम् ॥१॥

दृग्बोधमात्रमहिमन्यपहाय मोह-
व्यूह प्रसह्य समये भवन भवस्त्वम् ।
सामायिक स्वयमभूभगवन्समग्र-
सावद्ययोगपरिहारवत समन्तात् ॥२॥

अत्यन्तमेतमितरेतरसव्यपेक्षं
त्व द्रव्यभावमहिमानमबाधमान ।
स्वच्छन्दभावगतसयमवभवोऽपि
स्व द्रव्यसयमपथे प्रथम व्यथुक्था ॥३॥

विश्रान्तरागरुषितस्य तपोऽनुभावा-
दन्तर्बहि समतया तव भावितस्य ।
आसीद् बहिर्द्वयमिद सदृश प्रमेय-
मन्तद्वयो परिचर सदृश प्रमाता ॥४॥

सोढोद्धयस्खलितबुद्धिरलब्धभूमि
पश्यन् जनो यदिह नित्यबहिर्मुखोऽयम ।
शुद्धोपयोगदृढभूमिमित समन्ता-
दन्तर्मुखस्त्वमभव कलयस्तथैव ॥५॥

शुद्धोपयोगरसनिर्भरबद्धलक्ष्य
साक्षाद् भवन्नपि विचित्रतपोऽवगूढ ।
बिभ्रत् क्षयोपशमजाश्चरणस्य शक्ती
स्वाबान्तर स्वसगम प्रगलत्कषाय ॥६॥

वेद्यस्य विश्वगुदयावलिका स्खलन्ती–
मत्वोल्लसन् द्विगुणिताद्भुतबोधवीर्य ।
गाढं परीषहनिपातमनेकवारं
प्राप्तोऽपि मोहमगमो न न कातरोऽन्त ॥७॥

अश्नन् भवाब्धिजनिकाचितकर्मपाक
मेकोऽपि वयवलवद्धित (व हित) तु गचित्त ।
आसीन्न काहल इहास्खलितोपयोग–
गाढग्रहादगणयन् गुरुदुःखभारम् ॥८॥

उद्दामसंयमभरोद्वहनेऽप्यखिन्न
सन्नह्य दुर्जयकषायजयायमेक ।
बोधस्तु (बोधास्त्र) लक्ष्यकरणाय सदैव जाग्रद
देवश्रुतस्य विषय सकल व्यचषी ॥९॥

यद्द्रव्यपर्ययगतं श्रुतबोधशक्त्या–
तीक्ष्णोपयोगमयमूर्तिरसकर्मैस्त्वम् ।
आक्रम्यतावदपवादभराधिरूढ–
शुद्धैकबोधसुभग स्वयमन्वभू स्वम ॥१०॥

तीक्ष्णैस्तपोभिरभितस्तव देव नित्य
दूरान्तरं रचयत पुरुषप्रकृत्यो ।
प्राप्त क्रमात् कुशलिन परमप्रकर्ष
ज्ञानक्रियाव्यतिकरेण विवेकपाक ॥११॥

श्रेणीप्रवेशसमये त्वमथाप्रवृत्त
कुर्वन् मनाक् करणमिष्टविशिष्टशुद्धि ।
आरूढ एव दृढवीर्यचपेटितानि
निर्लोठयन् प्रबलमोहबलानि विष्वक ॥१२॥

कुर्वन्नपूर्वकरणं परिणामशुद्धया
पूर्वादनन्तगुणया परिवर्तमान ।
उत्तेजयन्नविरतं निजवीर्यसार
प्राप्तोऽसि देव परम क्षपणोपयोगम ॥१३॥

प्राप्यानिवृत्तिकरणं करणानुभावा-
न्निर्मूलयन् झगिति बादरकर्मकिट्टम् ।
अन्तर्विशुद्धिविकसत्सहजात्मभावो
जातः क्वचित् क्वचिदपि प्रकटप्रकाश ॥१४॥

स्व सूक्ष्मकिट्टहठघट्टनयाऽवशिष्ट-
लोभाणुककरणचिपकणमुत्कयस्त्वम ।
आलम्ब्य किञ्चिदपि सूक्ष्मकषायभाव
जातः क्षणात क्षपितकृत्स्नकषायबन्ध ॥१५॥

उल्लंघ्य मांसलमशेषकषायकिट्ट-
मालम्ब्य निर्भरमनन्तगुणा विशुद्धीः ।
जातोऽस्यसंख्यशुभसंयमलब्धिधाम-
सोपानपंक्तिशिखरकशिखामणिस्त्वम ॥१६॥

शब्दार्थसंक्रमवितर्कमनेकधाव-
स्पृष्ट्वा तवास्थिततमनास्त्वमसंक्रमोऽभू ।
एकाग्रसंगमनस्तव तत्र चित्त-
ग्रन्थौ स्फुटत्युदितमेतदनन्ततेज ॥१७॥

साक्षादसंख्यगुणनिर्जरणप्रजस्त्व-
मन्ते भवन् क्षपितसहतघातिकर्मा ।
उन्मीलयन्नखिलमात्मकलाकलाप-
मासीरनन्तगुणशुद्धिविशुध्दतत्त्व ॥१८॥

एतत्तत प्रभृति शान्तमनन्ततेज
उत्तेजित सहजवीर्यगुणोदयेन ।
यस्यान्तरुन्मिषदनन्तमनन्तरूप-
सकोणपूर्णमहिम प्रतिभासि विश्वम ॥१९॥

योगान् जिघांसुरपि योगफल विपक्ष
शेषस्य कर्मरजस प्रसभ क्षयाय ।
आस्फटयोन्नतिभरेण निजप्रदेशों-
स्त्व लोकपूरमकरो क्रमसंभ्रमाण ॥२०॥

पश्चादशेषगुणशीलभरोपपन्न
शैलेशितां त्वमधिगम्य निरुद्धयोग ।
स्तोक विवर्त्य परिवर्त्य भगित्यनादि-
ससारपर्ययमभुञ्जिन्न सादिसिध्द ॥२१॥

सम्प्रत्यनन्तसुखदर्शनबोधवीर्य-
सभारनिर्भरभृतामृतसारमूर्ति ।
अत्यन्तमायततम गमयन्नुदर्क-
मेको भवान् विजयतेऽस्खलितप्रताप ॥२२॥

कालत्रयोपचितविश्वरसातिपान-
सौहित्यनित्यमुदितादृभुतबोधदृष्टि ।
उत्तेजिताचलितवीर्यविशालशक्ति
शश्वद भवाननुपम सुखमेव भ मक्ते ॥२३॥

सकामसीव लिखसीव विकर्षसीव
(सरक्षसीव) पिबसीव बलेन विश्वम ।
उद्दामवीर्यबलगर्वितदृग्विकाश-
लीलायितैर्विशि विशि स्फुटसीव देव ॥२४॥

देव स्फट स्वयमिम मम चित्तकोश-
प्रस्फोटय स्फटय विश्वमशेषमेव ।
एष प्रभो स (?) प्रसभजृम्भितचिद्विकाश
ह्रासमवामि किल सवमयोऽहमेव ॥२५॥

(४)

वंशस्थवृत्तम्

सदोदितानन्तविभूतितेजसे स्वरूपगुप्तात्ममहिम्नि दीप्यते ।
विशुद्धदृग्बोधमयैकचिद्भृते नमोऽस्तु तुभ्यं जिन विश्वभासिने ॥१॥

अनादिनष्टं तव धाम य(म)द्बहिस्तदद्य त्वयि सम्प्रसीदति ।
अनेन नृत्यत्यहमेष हृद्गतश्चिदङ्गहारैः स्फुटयन् महारसम् ॥२॥

इदं तवोदेति दुरासदं महः प्रकाशयद्विश्वविसारि वैभवम् ।
उदच्यमानं सरसीकृतास्खलत्स्वभावभावैर्भिन्नतत्त्ववेदिभिः ॥३॥

इमाः स्वतत्त्वप्रतिबद्धसंहता समुल्लसन्त्यभिषति शक्तयः स्फुटाः ।
स्वयं त्वयानन्त्यमुपेत्य चारिता न कस्य विश्वेश दिशन्ति विस्मयम् ॥४॥

स्ववैभवस्य ह्यनभिन्नतेजसो य एव नु स प्रतिभाससे परो ।
स एव विज्ञानघनस्य कस्यचित् प्रकाशमेकोऽपि वहत्यनन्तताम् ॥५॥

वहन्त्यनन्तत्वममी तवान्वया अमी अनन्ता व्यतिरेककेलयः ।
त्वमेकचित्पूरचमत्कृतः स्फुरंस्तथापि देवैक इवावभाससे ॥६॥

असीमसंवर्द्धितबोधवल्लरीनिमग्नविश्वस्य तवोल्लसन्त्यमी ।
प्रकाममन्तःसु सुक्लृप्तपल्लवाः स्वभावभावोच्छलनैककेलयः ॥७॥

अमन्दबोधानिलकेलिदोलितं समूलमुन्मूलयतोऽखिलं जगत् ।
तवैवमूर्धस्खलदात्मखेलितं निकाममान्दोलयतीव मे मनः ॥८॥

अगाधधीरोद्धतदुर्द्धरं भरात्तरङ्गयन् वल्गसि बोधसागरम् ।
विवेककल्लोलमहाप्लवप्लुतं त्रिकालमालार्पितमीक्ष्यते जगत् ॥९॥

विशिष्टवस्तुत्वविविक्तसम्पदो मिथः स्खलन्तोऽपि परात्मसीमनि ।
अमी पदार्थाः प्रविशन्ति धाम ते चिदग्निनीराजनपावनीकृताः ॥१०॥

परस्परं सवलितेन दीप्यता समुल्लसन् मूर्तिभरेण भूयसा ।
स्वमेकधर्मावहिताचलेक्षणैरनेकधर्मा कथमीक्ष्यसेऽक्षरः ॥११॥

अनन्तभावावलिका स्वतोऽन्यतः समस्तवस्तुष्वियमभ्युदीयते ।
जडात्मनस्तत्र न जातु वेदना भवान् पुनस्ता विचिनोति कात्स्न्र्यतः ॥१२॥

न ते विभक्तिं विदधाति भूयसी मिथो विभक्ताऽप्यवावसहृति ।
सुसंहितद्रव्यमहिम्नि पुष्कले महोर्मिमालेव निलीयतेऽम्बुधौ ॥१३॥

विभो विधानप्रतिषेधनिर्मिता स्वभावसीमानममूमलङ्घयन ।
त्वमेवमेकोऽप्यमशुक्लशुक्लवन्न जात्वपि द्व्यात्मकतामपोहसि ॥१४॥

भवत्सु भावेषु विभाव्यतेऽस्तिता तथाऽभवत्सु प्रतिभाति नास्तिता ।
त्वमस्तिनास्तित्वसमुच्चयेन न प्रकाशमानो न तनोषि विस्मयम ॥१५॥

उपैषि भाव त्वमिहात्मना भवन्नभावतां यासि परात्मनाऽभवन् ।
अभावभावोपचितोऽयमस्ति ते स्वभाव एव प्रतिपत्तिदारुण ॥१६॥

सदक एवायमनेक एव वा त्वमप्यगच्छन्नवधारणामिति ।
अबाधित धारयसि स्वमञ्जसा विचारणार्हो न हि वस्तुवस्तय ॥१७॥

त्वमेकनित्यत्वनिखातचेतसा क्षणक्षयक्षोभितचक्षुषापि च ।
न वीक्ष्यसे सकलितक्रमाक्रमप्रवृत्तभावोभयभारिवैभव ॥१८॥

अपेलन्न केवलबोधसम्पदा सदोदितज्योतिरजय्यविक्रम ।
असौ स्वतत्वप्रतिपत्त्यवस्थितस्त्वमेकसाक्षी क्षणभङ्गसङ्गिनाम ॥१९॥

प्रकाशयन्नप्यतिकायिधामभिजगत समग्र निजविश्वचलङ्कृत ।
विविच्यमान प्रतिभासते भवान प्रभो परस्पर्शपराङमुख सदा ॥२०॥

परात्परावृत्तचिदात्मनोऽपि ते स्पृशन्ति भावा महिमानमद्भुतम ।
न तावता वुष्यति तावकी चितियतश्चितिर्या चितिरेव सा सदा ॥२१॥

अमी वहन्तो बहिरथरूपता वहन्ति भावास्त्वयि बोधरूपताम् ।
अनन्तविज्ञानघनस्ततो भवान्न मुह्यति द्वेष्टि न रज्यते च न ॥२२॥

यदेव बाह्यार्थघनावघट्टन तवेदमुत्तेजनमीश तेजस ।
तदेव नि पीडननिभरस्फुटन्निजकचित्कुडमलहासशालिन ॥२३॥

प्रमेयवशाद्युदेति यद्वद्धि प्रमातृवशादमिद तदन्तरे ।
तथापि बाह्यार्थरतन दृश्यते स्फुट प्रकाशो जिनवेव तावक ॥२४॥

तथा सदोऽन्ते जित(जिन)वीर्यसम्पदा प्रपञ्चयन् बभवमस्मि तादृकम ।
यथा विचित्रा परिकर्मकौशलात् प्रपद्यसे स्वावपरम्परा स्वयम ॥२५॥

(५)

न वर्धसे यासि च सर्वतुङ्गतामसीमनिम्नोऽसि विभोऽनमन्नपि ।
अवस्थितोऽप्यात्ममहोभिरद्भुतैः समन्तविस्तारततोऽवभाससे ॥१॥

अनाद्यनन्तक्रमचुम्बिवैभवप्रभावसह्वासितकालविस्तरः ।
अथ निजप्रत्ययगरिम्णि पुष्कले सुनिश्चलो भासि सनातनोदयः ॥२॥

इह तव प्रत्ययमात्रसत्तया समन्ततः स्यूतमपास्तविक्रियम् ।
अनादिमध्यान्तविभक्तवैभव समग्रमेव भजते चिदच्छताम् ॥३॥

भवन्तमध्यात्ममहिम्नि कुर्वती क्रियाफलसत्ता भवतो गरीयसी ।
तथापि सास्ति विधि तज्जतोऽह ते यतोऽस्ति बोधाविषयो न किञ्चन ॥४॥

समग्रसत्त्वानुगमात्प्रथीयसा तव प्रसिद्धाऽप्यभिधानसत्तया ।
स्वबोधमात्रस्थितया विजृम्भते नभस्तलप्रस्फुरितैकतारकः ॥५॥

स्थितस्य विश्वं निजवस्तुगौरवाद्विभो भवन्मात्रतया प्रवृत्तया ।
न धातुचित् प्रत्ययसत्तया परः करम्बिते भाति तथापि चिन्मयः ॥६॥

न वाच्यसत्ता पृथगर्थमण्डलीं विलङ्घ्य विस्फूर्जति कापि केवला ।
भवान् स्वयं सत्त्वविसर्पमालिकां समग्र साक्षात्कुरुते चिदात्मना ॥७॥

न शब्दसत्ता सह सर्ववाचकैर्विलङ्घयेत् पुद्गलतां कदाचन ।
तथापि तद्वाचकशक्तिरञ्जसा विवेककोणे तव वेद वस्यति ॥८॥

कुतोऽन्तरर्थो बहिरर्थनिह्नवे विनान्तरर्थाद्बहिरर्थ एव न ।
प्रमेयशून्यस्य न हि प्रमाणता प्रमाणशून्यस्य न हि प्रमेयता ॥९॥

न मानमेयस्थितिरात्मचुम्बिनी असह्य बाह्यार्थनिबन्धनक्षमा ।
भवन्ति बोधाकृतयः परिस्फुटं विनैव बाधा बहिरर्थमञ्जसा ॥१०॥

विनोपयोगस्फुरितं सुखादिभिः स्ववस्तुनिःसीम्न गुरूर्विसाधितः ।
त्वमेकतामेषि समग्रधावक यथा विना बाधकवाध्यभावतः ॥११॥

क्रमापतद्भूरिविभूतिभारिणि स्वभाव एव स्फुरतस्तवानिशम् ।
स समग्र सहसाविकासे विवर्तमात्र परितः प्रकाशते ॥१२॥

क्रमाक्रमाक्रान्तविशेषनिह्नवादनशमेकं सहज सनातनम ।
सदैव सन्मात्रमिद निरङ्कुश सम ततस्त्व स्फुटमीश पश्यसि ।।१३।।

प्रदेशभेदक्षणभेदखण्डित समग्रम तश्च बहिश्च पश्यत ।
समन्तत केवलमुच्छलन्त्यमो अमूर्तमूर्ता क्षणिकास्तवाणव ।।१४।।

सतो निरशात् क्रमशोऽशकल्पनाद्विपश्चिमांशावधिबद्धविस्तरा ।
यथोत्तर सौक्ष्म्यमुपागता सदा स्फुरन्त्यनन्तास्तव तत्त्वभक्तय ।।१५।।

अखण्डसत्ताप्रभृतीनि कार्त्स्न्यतो बहून्यपि द्रव्यविखण्डितानि ते ।
विशन्ति तान्येव रतानि तद्विना प्रदेशशून्यानि पृथक् चकासति ।।१६।।

कृतावतारानितरेतर सदा सतश्च सत्ता च चकाशत समम ।
विभिन्नवतस्ते परित सनातन विभाति सामान्यविशेषसौहृदम् ।।१७।।

मुहुर्मिथ कारणकार्यभावतो विचित्ररूप परिणाममिभ्रत ।
समग्रभावास्तव देव पश्यतो व्रजन्त्यन ता पुनरप्यनन्तताम ।।१८।।

अन तशो द्रव्यमिहार्थपर्ययैर्विदारित व्यञ्जनपर्ययैरपि ।
स्वरूपसत्ताभरगाढयन्त्रित सम समग्र स्फुटतामुपति ते ।।१९।।

व्यपोहितु द्रव्यमल न पर्यया न पर्ययान्द्रव्यमपि व्यपोहते ।
त्यजेद् भिदां स्क धगतो न पुद्गलो न सत्पृथग्द्रव्यगमेकता त्यजेत ।।२०।।

अभेदभेदप्रतिपत्तिदुर्गमे महत्यगाधादभुततत्त्ववर्त्मनि ।
समग्रसीमास्खलनादनाकुलास्तवव विष्वग विचरन्ति दृष्टय ।।२१।।

अभिन्नभिन्नस्थितमर्थमण्डल समक्षमालोकयत सदाऽखिलम ।
स्फुरन्स्तवात्मायमभिन्नसन्मयोऽप्यन तपर्यायविभिन्नवभव ।।२२।।

अनाकुलत्वादिभिरात्मलक्षण सुखादिरूपा निजवस्तुहेतव ।
तवककाल विलसन्ति पुष्कला प्रगल्भबोधज्वलिता विभूतय ।।२३।।

समस्तमन्तश्च बहिश्च वभव निमग्नमुन्मग्नमिव विभासयन् ।
त्वमुच्छलन्नव विभोयसे परस्तनन्तविज्ञानघनौघघस्मर ।।२४।।

नितान्तमिद्धेन तपोविशोषित तथा प्रभो मा ज्वलयस्व तेजसा ।
यथव मा त्वा सकल चराचर प्रघस्य विष्वग ज्वलयन ज्वलाम्यहम ।।२५।।

ततो गलत्यायुषि कर्म पेलवं स्खलद्धि शेषमशेषयन् भवान् ।
अवाप सिद्धत्वमनन्तमद्भुतं विशुद्धबोधोद्धतधाम्नि निश्चलं ।।१३।।

चिदेकधातोरपि ते समग्रतामनन्तवीर्याद्विगुणा प्रचक्रिरे । ~
न जातुचिद्द्रव्यमिहैकपर्ययं बिभर्ति वस्तुत्वमृतेऽन्यपर्ययं ।।१४।।

स्ववीर्यसाचिव्यबलाद् गरीयसीं स्वधर्ममालामखिला विलोकयन् ।
अनन्तधर्मोद्धतमाल(ल्य)धारिणीं जगत्त्रयीमेव भवानलोकयत् ।।१५।।

त्रिकालविस्फूर्जदनन्तपर्ययप्रपञ्चसंकीर्णसमस्तवस्तुभिः ।
स्वयं समव्यक्ति किलैककेवलं भवन्ननन्तत्वमुपागतो भवान् ।।१६।।

यदत्र किञ्चित्सकलेऽप्यमण्डले विवर्तते वर्त्स्यति वृत्तमेव वा ।
समग्रमप्येकपदे तदुद्गतं त्वयि स्वयं ज्योतिषि देव भासते ।।१७।।

निवृत्ततृष्णस्य जगच्चराचरं व्यवस्यतस्तेऽस्खलदात्मविक्रमम् ।
परात्परावृत्य चिदंशवस्त्वयि स्वभावसौहित्यभराद् भजन्त्यमी ।।१८।।

अनन्तसामान्यगभीरसारणीभरेण सिञ्चन् स्वविशेषवीरुधः ।
त्वमात्मनात्मानमनन्यगोचरं समग्रमेवान्वभवस्त्रिकालगम् ।।१९।।

अनन्तशः खण्डितमात्मनो महः प्रपिण्डयन्नात्ममहिम्नि निर्भरम् ।
त्वमात्मनि व्यापृतशक्तिरुन्मिषन्ननेकधात्मानमिमं विपश्यसि ।।२०।।

प्रमातृमेयादिविभिन्नवैभवं प्रमैकमात्रं जिन भावमाश्रितः ।
अगाधगम्भीरनिजांशुमालिनीं सनाथपि त्वा न जहासि तीक्ष्णताम् ।।२१।।

अनन्तरूपस्पृशि शान्ततेजसि स्फुटौजसि प्रस्फुटतस्तवात्मनि ।
चिदेकतासङ्कुलिता स्फुरन्त्यमूः समन्ततीक्ष्णानुभवाः स्वशक्तयः ।।२२।।

अनन्तविज्ञानमिहात्मना भवाननन्तमात्मानमिमं विघट्टयन् ।
प्रचण्डसंघट्टहठस्फुटत्स्फुटस्वशक्तिचक्रः स्वयमीश भासते ।।२३।।

स्वरूपगुप्तस्य निराकुलात्मनः परानपेक्षस्य तवोल्लसन्त्यमूः ।
सुनिर्भरस्वानुभवैकगोचरा निरन्तरानन्दपरम्पराः स्त्रजः ।।२४।।

प्रसह्य मां भावनयाऽनया भवान् विशन्नयं पिण्डमिवाग्निरुत्कटः ।
करोति नाद्यापि यदेकचिन्मयं गुणो निजोऽयं जडिमा ममैव सः ।।२५।।

वंशस्थवृत्तम्

(७)

असीमससारमहिम्नि पञ्चधा भ्रजन परावर्त्तिमनन्तशोऽवश ।
लगाम्यय देव बलाच्चिदञ्चले स्वधाम्नि विश्रान्तिविधायिनस्तव ॥१॥

कषायसघट्टनघष्टशेषया ममकया चिरकलया व्यवस्यत ।
क्रियात (कियाम) प्रकाशस्तव मूर्तिभासने भवत्यलात दिनकृत्व जातुचित् ॥२॥

कियत्स्फुर्द किञ्चिदनादिसवत कियज्ज्वलत किञ्चिदतीव निब तम ।
कियत स्पृशत् किञ्चिदसस्पृशन्मम त्वयीश तेज करण विधोदति ॥३॥

प्रलाप (प्रहाय) विश्व सकल बलाद भवान्मम स्वय प्रक्षरितोऽतिवत्सल ।
पिपासितोऽत्यन्तमबोधदुर्बल क्षमेत पातु कियदीश मांऽच्या ॥४॥

अय भवद्बोधसुधकसीकरो ममाद्य मात्रा परिणामकाङ्क्षिण ।
क्रमेण सधुक्षितबोधतेजसा ममव पेयस्य (पेयस्स) कलो भवानपि ॥५॥

अनारत बोधरसायन पिबन्नखण्डिता तवहिरङ्गसयम ।
ध्रुव भविष्यामि सम स्वयं त्वया न साध्यते किं हि गृहीतसयमैः ॥६॥

व्यतीतसख्येष्वपि शश्वरक्षया स्थितस्य मे सयमलब्धिधामसु ।
सदा गुणश्रेणिशिखामशिश्रित विभो कियद्दूरमिद पद तव ॥७॥

उपयुपर्यू ज्जितबोधसम्पदा विभो विभिन्दस्तव तत्त्वमस्म्यहम् ।
अलब्धविज्ञानघनस्य योगिनो न बोधसौहित्यमुपति मामसम ॥८॥

अजस्रसभ्रान्तविवेकधारया सुदारुण देव मम व्यवस्यत ।
स्वय अयन्त्युल्लसिताङ्कुतोभया क्षणप्रहीणावरणा मनोभव ॥९॥

समाप्तुतक्षालनगाढकर्मणा कषायकालुष्यमपास्य तत्समम् ।
ममाद्य सद्य स्फटबोधमण्डल प्रसह्य साक्षाद् भवतीश ते मह ॥१०॥

त्वमात्मसात्म्यज्ञ विवेकधृत्तितामशिश्रिय शोषितरागकुगद ।
परे तु रागज्वरसात्म्यलालसा विशन्ति बाला विषयाम्बिषोपगान ॥११॥

कियत्कियत संयमसीमवर्त्मनि क्रियारतेनाप्यपरा क्रियाऽन्तता ।
त्वयैवमुज्ज्वलविवेकविक्रमै समस्तकर्तृत्वमपाकृत्तं हठात ॥१२॥

अकर्तृ सवेदनधाम्नि सुस्थित प्रसह्य पीत्वा सकल चराचरम ।
त्वमेष्ट पश्यस्यनिश निरुत्सुक स्वधातुपोषोपचित निज वपु ।।१३।।

तवाहृतोऽस्य तमहिम्नि सस्थिति स्वसीमलग्नाखिलविश्वसम्पद ।
सदा निरुच्छ्वासघतास्स्वशक्तय स्वभावसीमानमिभा न भिन्दते ।।१४।।

तवैवमुच्चावचमीश मज्जयज्जयत्यनन्ताद्भुतसत्यवभवम ।
स्वतत्व एव स्फुरदात्मयन्त्रित चिदुदगमोदगारतरङ्गित मह ।।१५।।

स्पृशन्नपि स्वांशुभरेण भूयसा समुच्छ्वसद्विश्वमिद स्वसीमनि ।
परेण सवत्र सदाप्यलङ्घितस्वभावसीमा जिन नाभिभूयसे ।।१६।।

स्वभावसीमानमनन्यबाधिता स्पृशन्ति भावा स्वयमेव शाश्वतीम ।
पर परस्यास्ति कुतोऽपि तेन न क्रियेति शान्ता त्वयि शुद्धबोद्धरि ।।१७।।

अकर्तृ विज्ञातृ तवेवमद्भुतस्फुटप्रकाश सततोदित मह ।
न जात्वपि प्रस्खलति स्वशक्तिभिभरेण सर्वारितमात्मनात्मनि ।।१८।।

तवेति विस्पष्टविकाशमुल्लसद्विलीनदिक्कालविभागमेककम् ।
स्रुड(ट)त्क्रियाकारकचक्रमक्रमात स्वभावमात्र परितोऽपि वल्गति ।।१९।।

प्रवतते नव न चातिवर्त्तते स्वभाव एवोदयते निराकुलम ।
अपेलवोल्लासविलास्य(स)मासलस्वशक्तिसम्भारभृत भव मह ।।२०।।

मृतोऽपि भूयो भ्रियसे स्वधानभि स्वत प्रतृप्तोऽपि पुन प्रतृप्यसि ।
असीमवद्धोऽपि पुर्निवबद्ध से महिम्नि सीमव न वा भवाद्दशाम ।।२१।।

स्वमात्ममाहात्म्यनिराकुलोऽपि सन्न तीक्ष्णता मुञ्चसि देव जातुचित ।
सदव यत्तक्ष्ण्यमुदेति दारुण तदेव माहात्म्यमुशन्ति सविद ।।२२।।

अनारतोत्तेजितशान्ततेजसि त्वयि स्वय स्फूर्जति पुष्कलौजसि ।
समक्षसवेदनपूतचेतसा कुतस्तम काण्डकथव मादृशाम ।।२३।।

हठस्फुटच्चित्कलिकोच्छलन्महोमहिम्नि विश्वस्पृशि साम्प्रत मम ।
अखण्डदिङमण्डलपिण्डितस्त्विषस्तमो दिग तेष्वपि नावतिष्ठते ।।२४।।

समन्ततश्चिद्भरनिर्भरो भवान् जगद्दराक स्खलदेकचित्कणम ।
तवानुभूतिभवतव योऽथवा भवेत्तवानुग्रहबृहितोदय ।।२५।।

उपजातिवृत्तम्

(८)

अन्तर्विरक्तस्य तवायमासीत् य एव संकीर्णरस स्वभाव ।
मार्गावतारे हठमार्जितश्रीस्त्वया कृत शान्तरस स एव ॥१॥

अबाधितस्तत्त्वविदा विमुक्तेरेक कषायक्षय एव हेतु ।
अथ कषायोपचयस्य बन्धहेतोर्विपर्यस्ततया त्वयेष्ट ॥२॥

एक कषायानभिषेणयस्त्व नित्योपयुक्तश्चतुरङ्गकर्षी ।
सर्वाभियोगेन सम व्यवस्यन्नेकोऽप्यनेक कलित कषाय ॥३॥

मुहुर्मुहुर्वञ्चितचित्प्रहार पलायितव्यावृटितर्मिलद्भि ।
तथाप्रकम्प्योऽपि दृढै कषायै स्वशक्तिसारस्तुलित प्रयत्न ॥४॥

प्रतिक्षण सस्पृशता स्ववीर्य लब्धान्तर सम्यगविक्लवेन ।
त्वयाथ तेषा विहित प्रहार प्रसह्य सर्वंकष एक एव ॥५॥

साक्षात कषायक्षपणक्षणेऽपि त्वमुद्वहन केवलबोधलक्ष्मीम ।
विश्वकभोक्ता जिनपौरुषस्य प्रभावमाविष्कृतवान परेषाम ॥६॥

आयु स्थिति स्वामवशोपभोग्या ज्ञानकपुञ्जोऽप्यनुवर्तमान ।
प्रदर्शयन् वर्त्म शिवस्य साक्षाद्धिताय विश्वस्य चकथ तीर्थम ॥७॥

तीर्थाद्भवन्त किल तद् भवद्भ्यो मिथो द्वय वाञ्छिति हेतुभाव ।
अनादिसन्तानकृतावतारश्चकास्ति बीजाङ्कुरवत्किलायम ॥८॥

समस्तमन्त स्पृशतापि विश्व वस्तु समस्त वचसामशक्ते ।
प्रत्यक्षद्रष्टाऽखिलभावपुञ्जादनन्तभागो गदितस्त्वयक ॥९॥

भिन्दस्तमनोज्ञाविद्धभर्त्स्य महाबभतस्तम्भितवुङ्गचित्त ।
तवैव वक्त्रादवधारितोऽथ सुरासुरहर्यात्मकवस्तुवाद ॥१०॥

वाग्विप्रुषस्ते कृतचित्रमार्गा प्रत्येकतोऽर्थप्रतिपत्तिकर्त्री ।
भवन्त्यपि कश्चित् समुदायबोधशुद्धाशयरेव धतस्तवैव ॥११॥

विपक्षसापेक्षतयैव शब्दा स्पृशन्ति ते वस्तु विरुद्धधर्म ।
सर्वैकदेशेऽपि विशीर्णसारा स्याद्वादमुद्राविकला स्खलन्ति ॥१२॥

इय सदित्युक्तिरपेक्षते सद्‌ यावत्तिसीमन्तितसत्प्रवृत्ती ।
जगत्समक्षां सहसव जह्न्‌ स्वभावसीमानमथा यथार्था ॥१३॥

सव सदित्यक्यमुदाहर ती कृत्वापि सव्‌ मेवमसहर ती ।
न सत्तया पीयत एव विश्व पीयेत सत्तव मदीश तेन ॥१४॥

सत्प्रत्यय सस्पृशतीश विश्व तथापि तत्रकतम स आत्मा ।
असन स सत्तयतयाभिधत्ते हृ तस्य नित्यप्रविजृम्भितत्वम ॥१५॥

पिवन्नपि व्याप्य हठन विश्व स्खलन किलाय स्वपरात्मसीम्नि ।
विश्वस्य नानात्वमनादिसिद्ध कथ भुवि ज्ञानघन प्रमार्ष्टि ॥१६॥

सव विदित्वक्यमपि प्रमाङ्‌ न चेतनाचेतनतां क्षमेत ।
न सस्कृतस्यापि चिताजडस्य चित्त्व प्रतीयेत कथञ्चनापि ॥१७॥

प्रत्यक्षमुत्तिष्ठति निष्ठुरेय स्याद्वादमुद्रा हठकारतस्ते ।
अनेकशः शब्दपथोपनीत सस्कृत्य विश्व सममस्खलन्ती ॥१८॥

अवस्थिति सा तव देव दृष्टेर्विरुद्धधर्मेष्वनवस्थितिर्या ।
स्खलन्ति यत्र गिर स्खलन्तु जात हि ताव महदन्तरालम ॥१९॥

गिरां बलाधानविधानहेतो स्याद्वादमुद्रामसृजस्त्वमेव ।
तदङ्किता‌स्ते तवतत्त्वभाव वदन्ति वस्तु स्वयमस्खलन्त ॥२०॥

परात्मनोस्तुल्यमनादिदु खप्रबन्धनिर्भेदफलप्रयास ।
आयासयन्नप्यपरान्‌ परेषामुपासनीयस्त्वमिहैक आसी ॥२१॥

व्यापारयद्‌ दु खविनोदनाथमारोपयद्‌ दु खभर प्रसह्य ।
पररथव्य जिन शासन ते दु खस्य मूलान्यपि कृन्ततीह ॥२२॥

समामृतस्वादविदां मुनीनामुग्र महादु खभरोऽपि सौख्यम ।
पयोरसज्ञस्य यथा बधारेहुठाग्नितप्त पिबत पयोऽत्र ॥२३॥

अमन्दसवेदनसान्द्रमूर्ति समग्रवीर्यातिशयोपपन्न ।
नि शेषिताशेषकलङ्कपङ्क कोऽन्यो भवेदाप्ततरो भवत्त ॥२४॥

यतस्तवेद प्रतिभाति शब्दब्रह्म कचिन्मण्डपकोणचुम्बि ।
तत पर ब्रह्म भवानिहैको यस्मात्पर नापरमस्ति किञ्चिन ॥२५॥

उपजातिवृत्त

(१)

मार्गावतारे शमसम्भृतात्मा स्वयं प्रकाशं स्वमिन परस्त्वम् ।
सुनिष्ठुरध्वम् तकृतकषाय क्षिप्तोऽपि नासौ प्रतिपत्तिमन्द ॥१॥

अवाप्तभूतार्थविचारसारो निष्कम्पमेकत्वकृतप्रतिज्ञ ।
नि शेषिता तबहिरङ्गसङ्गो दीनानुकम्पाविषयस्त्वमासी (सी) ॥२॥

सरक्षतस्तेऽस्खलितार्थदृष्टे सूत्रेण षड्जीवनिकां निकामम् ।
अपक्षपातस्य बलाद्विवासीत समस्तसूतेष्वपि पक्षपात ॥३॥

सूर्याशुभा पावकविप्रुषस्ते विनिवहन्त्य परितोऽपि गात्रम् ।
अभीप्सत कमफलैकपाकमासन सुधासीकरनिर्विशेषा ॥४॥

मन्द समस्वावभरेण नक्त गृहीतयोग शववद्विचेष्ट ।
परेतभूमौ परिशुष्कमूर्तिर्विघट्टितस्त्व दशन शिवाभि ॥५॥

विदग्धरोगीव बलाद्विरोधान्मासार्द्धमासक्षपणानि कुर्वन ।
अनादिरागज्वरवेगमुग्र क्रमेण नि शेषितवानलोल ॥६॥

तत कथञ्चित सकलात्मवीर्यव्यापारपर्यागतसयमस्त्वम ।
जात कषायक्षयतोऽक्षरात्मा ज्ञानैकपुञ्ज स्वयमेव साक्षात ॥७॥

ततस्त्वया व्याप्तपरापरेण स्वायु स्थितिप्राप्तिनियन्त्रितेन ।
स्वकर्मशेषस्य तथा विपाकमुत्पश्यतादेशि शिवस्य पन्था ॥८॥

अ त कषायक्षपण प्रसह्य बहिर्व्रताशक्तिचारित्रपाक ।
सूत्रार्थसक्षपतया त्वयाय प्रदर्शितो नाथ शिवस्य पन्था ॥९॥

बोधप्रधान किल सयमस्ते तत कषायक्षयजा शिवाप्ति ।
शिवाप्तिहेतोरपि हेतुहेतुरहेतुर्वाश्चरणस्य बोध ॥१०॥

समस्तनिस्तीर्णचरित्रभार स्वायु स्थितिज स विशीर्णबन्ध ।
शिखेव वह्न सहजोर्ध्वगत्या तत्सिद्धिधामाऽध्यगमस्त्वमन्ते ॥११॥

तस्मिन भवानप्रचलप्रदेश पिबन दशा विश्वमशेषमेव ।
समक्षसवेदनमूर्तिरास्ते स्वगुप्तवीर्यातिशय सुखेन ॥१२॥

दृग्बोधयोस्तक्ष्ण्यविधायि वीर्य दृग्बोधतक्ष्ण्येषु निराकुलत्वम ।
निराकुलत्व तव देव सौख्य गाढोपयुक्तोऽसि सुख (सुखे) त्वमेव ॥१३॥

वितृष्णता ज्ञानमनन्तराय दृग्वीर्यसारोऽस्खलित समन्तात् ।
अय स स्त सुखहेतुपुञ्जस्तवाभवन्नित्यनिराकुलस्य ॥१४॥

अनादिससारपथादपेतमनन्तसिद्धत्वकृतव्यवस्थम ।
त्रिकालमालायतमात्मतत्त्व साक्षात सम पश्यसि बुध्यसे च ॥१५॥

दृग्बोधवीर्योपचितात्मशक्ति सम ततो नित्यमखण्डयमान ।
अनन्तनक्ष्ण्यादविभागखण्डरनन्तश खण्डयसीश विश्वम् ॥१६॥

दृढोपयुक्तस्य तव स्फुटन्त्य स्वशक्तयो विश्वसभावभासा ।
विभो न भिन्दन्ति सदा स्वभाव चिदेकसामान्यकृतावतारा ॥१७॥

प्रमातृरूपेण तव स्थितस्य प्रमेयरूपेण विवर्तमाना ।
श्लिष्टावभासा अपि नकभाव त्वया सम यान्ति पदार्थमाला ॥१८॥

परप्रदेशैन पर प्रदेशी प्रदेशशून्य न हि वस्तु किञ्चित् ।
आलानयन दर्शनबोधवीर्य जिन प्रदेशेषु सदव भासि ॥१९॥

आलम्ब्य विश्वं किल पुष्कलेय दृग्बोधवचित्र्यमयी विभूति ।
तव स्वभावाद् दृशिबोधमूर्तेरेतावदेवोपकृत परेभ्य ॥२०॥

अनन्तधर्मप्रचित प्रदेशैर्दृग्बोधयोराश्रयमात्रभूत ।
दृग्बोधवैचित्र्यमुखेन साक्षाद्विभो विभास्येव हि विश्वरूप ॥२१॥

अभावभावोभयरूपमेक स्ववस्तु साक्षात स्वयमेव पश्यन ।
न सज्जसे क्वापि स श्ङ्अकम्प स्वभावसीमाङ्कितत्स्वमग्न ॥२२॥

भूत भवद्भावि समस्तविश्वमालम्बमान समभेव साक्षात ।
अनन्तविश्वात्मकदिव्यदीप्तिस्तवोपयोगो जिन नास्तमेति ॥२३॥

समन्ततो दृष्टिवारितेय सवत्र बोधोऽयमवरुद्धशक्ति ।
अनन्तवीर्यातिशयेन गाढ सुदुर्द्धर धारयसि स्वमीश ॥२४॥

भ्रान्त्वा समग्र जगदेव दीन खिन्नात्मना प्राणपण विधाय ।
व दीकृतोऽस्यद्य मयातिलोभात् समस्तमेवाप्य (च) किं विवाद ॥२५॥

उपजातिवृत्तम

(१०)

अन्तर्निमग्नानन्तस्वभावं स्वभावलीलोच्छलनाक्रमेव ।
विशुद्धविज्ञानघनं समन्तात् स्तोष्ये जिनं शुद्धनयैकदृष्ट्या ॥१॥

निरर्गलोच्छालविशालधाम्नो यदेव चैतन्यचमत्कृतं ते ।
उदारवैचित्र्यमुदेत्यभेदं तदेव रूपं तव मार्जितश्रि ॥२॥

विवेकरूपप्रसरस्तवाय निरुध्यते येन स एव नास्ति ।
स्वभावगम्भीरमहिम्नि मग्नो विभो विभास्येकरसप्रवाहः ॥३॥

उपर्युपर्युच्छलदच्छधामा प्रकाशमानस्त्वमभिन्नधारः ।
चिदेकतासङ्कलितात्मभासा समग्रमुग्धावयवमस्यसीश ॥४॥

समुच्छलत्यत्र तवाद्वितीये महौजसश्चिन्महसो महिम्नि ।
अनल्पकल्पावितचित्रनीत्या विभाव्यते विश्वमपि प्रमृष्टम् ॥५॥

विशुद्धबोधप्रतिबद्धधाम्नः स्वरूपगुप्तस्य चकासतस्ते ।
अयं स्फुटं स्वानुभवेन काममुदीयते ऽभिन्नरसः स्वभावः ॥६॥

अभावभावादिविकल्पजालं समस्तमप्यस्तमयं नयसः ।
समुच्छलद्बोधसुधाप्लवोऽयं स्वभाव एवोल्लसति स्फुटस्ते ॥७॥

स्वभावबद्धाचलितैकदृष्टेः स्फुटप्रकाशस्य तवोज्झिहासोः ।
समन्ततः सम्भृतबोधसारः प्रकाशपुञ्जः परितश्चकास्सि ॥८॥

अनादिमध्यान्तविवेकभासि प्रकाशमाने त्वयि सर्वतोऽपि ।
एकाखिलक्षालितकश्मलेयं विलासमायात्यनुभूतिरेव ॥९॥

तवात्र तेजस्यनुभूतिमात्रे चकासति व्यापिनि नित्यपूर्णे ।
न खण्डनं कोऽपि विधातुमीशः समन्ततो मे निरुपप्लवस्य ॥१०॥

चित्तेजसा साकमनादिमग्नश्चित्तेजसोन्मज्जसि साकमेव ।
न जातुचिन्मुञ्चसि चण्डरोचिः स्फुरत्सचित्पुञ्ज इवात्मधाम ॥११॥

समन्ततः सौरभमातनोति तवैष चिच्छक्तिविकासहासः ।
कस्याप्यमुञ्चन्मकरन्दपानलौल्येन धन्यस्य दृशो विशन्ति ॥१२॥

त्वमेक एवकरसस्वभाव सुनिभर स्वानुभवेन कामम।
अखण्डचित्पिण्डविपिण्डितश्रीर्विगाहसे स घवखिल्यलीलाम ॥१३॥

विशुद्धचित्पूरपरिप्लुतस्त्वमार्द्र एव स्वरसेन भासि।
प्रालेयपिण्ड परितो विभाति सदार्द्र एवाद्रवतायुतोऽपि ॥१४॥

अपारबोधामृतसागरोऽपि स्वपारदर्शी स्वयमेव भासि।
त्वमन्यथा स्वानुभवेन शून्यो जहासि चिद्वस्तुमहिम्नि नेच्छाम ॥१५॥

अखण्डितः स्वानुभवस्तवाय 'समग्रपिण्डीकृतबोधसार।
ददाति " नवा तरमुद्धताया समन्ततो ज्ञानपरम्पराया ॥१६॥

निपीवतस्ते स्वमहिम्न्यनन्ते निर तरप्रस्फुरितानुभूति'।
स्फुट। सदोदेत्ययमेक एव विश्रान्तविश्वोर्मिभर स्वभाव ॥१७॥

सर्वा 'क्रिया कारककश्मलव कर्त्रादिमूला किल तत्प्रवृत्ति'।
शुद्ध ।क्रियाचक्रपराङमुखस्त्व भामात्रमेव 'प्रतिभासि भाव ॥१८॥

स्वस्मै स्वत स्व स्वमिहैकभाव स्वस्मिन् स्वय पश्यसि सुप्रसन्न।
अभिन्नस्वत्वयतया स्थितोऽस्मात्त्व कारकाणीश हठेव भासि ॥१९॥

एकोऽप्यनेकत्वमुपैति काम पूर्वापरीभावविभक्तभाव'।
नित्योदितकाग्रहणैकभावो न भाससे कालकलङ्कितश्री ॥२०॥

आद्य तमध्यादिविभागकल्प समुच्छलन खण्डयति स्वभावम।
अखण्डदग्मण्डलपिण्डितश्रीरेको भवान सवसर (रस) श्चकास्ति ॥२१॥

भामात्रमित्युत्कलितप्रबलिमग्न क्रिया-कारक-काल-देश।
शुद्धस्वभावकज्ज्वलज्ज्वल(ज्वलोज्वल)स्त्व पूर्णो भवन्नासि निराकुलश्री ।२२

एकाग्रपूर्णस्तिमितावि भागभामात्रभावास्खलितकवल्या।
चकासत केवलनिभरस्य न सङ्कुरस्तेऽस्ति न तुच्छतापि ॥२३॥

भावो भवन भासि हि भाव एव चितोभवश्चिन्मय एव भासि।
भावो न वा भासि चिदेव भासि न वा विभो भास्यासि चिच्चिदेक ॥२४॥

एकस्य शुद्धस्य निराकुलस्य भावस्य भाभारसुनिभरस्य।
सदाऽस्खलद्भावनयानयाह भवामि 'योगीश्वर भाव एव ॥२५॥

अनुष्टुप छंद

(११)

इय द्राघीयसी सम्यक्परिणाममभीप्सता ।
भवतात्मवता देव क्षपिता मोहयामिनी ॥१॥

सुविशुद्ध श्चिदुद्गारैर्जीर्णमाख्यासि कश्मलम ।
अज्ञानादतिरागेण यद्विरुद्ध पुराहृतम ॥२॥

दीप्र प्राथयते विश्व बोधाग्निरयमञ्जसा ।
त्व तु मात्राविशेषज्ञस्तावदेव प्रयच्छसि ॥३॥

बोधाग्निरि घनीकुर्वन विश्व विश्वमय तव ।
स्वधातुपोषमेक हि तनुते न तु विक्रियाम् ॥४॥

विश्वग्रासातिपुष्टेन शुद्धचैतन्यधातुना ।
रममाणस्य ते नित्य बलमालोक्यतेऽतुलम ॥५॥

अनन्तबलसम्बद्ध स्वभाव भावयन विभु ।
अन्तर्जीर्णजगद्ग्रासस्त्वमेवको विलोक्यसे ॥६॥

विश्वग्रासावनाकाङ्क्ष प्रयातस्तृप्तिमक्षयाम ।
अय निरुत्सुको भाति स्वभावभर निर्भर ॥७॥

अनन्तरूपकद्वाड्मुरुपयोगचमत्कृत ।
वहस्येकोऽपि वचित्र्य स्वमहिम्ना स्फुटीभवन ॥८॥

एक एवोपयोगस्ते साकारेतरभेदत ।
ज्ञानदर्शनरूपेण द्वितयीं गाहते भुवम ॥९॥

समस्तावरणोच्छेदाशित्यमेव निरर्गले ।
अपर्यायेण वर्तेते ज्ञप्ती विशदे त्वयि ॥१०॥

ज्ञप्त्यो सहकारीदमनन्त वीर्यमूर्जितम् ।
सहतेऽनन्तराय ते न मनागपि खण्डनम ॥११॥

अखण्डदर्शनज्ञानप्रागल्भ्यग्लापिताऽखिल ।
अनाकुल सदा तिष्ठन्नेकान्तेन सुखी भवान् ॥१२॥

स्वयं ज्ञप्तिरूपत्वान्न सुखी सन् प्रमाद्यसि ।
नित्यव्यापारितानन्तवीर्य ज्यो(?)यसि (जानासि) पश्यसि ॥१३॥

नश्वरत्वं दृशिज्ञप्त्योर्न तवास्ति मनागपि ।
सत स्वयं दृशिज्ञप्तिक्रियामात्रेण वस्तुन ॥१४॥

न ते कर्त्रादि (द्य) पेक्षित्वाद् दृशिज्ञप्त्योरनित्यता ।
स्वयमेव सदवासि यत षट्कारकीमय ॥१५॥

दृश्यज्ञे (य) बहिर्वस्तुसान्निध्यं नात्र कारणम् ।
कुर्वतो दर्शनज्ञाने दृशिज्ञप्तिक्रिये तव ॥१६॥

क्रियमाणदृशिज्ञप्ती न ते भिन्ने कथञ्चन ।
स्वयमेव दृशिज्ञप्तीभवत कर्मकीर्तनात् ॥१७॥

क्रिया भावत्वमानीय दृशिज्ञप्तीभवन स्वयम् ।
त्वं दृशिज्ञप्तिमात्रोऽसि भावोऽन्त्यषट्कारक ॥१८॥

ज्ञप्तीभवतो नित्यं भवन भवत क्रिया ।
तस्या कर्त्रादिरूपेण भवानुल्लसति स्वयम् ॥१९॥

आत्मा भवसि कर्त्तेति ज्ञप्तीभवसीति तु ।
कर्मैवमपरे भावास्त्वमेव करणादय ॥२०॥

क्रियाकारकसामग्रीग्रासोल्लासविशारद ।
दृशिज्ञप्तिमयो भावो भवान् भावयतां सुख ॥२१॥

अनाकुल स्वयं ज्योतिरन्तर्बहिरखण्डित ।
स्वयंवेदनसंवेद्यो भासि त्वं भाव एव न ॥२२॥

एवमेवेति न क्वापि यद्युपप्यवधारणम् ।
अवधारयतां तत्त्वं तव सर्वावधारणा ॥२३॥

तीक्ष्ण्यो (तीक्ष्णो) पयोगनिव्यग्रगाढग्रहहठाहृत ।
अनन्तशक्तिभि स्फारस्फुटं भासि परिस्फुटम् ॥२४॥

त्वद्भावभावनाव्याप्तविश्वात्मास्मि भवन्मय ।
अयं दीपानलप्रस्तावर्तिनीत्या न संशय ॥२५॥

(१२)

जिनाय जितरागाय नमोऽनेकान्तशालिने ।
अनन्तचित्कलास्फोटस्पृष्टस्पष्टात्मतेजसे ॥१॥

अनेकोऽप्यसि मन्ये त्वं ज्ञानमेकमनाकुलम ।
ज्ञानमेव भवन्भासि साक्षात सर्वत्र सर्वदा ॥२॥

अतएव वियत्कालौ तद्गता द्रव्यपर्यया ।
ज्ञानस्य ज्ञानतामीश न प्रमाष्टु तदे (वे) शते ॥३॥

स्वरूपपररूपाभ्यां त्वं भवन न भवन्नपि ।
भावाभावौ विदन साक्षात सर्वज्ञ इति गीयसे ॥४॥

इदमेवमितिच्छिन्दन निखिलार्थाननन्तश ।
स्वयमेकमनन्त त्वं ज्ञानं भूत्वा विवर्तसे ॥५॥

अखण्डमहिमानन्तविकल्पोल्लासमासल ।
अनाकुल प्रभो भासि शुद्धज्ञानमहानिधि ॥६॥

अक्रमात्क्रमभाक्रम्य कषत्यपि परात्मनो ।
अनन्ता बोधधारेयं क्रमेण तव कृष्यते ॥७॥

भावास्सहभुवोऽनन्ता भान्ति क्रमभुवस्तु(स्तु)ते ।
एक एव तथापि त्वं भावो भावान्तरं तु न ॥८॥

वर्त्त तत्त्वमनन्तं स्वमनन्त वर्त्स्यदूर्जितम ।
अनन्त वर्त्तमानं च त्वमेको धारयन्नसि ॥९॥

उत्तानयसि गम्भीरं तलस्पर्श स्वमानयन ।
अतलस्पर्श एव त्वं गम्भीरोत्तानितोऽपि न ॥१०॥

अनन्तवीर्यव्यापारधीरस्फारस्फुरद्दृश ।
दृङ्मात्रीभवदाभाति भवतोऽन्तर्बहिश्च यत ॥११॥

आक्षेपपरिहाराभ्यां खचितस्त्वमनन्तश ।
पदे पदे प्रभो भासि प्रोत्खात प्रतिरोपित ॥१२॥

विभ्रता तदतद्रूपस्वभाव स्व स्वय त्वया।
महान विरुद्धधर्म्माणा समाहारोऽनुभूयसे (ते) ॥१३॥

स्वरूपसत्तावष्टम्भखण्डितव्याप्तयोऽखिला।
असाधारणता यान्ति धर्मा साधारणास्त्वयि ॥१४॥

अनन्तधर्मसम्भारनिर्भर रूपमात्मन।
इदमेकपदे विष्वग्बोधशक्त्यावगाहसे ॥१५॥

अन्वया व्यतिरेकेषु व्यतिरेकाश्च तेष्वमी।
निमज्जन्तो निमज्जन्ति त्वयि त्व तेषु मज्जसि ॥१६॥

प्रागभावादयोऽभावाश्चत्वारस्त्वयि भावताम।
श्रयन्ते श्रयसे तेषु त्व तु भावोऽप्यभावताम ॥१७॥

अनेकोऽपि प्रपद्य त्वामेकत्व प्रतिपद्यते।
एकोऽपि त्वमनेकत्वमनेक प्राप्य गच्छसि ॥१८॥

साक्षादनित्यमप्येतद्याति त्वां प्राप्य नित्यताम।
त्व तु नित्योऽप्यनित्यत्वमनित्य प्राप्य गाहसे ॥१९॥

य एवास्तमुपषि त्व स एवोदीयसे स्वयम।
स एव ध्रुवतां धत्से य एवास्तमितोदित ॥२०॥

अभावता नयन भावमभाव भावतां नयन्।
भाव एव भवन भासि तावुभौ परिवर्तयन ॥२१॥

हेतुरेव समग्रोऽसि समग्रो हेतुमानसि।
एकोऽपि त्वमनाद्यनन्तो यथापूर्व यथोत्तरम् ॥२२॥

न कार्य कारण नव त्वमेव प्रतिभाससे।
अखण्डपिण्डितकात्मा चिदेकरसनिर्भर ॥२३॥

भृतोऽपि रिक्ततामेषि रिक्तोऽपि परिपूर्यसे।
पूर्णोऽपि रिच्यसे किञ्चित किञ्चिद्रिक्तोऽपि वर्द्धसे ॥२४॥

विज्ञानघनविन्यस्तनित्योद्युक्तात्मनो मम।
स्फुरन्त्वश्रान्तमार्द्रार्द्रास्तवामूरनुरश्मय ॥२५॥

मञ्जुभाषिणी

(१३)

सहजप्रमार्जितचिदच्छरूपताप्रतिभासमाननिखिलार्थसन्तति ।
स्वपरप्रकाशभरभावनामय तवकृत्रिम किमपि भाति ते वपु ॥१॥

क्रमभाविभावनिकुरम्बमालया प्रभवावसानपरिमुक्तया तव ।
प्रसृतस्य नित्यमचलं समुच्छलज्जिन चिच्चमत्कृतमिद विलोक्यते ॥२॥

इदमेव देव सहभाविनीं तव स्फुटयत्यनन्तनिजधर्ममण्डलीम ।
तदभिन्नभिन्नसुखवीर्यवैभवप्रभृतिस्वशक्तिसमकालवेदनात ॥३॥

त्वमनन्तधर्मभरभावितोऽपि सन्नुपयोगलक्षणमुखेन भाससे ।
न हि तावतायमुपयोगमात्रता श्रयसे निराश्रयगुणाप्रसिद्धित ॥४॥

अजडत्वमात्रमवयन्ति चेतनामजड स्वय न जडतामियास परात ।
न हि वस्तुशक्तिहरणक्षम पर स्वपरप्रकाशनमबाधित तव ॥५॥

अजडप्रमातरि विभो त्वयि स्थिते स्वपरप्रमेयमितिरित्यबाधिता ।
अविदन पर न हि विशिष्यते जडात्परवेदन च न जडाप्रकारणस ॥६॥

जडतोऽभ्युदेति न जडस्य वेदना समुदेति सा तु यदि नाजडादपि ।
ध्रुवमस्तमेति जडवेदना तदा जडवेदनास्तमयत क्व वेदना ॥७॥

न च वेदनात्मनि सदात्मनात्मन परवेदनाविरह एव सिध्यति ।
अविदन पर स्वमयमाकृति विना कथमन्यबुद्धिरनुभूतिमानयेत ॥८॥

न कदाचनापि परवेदनां विना निजवेदना जिन जनस्य जायते ।
गजमीलनेन निपतन्ति बालिशा परशक्तिरिक्तचिदुपासिमोहिता ॥९॥

परवेदनास्तमयगाढसहृता परितो दृगेव यदि देव भासते ।
परवेदनाभ्युदयदूरविस्तृता नितरां दृगेव किल भाति केवला ॥१०॥

परवेदना न सहकार्यसम्भवे परिनिव तस्य कथमप्यपोह्यते ।
द्वयवेदना प्रकृतिरेव संविद स्थगितेव सात्र (त्र्य) करणान्यपेक्षते ॥११॥

न परावमर्शरसिकोऽभ्युदीयसे परमाश्रयन विभजसे निजा कला ।
स्थितिरेव सा किल तदा तु वास्तवी पशव स्पृशन्ति परमात्मघातिन ॥१२॥

विषया इति स्पृशति धीर रागवान विषयीति पश्यति विरक्तदर्शन ।
उभयो सवव समकालवेदने तदविप्लव क्वचन विप्लव क्वचित ॥१३॥

स्वयमेव देव भुवन प्रकाश्यतां यदि याति यातु तपनस्य का क्षति ।
सहजप्रकाशभरनिभरोंऽशुमान्न हि तत्प्रकाशनधिया प्रकाशते ॥१४॥

स्वयमेव देव भुवन प्रमेयतां यदि याति यातु पुरुषस्य का क्षति ।
सहजावबोधभरनिभर पुमाश्चहि तत्प्रमाणवशत प्रकाशते ॥१५॥

उदयन् प्रकाशयति लोकमशुमान् भुवनप्रकाशनमतिं विनापि चेत् ।
घनमोहसन्नहृदयस्तदेष किं परभासनव्यसनमेति बालक ॥१६॥

बहिरन्तरप्रतिहतप्रभाभर' स्वपरप्रकाशनगुण स्वभावत ।
स्वमय चिदेकनियत पर पर भ्रममेति देव परभासनोन्मुख ॥१७॥

स्फुटभावमात्रमपि वस्तु ते भवत्स्वसमीकरोति किल कारकोत्करम् ।
न हि हीयते कथमपीह निश्चयव्यवहारसहतिमयी जगत्स्थिति' ॥१८॥

सहजा सदा स्फुरति शुद्धचेतना परिणामिनोऽत्र परजा विभक्तय ।
न विभक्तकारणतया वहिस्तु ठत्पनीतमोहकलुषस्य ते पर: ॥१९॥

अवबोधशक्तिरपयाति नैक्यतो न विभक्तयोऽपि विजहत्यनेकताम् ।
तदनेकमेकमपि चिन्मय वपु स्वपरौ प्रकाशयति तुल्यमेव ते ॥२०॥

स्वमनन्तवीर्यबलबृंहितोदय सतत निरावरणबोधदुद्धर ।
अविचिन्त्यशक्तिर(स)हितस्तटस्थित प्रतिभासि विश्वहृदयानि दारयन् ॥२१

बहिरङ्गहेतुनियतव्यवस्थया परमानयन्नपि निमित्तमात्रताम् ।
स्वयमेव पुष्कलविभक्तिनिभर परिणाममेषि जिन केवलात्मना ॥२२॥

इदमेकमेव परिणाममागत परकारणाभिरहितो(त)विभक्तिभि ।
तव बोधधाम कलयत्यनङ्कुशामवकीर्णविश्वमपि विश्वरूपताम् ॥२३॥

जिन केवलककलया निराकुल सकल सदा स्वपरवस्तुवभवम ।
अनुभूतिमानयदनन्तमव्यय तव याति तत्त्वमनुभूतिमात्रताम ॥२४॥

अलमाकुलप्रलपितव्यवस्थित द्वितयस्वभावमिह तत्त्वमात्मन ।
गलयन्त्यशेषमियमात्मवभवादनुभूतिरेव जयतादनङ्कुशा ॥२५॥

तोटक छन्द

(१४)

चितिमात्रमिद दृशिबोधमय तव रूपमरूपमनन्तमह् ।
अविखण्डविखण्डितशक्तिभरात क्रमतोऽक्रमतश्च नुम प्रतपत ॥१॥

त्वमनेकचिदर्च्चिकदम्बि(म्ब)रुचा रुचिर रचयन जिन चित्रमिदम ।
न परामृशतोऽपि विभूतिलवान दृशिगोचर एव परीतदृश ॥२॥

अनवस्थमवस्थित एष भवानविरुद्धविरोधिनि धर्म्मभरे ।
स्वविभूतिविलोकनलोलदृशामनवस्थमवस्थितिमाविशति ॥३॥

अयमूर्जितशक्तिचमत्कृतिभि स्वपरप्रविभागविजृम्भितवित् ।
अनुभूयत एव विभो भवतो भवतोऽभवतश्च विभूतिभर ॥४॥

न किलकमनेकतया घटते यदनेकमिहैक्यमुपति न तत ।
उभयात्मकमन्यदिवासि मह् समुदाय इवावयवाश्च भवन ॥५॥

क्षणभङ्गविवेचितचित्कलिकानिकुरम्बमयस्य सनातनता ।
क्षणिकत्वमथापि चिदेकरसप्रसरार्द्रितचित्कणिकस्य तव ॥६॥

उदगाद्यदुदेति तदेव विभौ यदुदेति च भूय उदेष्यति तत ।
जिन कालकलङ्कितबोधकलाकलनेऽप्यसि निष्कलचिज्जलधि ॥७॥

त्वमन तचिदुदगमसङ्कुलना न जहासि सदकतयापपि लसन ।
तुहिनोपलखण्डलकेऽम्बुकणा अविलीनविलीन्महिम्नि समा ॥८॥

घटितो घटित परितो भटसि भटितो भटित परितो घटसे ।
भटसीश न वा न पुनर्घटसे जिन जज्जरयन्निव भासि मन ॥९॥

प्रकृतिभवत परिणाममयी प्रकृतौ च वथव वितककथा ।
वहन्नित्य(वहसि त्व)मखण्डितधारचिता सदृशेतरभावभरेण भृत ॥१०॥

अपरोक्षतया त्वयि भाति विभावपरोक्षपरोक्षतया(थ)थ गति ।
न तथाप्यपरोक्षविभूतिभर प्रतिय पेति(प्रतियन्ति वि)मोहहता पशव ॥११॥

स्वपराकृतिसङ्कुलनाकुलिता स्वमपास्य परे पतिता परदृक ।
भवतस्तु भरावभिभूय पर स्वमहिम्नि निराकुलमुच्छलति ॥१२॥

दृशि दृश्यतया परित स्वपरायितरेतरमीश्वरसविशात ।
अतएव विवेककृते भवता निरणायि विधिप्रतिषेधविधि ॥१३॥

यदि दृश्यनिमित्तक एष दृशि व्यतिरेकभरोऽयमगमत ।
दशिरेव तदा प्रतिभातु पर किमु दृश्यभरेण दश हरता ॥१४॥

अविद वचसा विषयाविषयस्तदभूस्तव दृश्यमशेषमपि ।
अथवाचलचिङ्कुरधीरतया जिन दृश्यविरक्तविभूतिरसि ॥१५॥

महतात्मविकासभरेण भश गमयन्त्य इवात्ममयत्वमिमा ।
जिन विश्वमपि स्फुटयन्ति हठात स्फुटितस्फुटितास्तव चित्कलिका ॥१६॥

अचलात्मचमत्कृतचन्द्ररुचा रचयन्ति वितानमिवाविरतम ।
अवभासितविश्वतयोच्छलिता विततद्युतयस्तव चित्तडित ॥१७॥

इदमध ददद्विशदानुभव बहुभावसुनिर्भरसस्वरसम ।
तव बोधमुखे कवलग्रहवत परिवर्त्तिमुपैति समग्रजगत ॥१८॥

बहुरूपचिदुद्गमरूपतया वितथव वपु प्रतिबिम्बकथा ।
अनुभूतिमथापतित युगपज्जनु विश्वमपि प्रतिमा भवत ॥१९॥

ह्रियते हि परविषयविषयी स्वमत कुरुतां विषय विषयी ।
स (यतो) हृतो विषयविषयस्तु भवेदहृतो विषयी न पुनर्विषय ॥२०॥

दशिबोधसुनिश्चलवृत्तिमयो भवबीजहरस्तव शक्तिभर ।
न विविक्तमति क्रियया रमते क्रिययोपरमत्यपथावध तु ॥२१॥

क्रिययेरितपुद्गलकममलश्चिति पाकमकम्प्यमुपैति पुमान ।
परिपक्वचितस्त्वपुनर्भवता भवबीजहठोद्धरणान्नियतम् ॥२२॥

यदि बोधमबोधमलालुलित स्फुटबोधतयव सदोद्वहते ।
जिन कर्तृतयाकुलित प्रपतस्तिमिवन्न विबन्धमुपैति तदा ॥२३॥

तव सङ्गममेव वदन्ति सुख जिन दु खमय भवता विरह ।
सुखिन खलु ते कृतिन सतत सतत जिन येष्वसि सन्निहित ॥२४॥

कलयन्ति भवन्तमनन्तकल सकल सकला किल केवलिन ।
तव वेद चिदञ्चललग्नमपि ग्लपयन्ति कषायमलानि न माम ॥२५॥

वियोगिनी छन्द

(१५)

अभिभूय कषायकमर्णामुदयस्पर्द्ध कपङ्क्तिमुत्थिता ।
जिन केवलिन किलादभुत पदमालोकयितु तवेश्वरा ॥१॥

तव बोधकलामहर्निश रसयन बाल इवेक्षकारिणिकाम ।
न हि तृप्तिमुपत्यय जनो बहुमाधुर्यहृतान्तराशय ॥२॥

इदमीश निशायित त्वया निजबोधास्त्रमनन्तश स्वयम ।
अतएव पदार्थमण्डले निपतत्क्वापि न याति कुण्ठताम ॥३॥

इदमेकमनन्तशो हठाविह वस्तून्यखिलानि खण्डयन ।
तव देव दृगस्त्रमीक्ष्यते युगपद्विश्वविसर्पिविक्रमम् ॥४॥

समुदेति विनव पर्ययन खलु द्रव्यमिद विना न ते ।
इति तद्द्वितयावलम्बिनी प्रकृतिर्देव सवव तावकी ॥५॥

न विनाश्रयिण किलाश्रयो न विनवाश्रयिण स्युराश्रयम ।
इतरेतरहेतुता तयोर्नियतार्कातपभास्वरत्ववत ॥६॥

विधिरेष निषेधबाधित प्रतिषेधो विधिना विरूक्षित ।
उभय समतामुपेत्य तद्यतते सहितमर्थसिद्धये ॥७॥

न भवन्ति यतोऽन्यथा क्वचिज्जिन वस्तूनि तथा भवन्त्यपि ।
समकालतयावतिष्ठते प्रतिषेधो विधिना सम तत ॥८॥

नहि वाच्यमवाच्यमेव वा तव माहात्म्यमिद द्वयात्मकम ।
उभयकतरत् प्रभाषिता (णा) रसना न शतखण्डतामियात ॥९॥

क्रमत किल वाच्यतामियाद्युगपद द्वयात्मकमेत्यवाच्यताम ।
प्रकृति किल वाङ्मयस्य सा यदसौ शक्तिरशक्तिरेव च ॥१०॥

स्वयमेकमनेकमप्यवस्तवयस्तत्त्वमतर्कित पर ।
इदमेव विचारगोचर गतमायाति किलार्थगौरवम ॥११॥

न किलकमनेकमेव वा समुदायावयवोभयात्मकम ।
इतरा गतिरेव वस्तुन समुदायावयवौ विहाय न ॥१२॥

त्वमनित्यतयावभाससे जिन नित्योऽपि विभासि निश्चितम ।
द्वितयी किल कार्यकारितां तव शक्ति कलयत्यनाकुलम ॥१३॥

क्रिमनित्यतया विना क्रमस्तमनाक्रम्य किमस्ति नित्यता ।
स्वयमारचयन क्रमाक्रम भगवन द्व्यात्मकतां जहासि किम ॥१४॥

न किल स्वमिहैककारण न तवक पर एव वा भवन ।
स्वपरावबलम्ब्य वल्गतो द्वितय कायत एव कारणम ॥१५॥

न हि बोधमयत्वम‍्यतो न च विज्ञानविभक्तय स्वत ।
प्रकट तव देव केवले द्वितय कारणमभ्युदीयते ॥१६॥

स्वपरोभयभासि ते दिशां द्वितयीं यात्युपयोगवभवम ।
अनुभूतय एव तावश बहिरन्तमुखहासविभ्रम ॥१७॥

विषयं परितोऽवभासयन् स्वमपि स्पष्टमिहावभासयन ।
मणिदीप इव प्रतीयसे भगवन् द्व्यात्मकबोधदशन ॥१८॥

न परानवभासयन भवान परतां गच्छति वस्तुगौरवात् ।
इवमत्र परावभासन परमालम्ब्य यदात्मभासनम ॥१९॥

‍यवहारदृशा पराश्रय परमार्थेन सदात्मसश्रय' ।
युगपत प्रतिभासि पश्यता द्वितयी ते गतिरीशतेतरा ॥२०॥

यदि सवगतोऽपि भाससे नियतोऽय‍तमपि स्वसीमनि ।
स्वपराश्रयता विरुध्यते न तव द्व्यात्मकतव भासि (ति) तन ॥२१॥

अपवादपव समन्तत स्फुटमुत्सगमहिम्नि खण्डिते ।
महिमा तव देव पश्यता तवतद्रूपतयव भासते ॥२२॥

अनवस्थितिमेवमाश्रयन्भवत्वे विवधव व्यवस्थितिम ।
प्रतिगाढविघट्टितोऽपि ते महिमा देव मनाङ न कम्पते ॥२३॥

हठघट्टनयाऽनया तव दृढमि पीडितपौण्ड्रकादिव ।
स्वरसप्लव एष उच्छलन परितो मा क्षिप्त करिष्यति ॥२४॥

विरता मम मोहयामिनी तव पादाब्जगतस्य जाग्रत' ।
कृपया परिवत्य भाक्तिक भगवन क्रोडगत विधेहि माम ॥२५॥

पुष्पिताग्राछन्द

(१६)

अयमुदयदनन्तबोधशक्तिस्त्रिसमयविश्वसमग्रघस्मरात्मा ।
धतपरमपराहचि स्वतृप्त स्फुटमनुभूयत एव ते स्वभाव ॥१॥

जिनवर परितोऽपि पीड्यमान स्फुरसि मनागपि नीरसो न जातु ।
अनवरतमुपर्यु पर्यभीक्ष्ण निरवधिबोधसुधारस ददासि ॥२॥

शमरसकलशावलीप्रवाहै कमविततै परितस्तवैष धौत ।
निरवधिभवसन्ततिप्रवृत्त कथमपि निगलित कषायरङ्ग ॥३॥

सुचरितशितसविदस्त्रपातात्तव तडिति त्रुटतात्मबन्धनेन ।
अतिभरनिचितोच्छवसत्स्वशक्तिप्रकरविकाशमधापित स्वभाव ॥४॥

निरवधिभवभूमिनिम्नखातात सरभसमुच्छलितो महद्भिरोघ ।
अयमतिविततस्तवाच्छबोधस्वरसभर कुरुते समग्रपूरम् ॥५॥

निरवधि च दधासि निम्नभाव निरवधि च म्रियसे विशुद्धबोध ।
निरवधि दधतस्तवोन्नतत्व निरवधि स्वे[च]विभो विभाति बोध ॥६॥

अयमनवधिबोधनिर्भर सन्ननवधिरेव तथा विभो विभासि ।
स्वयमथ च मितप्रदेशपुञ्ज प्रसभविपुञ्जितबोधवभवोऽसि ॥७॥

मितसहृततया समग्रकमक्षयजनिता न खलु स्खलन्ति भावा ।
अनवरतमनन्तवीर्यगुप्तस्तव तत एव विभात्यनन्तबोध ॥८॥

दगवगमगभीरमात्मतत्त्व तव भरत प्रविशद्भिरर्थसार्थै ।
निरवधिमहिमावगाहहीन पृथगचला क्रियते विहारसीमा ॥९॥

निरवधिनिजबोधसिन्धुमध्ये तव परितस्तरतीव वेद विश्वम ।
तिमिकुलमिव सागरे स्वगात्र प्रविरचयन्निजसन्निवेशराजी ॥१०॥

प्रतिपदमेतदेवमित्यनन्ता भुवनभरस्य विवेचयत्स्वशक्ती ।
त्ववगमगरिम्ण्यनन्तमेतद्युगपदुदेति महाविकल्पजालम ॥११॥

विधिनियममयाद्भुतस्वभावात स्वपरविभागमतीवगाहमान ।
निरवधिमहिमाभिभूतविश्व वधदपि बोधमुपधि सङ्कर न ॥१२॥

उदयति न भिदा समानभावाद्भवति भिदव समन्ततो विशेष ।
द्वयमिदमवलम्ब्य तेऽतिगाढ स्फुरति समक्षतयात्मवस्तुभाव ॥१३॥

इदमुदय (द) भनन्तशक्तिचक्र समुदयरूपतया विगाहमान ।
अनुभवसि सदाऽप्यनेकमेक तदुभयसिद्धमिम विभो स्वभावम ॥१४॥

निरवधिघटमानभावधारापरिणमिताक्रमवत्यनन्तशक्ते ।
अनुभवनमिहात्मन स्फुट ते वरद यदोऽस्ति तदप्यनन्तमेतत ॥१५॥

प्रतिसमयलसद्विभूतिभाव स्वपरनिमित्तवशादनन्तभाव ।
तव परिणमत स्वभावशक्त्या स्फुरति समक्षमिहात्मवभव तत ॥१६॥

इममचलमनाद्यनन्तमेक समगुणपर्ययपूर्णमन्वय स्वम ।
स्वयमनुसरतश्चिदेकधातुस्तव पिबतीव परान्वयानशेषान ॥१७॥

प्रतिनियतमनश्मूलसत्ताप्रभृतिनिरन्तरमातदन्त्यभेदात ।
प्रतिपदमतिदारयत समग्र जगदिदमेतदुवेति ते विदस्त्रम ॥१८॥

विघटितघटितानि तुल्यकाल तव विदत सकलार्थमण्डलानि ।
अवयवसमुन्नयबोधलक्ष्मीरखिलतमा सममेव निर्विभाति ॥१९॥

जडमजडमिद चिदेकभाव तव नयतो निजशुद्धबोधधाम्ना ।
प्रकटयति तवव बोधधाम प्रसभमिहान्तरमेतयो सुदूरम् ॥२०॥

तव सहजविभाभरेण विश्व वरद विभात्यविभामय स्वभावात ।
स्नपितमपि महोभिरुष्णरश्मेस्तव विरहे भुवन न किञ्चिदेव ॥२१॥

स्पृशदपि परमोदगमेन विश्व वरद परस्य न तेऽस्ति बोधधाम ।
धवलयदपि सौधमिद्धधार धवलगहत्य सुधाम्बु न स्वभाव ॥२२॥

परिणतसकलात्मशक्तिसार स्वरसभरेण जगत्त्रयस्य सिक्त ।
तव जिन जरठोपयोगकन्द श्रयति बहूनि सम रसान्तराणि ॥२३॥

त्रिसमयजगदेकदीपकोऽपि स्फुटमहिमा परमागमप्रकाश ।
अयमिह तव सविवेककोण(ण)कलयति कोटमण किलाह्नि लीलाम ॥२४॥

निजगरिमनिरन्तरावपीडप्रसभविकाशविस(श)कटा क्रमेण ।
अविकलविलसत्कलौघशाली वरद विशाणु ममकवित् स्फुलिङ्गाम ॥२५॥

प्रहर्षिणी छन्द

(१७)

वस्तूनां विधिनियमोभयस्वभावावेकाशे परिगतशक्तय स्खलन्त ।
तस्याथ वरद वदन्त्यनुग्रहात्त स्याद्वादप्रसभसमथनेन शब्दा ॥१॥

आत्मेति ध्वनिरनिवारितात्मवाच्य शुद्धात्मप्रकृतिविधानतत्पर सन ।
प्रत्यक्षस्फुरदिदमेयमुच्चनीच नीत्वास्त त्रिभवनमात्मनास्तमेति ॥२॥

तस्यास्तगमनमनिच्छता त्वयव स्यात्काराश्रयगुणाद्विधानशक्तिम ।
सापेक्षा प्रविदधता निषधशक्तिवत्तासौ स्वरसभरेण वल्गतीह ॥३॥

तद्योगाद विधिमधुराक्षर प्रवाहा अप्येते कटककठोरमारटन्ति ।
स्वस्यास्तगमनभयान्निषधमुच्च स्याकतादवचनमेव घोषयन्त ॥४॥

आलोक्य विधिमयता नयस्य चासौ शब्दोऽपि स्वयमिह गाहतेऽथरूपम ।
सत्येव निरवधिवाच्यवाचकानां भिन्नत्व विलयमुपति वष्टमेतत् ॥५॥

शब्दानां स्वयमपि कल्पितेऽर्थभावे भाव्येत भ्रम इति वाच्यवाचकत्वम ।
किन्त्वस्मिन नियमभृते न जातु सिद्धयेत दृष्टोऽय घटपट(घट)शब्दयोर्विभेद ॥६॥

अप्येतत सदिति वचोऽत्र विश्वचुम्बि सत्सर्व नहि सकलात्मना विधत्त ।
अर्थानां स्वयमसतां परस्वरूपात्त सत्कुर्यन्नियतमसद्वचोऽप्यपेक्षाम ॥७॥

अस्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टासौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती ।
चितत्त्व विहितमिव निजात्मनोच्च प्रव्यक्त वदति परात्मना निषिद्धम ॥८॥

नास्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टासौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती ।
प्रव्यक्त वदति परात्मना निषिद्ध चित्तत्व विहितमिव निजात्मनोच्चै ॥९॥

सत्यस्मिन स्वपरविभेदभाजि विश्वे किं ब्रूयात् विधिनियमाद्वयात् स शब्द ।
प्रब्रूयाद्यदि विधिमेव नास्ति भेद प्रब्रूते यदि नियम जगत प्रणष्टम ॥१०॥

एकान्तात सदिति वचो विसर्पि विश्व स्पृष्ट्वापि स्फुटमवगाहते निषधम ।
सन्तोऽर्था न खलु परस्परानिषधाद व्यावृत्तिं सहजविजृम्भितां भजेयु ॥११॥

एकान्तादसदिति गीजगत्समग्र स्पृष्ट्वापि श्रयति विधि पुर स्फुरन्तम ।
अन्योऽन्य स्वयमसदप्यनन्तमेतत प्रोत्थातु न हि सहते विधेरभावात ॥१२॥

उदयति न भिदा समानभावाद्भवति भिदव समन्ततो विशेष ।
इयमिदमवलम्ब्य तेऽतिगाढ स्फुरति समक्षतयात्मवस्तुभाव ।।१३।।

इदमुदय (व) मनन्तशक्तिचक्र समुदयरूपतया विगाह्मान ।
अनुभवसि सदाऽप्यनेकमेक तदुभयसिद्धमिम विभो स्वभावम ।।१४।।

निरवधिघटमानभावधारापरिणमिताक्रमवत्यन तशक्ते ।
अनुभवनमिहात्मन स्फुट ते वरद यदोऽस्ति तदप्यनन्तमेतत ।।१५।।

प्रतिसमयलसद्विभूतिभाव स्वपरनिमित्तवशादन तभाव ।
तव परिणमत' स्वभावशक्त्या स्फुरति समक्षमिहात्मवभव तत ।।१६।।

इममचलमनाद्यनन्तमेक समगुणपर्ययपूर्णमन्वय स्वम ।
स्वयमनुसरतश्चिदेकधातुस्तव पिबतीव परान्वयानशेषान् ।।१७।।

प्रतिनिशितमनशमूलसत्ताप्रभृतिनिरन्तरमाप्तवन्त्यभेदात् ।
प्रतिपदमतिदारयत समग्र जगदिदमेतदुदेति ते विदस्त्रम् ।।१८।।

विघटितघटितानि तुल्यकाल तव विदत सकलायमण्डलानि ।
अवयवसमुदायबोधलक्ष्मीरखिलतमा सममेव निर्विभाति ।।१९।।

जडमजडमिद चिदेकभाव तव नयतो निजशुद्धबोधधाम्ना ।
प्रकटयति तवव बोधधाम प्रसभमिहा तरमेतयो सुदूरम् ।।२०।।

तव सहजविभाभरेण विश्व वरद विभात्यविभामय स्वभावात ।
स्नपितमपि महोभिरुग्ररश्मेस्तव विरहे भुवन न किञ्चिदेव ।।२१।।

स्पृशदपि परमोदगमेन विश्व वरद परस्य न तेऽस्ति बोधधाम ।
धवलयदपि सौधमिद्धधार धवलगहस्य सुधाम्बु न स्वभाव ।।२२।।

परिणतसकलात्मशक्तिसार स्वरसभरेण जगत्त्रयस्य सिक्त ।
तव जिन जरठोपयोगकन्द श्रयति बहूनि सम रसान्तराणि ।।२३।।

त्रिसमयजगदेकदीपकोऽपि स्फुटमहिमा परमागमप्रकाश ।
अयमिह तव सविवेककोणे(ण)कलयति कीटमणे किलाह्नि लीलाम् ।।२४।।

निजगरिमनिरन्तरावपीडप्रसभविकाशविस(श)कटर क्रमेण ।
अविकलविलसत्कलौघशाली वरद विशाशु ममकचित स्फुलिङ्गाम ।।२५।।

प्रहर्षिणी छन्द

(१७)

वस्तूना विधिनियमोभयस्वभावावेकांशे परिणतशक्तय स्खलन्त ।
तत्त्वाथ वरद वदन्त्यनुग्रहात्ते स्याद्वादप्रसभसमथनेन शब्दा ॥१॥

आत्मेति ध्वनिरनिवारितात्मवाच्य शुद्धात्मप्रकृतिविधानतत्पर सन ।
प्रत्यक्षस्फुरदिदमेवमुच्चनीच नीत्वास्त त्रिभुवनमात्मनास्तमेति ॥२॥

तस्यास्तगमनमनिच्छता त्वयव स्यात्काराश्रयणगुणाद्विधानशक्तिम ।
सापेक्षा प्रविदधता निषधशक्तिदत्तासौ स्वरसभरेण वल्गतीह ॥३॥

तद्योगाद विधिमधुराक्षर ब्रुवाणा अप्येते कटुककठोरमारटन्ति ।
स्वस्यास्तगमनभयान्निषेधमुच्च स्वाकूतादवचनमेव घोषयन्त ॥४॥

त्रलोक्य विधिमयता नयन्न चासौ शब्दोऽपि स्वयमिह गाहतेऽथरूपम ।
सत्येव निरवधिवाच्यवाचकाना भिन्नत्व विलयमुपति दृष्टमेतत ॥५॥

शब्दानां स्वयमपि कल्पितेऽथभावे भायेत भ्रम इति वाच्यवाचकत्वम ।
किन्त्वस्मिन् नियममृते म जातु सिद्धयेद दृष्टोऽय घटपट(घट)शब्दयोर्विभेद ॥६॥

अप्येनत सदिति वचोऽत्र विश्वचुम्बि सत्सव नहि सकलात्मना विधत्ते ।
अर्थाना स्वयमसतां परस्वरूपात तत्कुर्यान्नियतमसद्वचोऽप्यपेक्षाम ॥७॥

अस्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टासौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती ।
चित्तत्त्व विहितमिद निजात्मनोच्च अव्यक्त वदति परात्मना निषिद्धम ॥८॥

नास्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टासौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती ।
अव्यक्त वदति परात्मना निषिद्ध चित्तत्त्व विहितमिद निजात्मनोच्च ॥९॥

सत्यस्मिन स्वपरविभेदभाजि विश्वे किं ब्रूयात विधिनियमाद्वयात स शब्द ।
अब्रूयाद्यदि विधिमेव नास्ति भेद अब्रूते यदि नियम जगत प्रमृष्टम ॥१०॥

एकान्तात सदिति वचो विसर्पि विश्व स्पृष्ट्वापि स्फुटमवगाहते निषेधम ।
सतोऽर्था न खलु परस्परानिषेधाद व्यावृत्ति सहजविजृम्भिता व्रजेयु ॥११॥

एकान्तादसदिति गीजगत्समग्र स्पृष्ट्वापि श्रयति विधि पुर स्फुरन्तम् ।
अ योऽन्य स्वयमसदप्यनन्तमेतत प्रोत्थातु न हि सहते विधेरभावात ॥१२॥

भिन्नोऽस्मि भुवनभरान्न भाति भावोऽभावो वा स्वपरगतव्यपेक्षया तौ ।
एकत्र प्रविचरता द्विरूपशक्ति शब्दानां भवति यथा कथञ्चिदेव ॥१३॥

अस्तीति ध्वनिरनिवारित प्रशम्यान्यत् कुर्याद्विधिमयमेव नव विश्वम ।
स्वस्याथ परगमनान्निवतयन्न तन्नून स्पृशति निषेधमेव साक्षात ॥१४॥

नास्तीति ध्वनितमनङ्कुशप्रचाराद्यच्छ्रय झगिति करोति नव विश्वम ।
तन्नून नियमपदे तदात्मभूमावस्तीति ध्वनितमपेक्षते स्वय तत् ॥१५॥

सापेक्षो यदि न विधीयते विधिस्तत्स्वस्याथ ननु विधिरेव नान्निवत्ते ।
विध्यथ स खलु परान्निषिद्धमथ यत् स्वस्मिन्नियतमसौ स्वय ब्रवीति ॥१६॥

स्यात्कार किमु कुरुतेऽसतीं वा शब्दानामयमुभयात्मिका स्वशक्तिम् ।
यद्यस्ति स्वरसत एव सा कृति: किं नासत्या करणमिह प्रसह्य युक्तम ॥१७॥

शब्दाना स्वयमुभयात्मिकास्ति शक्ति शक्तस्तां स्वयमसतीं परो न कतु म ।
न व्यक्तिभवति कदाचनापि किन्तु स्याद्वाद सहचरमन्तरेण तस्या: ॥१८॥

एकस्मादपि वचसो द्वयस्य सिद्धौ किम्न स्याद्विफल इहेतरप्रयोग ।
साफल्य यदि पुनरेति सोऽपि तत्कि क्लेशाय स्वयमुभयाभिधायितेयम ॥१९॥

तन्मुख्य विधिनियमद्वयाद्यवुक्त स्याद्वादाश्रयणगुणोदितस्तु गौण ।
एकस्मिन्नुभयमिहानयोर्नु वाणे मुख्यत्व भवति हि तद्द्वयप्रयोगात ॥२०॥

मुख्यत्व भवति विवक्षितस्य साक्षात गौणत्व व्रजति विवक्षितो न य स्यात ।
एकस्मिस्तविह विवक्षितो(ते) द्वितीयो गौणत्व वधकुपयाति मुख्यसख्यम ॥२१॥

भावानामनवधिनिर्भरप्रवत्ते सघट्टे महसि परात्मनोरजस्रम ।
सीमान विधिनियमावसस्पृशन्तौ स्यात्काराश्रयणभृते विसवदाते ॥२२॥

वत्तेऽसौ विधिरधिक निषेधमैत्रीं साकाङ्क्षा वहति विधिं निषेधवाणी ।
स्यात्काराश्रयणसमर्पितात्मवीर्या वाख्यातो विधिनियमौ निजार्थमित्थम ॥२३॥

इत्येव स्फुटसदसन्मयस्वभाव वस्त्वेक विधिनियमो(भया)भिधेयम् ।
स्यात्कारे निहितभरे विवक्षित सन्नेकोऽपि क्षमत इहाभिधातुमेतत ॥२४॥

स्वद्रव्याद विधिरयमन्यथा निषेध क्षेत्राद्यै रपि हि निजेतर क्रमोऽयम् ।
इत्युच्च प्रथममिह प्रताड्य भेरी निर्बाध निजविषये चरन्तु शब्दा ॥२५॥

मत्तमयूर छन्द

(१८)

प्राच्य ज्योतिर्हि यात्मककर्मावृभक्तस्य क्रमक्रान्तोत्तेजितयोगागमसिद्धम् ।
मोहध्वान्तं व्यस्यदत्यन्तमनन्तं पश्याम्येतन्निश्चयमन्तः प्रविशाय ॥१॥

एको भावस्तावक एष प्रतिभाति व्यक्तानेकव्यक्तिमहिम्न्येकनिषण्णः (ण्ण) ।
यो नानेकव्यक्तिषु निष्णातमतिः स्यादेको भावस्तस्य तवैषो विषयः स्यात् ॥२॥

नो सामान्यं भासि यतस्त्वं विशेषैर्नि सामान्याः सन्ति कदाचिन्न विशेषाः ।
यत् सामान्यं भाति त एवात्र विशेषास्त्वं वस्तु स्याः स्वीकृतसामान्यविशेषः ॥३॥

द्रव्येणैको नित्यमपीशासि समन्तात् देवानेकः स्फूर्जसि पर्यायभरेण ।
एकानेको वस्तुत एष प्रतिभासि त्वं पर्यायद्रव्यसमाहारमयात्मा ॥४॥

दृष्टः कस्मिन् कश्चिदनेकेन विनैको यश्चानेकः सोऽपि विनैकेन न सिद्धः ।
सत् वस्तु स्यात् समुदायेन सदैकं देवानेकं स्वावयवर्षीति तदेव ॥५॥

एकानेकौ द्वौ समकं योन्यविरुद्धौ संगच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने ।
एकं द्रव्यं नूनमनेके व्यतिरेका एकानेको न्यायत एवास्युभयात्मा ॥६॥

यत् तद्द्रव्यं रक्षति नित्यत्वमनन्तं पर्याया ये ते रचयन्ति क्षणभङ्गम् ।
नित्यानित्यं वस्तु तयोर्वेत्सि समन्तान्नित्यानित्यद्रव्यविशेषकमयत्वात् ॥७॥

नित्यं किं हि स्यात् क्षणभङ्गिव्यतिरिक्तं नित्याद्वन्यः स्यात्क्षणभङ्गी कतरोऽत्र ।
नित्यावृत्तिः स्यान्न विनाशः क्षणिकैः स्यैर्नित्यावर्तिः स्युर्न विनाशाः क्षणिकास्ते ॥८॥

नित्यानित्यौ द्वौ सममन्योन्यविरुद्धौ संगच्छाते ता त्वयि वर्त्ती पथि भिन्ने नियमम् ।
द्रव्यं नित्यमनित्या व्यतिरेका नित्यानित्यौ(त्यो) न्यायत एवास्युभयात्मा ॥९॥

स्वद्रव्याद्यैः स्फूर्जसि भावस्त्वमिहान्यद्रव्याद्यैस्तु व्यक्तमभावः प्रतिभासि ।
भावाभावो वस्तुतयासीश समन्तात् भावाभावावस्थमुपानीय कृतो यत् ॥१० ॥

भावाद्भिन्नः कीदृगभावोऽत्र विधेयोऽभावो वा स्यात्कीदृग् भावेन विनासौ ।
तौ वस्त्वंशौ द्वौ स्वपराभ्यां समकालं पूर्णं शून्यं वस्तु किलाभित्य विभात ॥११॥

भावाभावौ द्वौ सममन्योन्यविरुद्धौ सङ्गच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने ।
भावः स्वांशाद् व्यक्तमभावस्तु परांशाद् भावाभावो न्यायत एवास्युभयात्मा ॥१२॥

सव वाच्य द्वयात्मकमेतत्क्रमत स्याद्वेवावाच्य तद्यु गपद वक्तुमशक्ते ।
तौ पर्यायौ द्वौ सह बिभ्रद भगवस्त्व वाच्यावाच्य वस्त्वसि किञ्चिज्जगतोर(हृ) ॥१३॥

वाच्याद यत किञ्चिदवाच्य न हि दष्ट वाच्य यत नेष्टमवाच्यव्यतिरिक्तम् ।
वागाश्रित्य स्वक्रमवत्यक्रमवत्ती वस्तु द्वयात्मक हि गरणीयास गरणीयात ॥१४॥

वाच्यावाच्यौ द्वौ सममन्योऽन्यविरुद्धौ सगच्छाते तौ त्वयि वत्तौ पथि भिन्ने ।
वाच्यौ व्यस्तौ यत्क्रमवाच्यस्तु समस्तो वाच्यावाच्यो यायत एवास्युभयात्मा ॥१५॥

सोऽय भाव कम यदेतत परमार्थाद्वत्ते योग यद्भूवनेन क्रियमाणम ।
शुद्धो भाव कारकचक्रे तव लीन शुद्धे भावे कारकचक्र च निगूढम ॥१६॥

जात जात कारणभावेन गहीत्वा जन्य जन्य कायतया स्व परिणामम ।
सर्वेऽपि त्व कारणमेवास्यसि काय शुद्धो भाव कारणकार्यविषयोऽपि ॥१७॥

वल्गन्त्व ये ज्ञाननिमित्तत्वमुपेता बाह्यो हेतुर्हेतुरिहान्तन किल स्यात ।
स्वस्माद्वेवोज्जम्भितचिदवीयविशेषाज्जातो विश्वव्यापकविज्ञानघनस्त्वम ॥१८॥

अन्य कर्ता कम किलान्यत् स्थितिरेषा य कर्ता त्व कम तदेवास्यविशेषात ।
देवाकार्षीस्त्व किल विज्ञानघन य सोऽय साक्षात् त्व खलु विज्ञानघनोऽसि ॥१९॥

विश्वव्याप्य सत्यविशेषे स्वगुणानां देवाधारस्त्व स्वयमाधेयभरोऽपि ।
एकाधाराधेयतयव ज्वलितात्मा तनवोच्चवल्गासि विज्ञानघनोऽयम ॥२०॥

आत्मा माता मेयमिद विश्वमशेष सम्बन्धेऽस्मिन सत्यपि नान्योन्यगतौ तौ ।
प्रत्यासत्ति कारणमैक्यस्य न सा स्यादर्थो वाच्य वक्त्रभिधान च विभिन्ने ॥२१॥

य प्रागासीदत्स्यदपेक्ष खलु सिद्ध प्रत्युत्पन्न सम्प्रति सिद्धोऽसि स एव ।
प्रत्युत्पन्नायत्तो[ते]वरक्तिरिहासीद[या]भूतापेक्षा सम्प्रति[ति]सा किल रक्ति ॥२२॥

एक भाव शाश्वतमुच्चरभिषिञ्चन भूत्वाभूत्वा त्व भवसीश स्वयमेव ।
एतद्भूत्वा यवभवन पुनरन्यन्न (तत) त्रकाल्य सङ्कलयन त्वामनुयाति ॥२३॥

एक साक्षादक्षरविज्ञानघनस्त्व शुद्ध शुद्धस्वावयवेष्वेव निलीन ।
अन्तमज्जदृवकसुखवीर्याविविशेषरेकोऽप्युवगच्छसि अविभ्रमनन्तम ॥२४॥

अध्यारूढोऽन्योन्यविरुद्धोद्धतधर्मे स्याद्वावेन प्रविभवतात्मविभूति ।
स्वामिन नित्य त्व निजतत्त्वैकपराणां किञ्चिद वलोऽत्यन्तमगाधोऽप्यवगाहम् ॥२५॥

वियोगिनीछन्द

(१६)

अजर पुरुषो जिन स्वय सहजज्योतिरजय्यचिद्भर ।
अयमदभुतसत्यवभवस्त्वमसि द्वयात्मकवृष्टिगोचर ॥१॥

न पराश्रयण न शून्यता न च भावान्तरसङ्करोऽस्ति ते ।
यतसस्थनिजप्रदेशकविहितो वस्तुपरिग्रह स्वयम ॥२॥

यदमूत इति स्फुरोदय सहश भाति विशेषण विभो ।
तदिहात्मपरायणो भवान सह भेद समुपति पुद्गल ॥३॥

चिदिलोस(श)विशेषण दधत्सहज न्यापि कुतोऽप्यबाधितम ।
उपयासि भिदामचेतनरखिलरेव सम समन्तत ॥४॥

विशदेन सदव सवत सहजस्वानुभवेन दीप्यत ।
सकल सह चेतनान्तररुदित दूरमिव तवान्तरम ॥५॥

निजभावभृतस्य सवतो निजभावेन सदव तिष्ठत ।
प्रतिभाति पररखण्डित स्फुटमेको निजभाव एव ते ॥६॥

अजडादिविशेषणरय त्वमनन्तयुगपद्विशेषित ।
भवसि स्वयमेक एव चेत प्रकटा तत्तव भावमात्रता ॥७॥

त्वमुपयुपरि प्रभो भवन्निवमस्तीत्यविभिन्नधारया ।
अविभावितपूवपश्चिम प्रतिभासि ध्रुव एव पश्यताम ॥८॥

अयमेकविशेष्यता गतस्त्वमनन्तात्मविशेषणव्रज ।
प्रभवन्नविमुक्तधारया भगवन भासि भवन्निरन्तर ॥९॥

अजडादिविशेषणैर्भृता निजधारा न तवति तुच्छताम ।
अजडादिविशेषणानि व क्षयमायान्ति धृतानि धारया ॥१०॥

अजडादिविशेषणानि ते परतो भेदकराणि न स्वत ।
दधत स्वयमद्वय सदा स्वमसाधारणभावनिर्भरम ॥११॥

अजडाद्यविभागत स्थितस्तव भावोऽयमनश एकक ।
अजडाद्यविभागभावनादनुभूति समुपति नान्यथा ॥१२॥

भवन भवतो निरङ्कुशं सकला भाष्टि सकारका* क्रिया ।
भवन द्वयतामवाप्यते क्रियया नव न कारकरपि ॥१३॥

भवने भवतो निरङ्कुशे क्व लसेत कारणकार्यविस्तर ।
न किलाभवनं करोति तत क्रियतेऽप्राभवन च तेन न (न) ॥१४॥

भवतीति न युज्यते क्रिया त्वयि कर्त्रादिकरम्वितोवया ।
भवनकविभूतिभारिणस्तव भेदो हि कलङ्ककल्पना ॥१५॥

अजडादिमय सनातनो जिन भावोऽस्यवकीर्णकश्मल ।
अयमुच्छलदच्छचित्प्रभाभरमग्नस्वपरक्रमाक्रम ॥१६॥

भगवन्नवकीर्णकश्मलो यदि भावोऽसि विभामय स्वयम ।
तदय स्वयमेव विस्फुरन न विमोह समुपषि कुत्रचित ॥१७॥

स विभाति विभामयोऽस्ति यो न विभायादविभामय* क्वचित ।
ननु सवमिद विभाति यत तदिय भाति विनव (विभव) निर्भरम् ॥१८॥

इदमेव विभाति केवल न विभातीवमिति क्व कल्पना ।
इदमित्यमुना विभाति तद् द्वितय नास्ति विभाविभागकृत् ॥१९॥

सहजा सततोदिता समा स्वसमक्षा सकला निराकुला ।
इयमद्भुतधाममालिनी ननु कस्यास्तु विभा विभावरी ॥२०॥

विधिवद वधती स्वत्वभवाद् विधिरूपेण निषेधमप्यसौ ।
परिशुद्धचिदेकनिभरा तव केनात्र विभा निषिध्यते ॥२१॥

अभित स्फुटितस्वभावया च्युतदिक्कालविभागमेकया ।
विभया भवत समन्ततो जिन सम्पूर्णमिद विभाव्यते ॥२२॥

न खलु स्वपरप्रकाशने मृग्यतेतात्र विभा विभान्तरम् ।
भवतो विभयव धीमत क्रमत कृत्स्नमिव प्रकाशते ॥२३॥

अनया विचरन्ति नित्यशो जिन ये प्रत्ययमात्रसत्तया ।
सकल प्रतियन्ति ते स्वय न हि बोधप्रतिबोधक क्वचित् ॥२४॥

अभितोऽनुभवन भवद्विभामहमेषोऽस्मि मुहुर्मुहु सम ।
जिन यावदुपषि पुष्कल स (स्व) मनन्तस्वविभामय स्वयम ॥२५॥

वंशस्थछन्द

(२०)

अतत्त्वमेव प्रणिधानसौष्ठवात तवेश तत्त्वप्रतिपत्तये परम।
विष वमन्त्योऽप्यमृत क्षरन्ति यत पदे पदे स्यात्पदसस्कृता गिर ॥१॥

परापरोल्लेखविनाशकृद बलाद विलीनदिक्कालविभागकल्पन।
विभात्यसौ सग्रहशुद्धदर्शनात त्वमीश चिन्मात्रविभूतिनिर्भर ॥२॥

विशुद्धयति यान्तिरसेन वल्गिता अपि स्खलन्त्योऽस्खलिता इवोच्छिखा।
निरशसत्त्वांशनिवेशदारुणास्त्वयीश मूर्च्छन्त्यजुसूत्रदृष्टया ॥३॥

समन्तत स्वावयवस्तव प्रभो विभज्यमानस्य विशीर्णसञ्चया।
प्रदेशमात्रा ऋजव पृथक पृथक स्फुरन्त्यनन्ता स्फुटबोधधातव ॥४॥

विशीर्यमाणा सहसव चित्कणास्त्वमेष पूर्वापरसगमाक्षम।
अनादिसन्तानगतोऽपि कुत्रचित परस्पर सघटना न गाहसे ॥५॥

क्षणक्षयोत्सगितचित्कणावलीनिकृत्तसामान्यतया निरन्वयम्।
भव तमालोकयतामसिक्षत विभाति नरात्म्यमिद बलात त्वयि ॥६॥

गतो गतत्वान्न करोति किञ्चन प्रभो भविष्यन्ननुपस्थितत्वत।
स नूनमर्थक्रिययेश युज्यते प्रवर्तमानक्षणगोचरोऽस्ति य ॥७॥

क्षणक्षयस्थैषु कणेषु सविदो न कार्यकाल कलयेद्धि कारणम।
तथापि पूर्वोत्तरवर्तिचित्कणहठाद्ध ता कारणकार्यता त्वयि ॥८॥

गलत्यबोध सकले कृते बलादुपप्लुपप्लु ध्वति चाकृते स्वयम।
अनादिरागानलनिव तिक्षणे तवष निर्वाणमितोऽन्त्यचित्क्षण ॥९॥

प्रदीपवन्निव तिमागतस्य ते समस्तमेवागमदेकशून्यताम।
न साहस कम तवेति कुवतो मम प्रभो जल्पत एव साहसम ॥१०॥

विचित्ररूपाकृतिभि समन्ततो व्रजन्निहार्थक्रियया समागमम।
त्वमेक एवाप्रतिषेधवभव स्वय हि विज्ञानघनोऽवभाससे ॥११॥

न किञ्चनापि प्रतिभाति बोधतो बहिर्विचित्राकृतिरेक एव सन।
स्वय हि कुवन् जलधारणादिक त्वमीश कुम्भादितयावभाससे ॥१२॥

स्वय हि कुम्भादितया न चेद भवान भवेद भवेत किं बहिरर्थसाधनम ।
त्वयीश कुम्भादितया स्वय स्थिते प्रभो किमथ बहिरर्थसाधनम ।।१३।।

त्वदेकविज्ञानघनाभिषघनात् समस्तमेतज्जडता परित्यजत् ।
अभिन्नवचिन्यमन तमथकृत् पृथक पृथग्बोधतयाऽवभासते ।।१४।।

त्वयीश विज्ञानघनौघघस्मरे स्फुटीकृताशायनिशयसम्पदि ।
स्फुरत्यभिव्याप्य सम समन्ततो बलात प्रवत्तो बहिरर्थनिह्नव ।।१५।।

तदेव रूप तव सम्प्रतीयते प्रभो परापोहतया विभासि यत ।
परस्य रूप तु तदेव यत्पर स्वय तवापोह इति प्रकाशते ।।१६।।

अभाव एवष परस्पराश्रयो व्रजत्यवश्य स्वपरस्वरूपताम ।
प्रभो परेषा त्वमशेषत स्वय भवस्यभावोऽल्पधियामगोचर ।।१७।।

इतीवमत्यन्तमुपप्लवावह सदोद्यतस्यान्यदपोहितु तव ।
स्फुरत्यपोहोऽयमनादिसन्ततिप्रवत्ततीव्रभ्रमभिद् विपश्चिताम ।।१८।।

परस्परापोहतया त्वयि स्थिता परे न काश्चिज्जनयन्ति विक्रियाम ।
त्यमेक एव क्षपयन्नुपप्लव विभोऽखिलापोहतयाऽवभाससे ।।१९।।

गत तवापोहतया जगत्त्रय जगत्त्रयापोहतया गतो भवान ।
अतो गतस्त्व सुगतस्तथागतो जिनेन्द्र साक्षादगतोऽपि भाससे ।।२०।।

सम समन्तश्च बहिश्च वस्तु सत् प्रसह्य निह्नुत्य निरकुशा सती ।
न किञ्चिदस्तीति समस्तशून्यतामुपेयुषी सर्वविदिहावभासते ।।२१।।

उपप्लवायोच्छलिता सम बलात किलेश शून्य परिमार्ष्टि कल्पना ।
क्व किं कियत केन कुत कथ कदा विभातु विश्वेऽस्तमिते समन्तत ।।२२।।

समस्तमेतद्भ्रम एव केवल न किंचिदस्ति स्पृशता विनिश्चयात ।
पिपासवोऽमी मृगतृष्णिकोदक अयन्ति नून प्रतिमामृगा भ्रमम ।।२३।।

इतीवमुच्चावचमस्तमामृशत प्रसह्य शून्यस्य बलेन सर्वत ।
न किञ्चिदेवात्र विभोऽवशिष्यते न किञ्चिदस्तीत्यवशिष्यते सुधी ।।२४।।

न यस्य विश्वास्तमयोत्सवे स्पृहा स वेत्ति निर्निक्तत्तम न किञ्चन ।
असीमविश्वास्तमयप्रमार्जिते प्रवेश्य शून्ये कृतिन कुरुष्व माम ।।२५।।

वंशस्थवृत्तम्

(२१)

सुनिस्तुषात्तावधिशुद्धमूलतो निरन्तरोत्सर्पगुणपयम ।
विमोहयन्त्योऽन्यमनन्यगोचरा स्फुरन्त्यनन्तास्तव तत्त्वभूमय ।।१।।

यदि स्वयं भात्यविशेषता त्वमेस्तदा न सामान्यमिद तवादिमम ।
स्थिता स्वशक्त्योभयतोऽपि शाश्वतस्तवैत्यनन्ता परिणामभूमिका ।।२।।

अलङ्घितद्रव्यतया स्वमेकतामुपैषि पर्यायमुखादनेकताम् ।
त्वमेव देवान्तिमपर्ययात्मना सुनिस्तुषात्म परमोऽवभाससे ।।३।।

त्वमेकतां यासि यदीश सर्वथा तदा प्रस्तस्यन्ति विशेषणानि ते ।
विशेषणानां विरहे विशेष्यतां विहाय देवास्तमुपैषि निश्चतम ।।४।।

अ च तव द्रव्यात्मकतया यद भवान स्वय विशेष्योऽपि विशेषणान्यपि ।
विशेष्यकर्मेण न यासि भिन्नतां पृथक् पृथक् भासि विशेषणश्रिया ।।५।।

विभो विशेष्यस्य तथाविशेषतो विशेषणानामविशेष एव न ।
त्वया सम यान्ति न तानि भिन्नतां परस्पर भिन्नतयैवमीशते ।।६।।

विभाति वस्ति च विनय वसमान् न चास्ति वस्ति क्रमसमन्तरेण सा ।
विगाह्य नित्यक्षणिकान्तर महल्लसन्त्यनन्तास्तव कालपर्यया ।।७।।

सतो न नाशोऽस्ति न चासदुद्भवो व्ययोदयाभ्यां च विना न किञ्चन ।
त्वमीश सन्नेव विचसते तथा व्ययोदयौ ते भवत सत यथा ।।८।।

उदीयमानव्ययमानमेव सद् विवर्तशून्यस्य न जातु वस्तुता ।
क्षणे क्षणे यन्नवतां न गाहते कथ हि तत्कालसहं भवेदिह ।।९।।

क्षणक्षयस्त्वां कुरुते पृथक् पृथक् अ्वस्वभैक्यं नयते निरन्तरम् ।
अनन्तकाल कलयेति वाह्यन विभास्युभाभ्यामयमीश चरित ।।१०।।

क्षय हि सन्नेव भवस्तव व्ययाद्भवसमेव च सिद्धपर्यय ।
तथापि सन्मात्रनिमसहिसपरए विनेश सन्नेव भवान् विभासते ।।११।।

न भासि सामान्यविशेषवत्तया विभास्यसौ त्व स्वयमेव तद्द्वयम ।
न वस्तु सामान्यविशेषमात्रत पर किमप्यैति विमर्शगोचरम ।।१२।।

स्वय समानरिह भूयते हि यत् तदेव सामान्यमुशन्ति नेतरत् ।
समा विशेषास्तव देव यावता भवन्ति सामा'यमिहासि तावता ।।१३।।

पथकता यासि तथा समानता तथा विशेषाश्च यथा विभिव्यसे ।
स्वविक्रिया भाति तवव सोभयी न भिन्नसामान्यविशेषभागसि ।।१४।।

समा विशेषा भवतो भर्वा त ये व्रजन्ति ते भावमुखात् समानताम ।
विशेषरूपेण सदाऽसमानता विभो भवन्ती भवतो न भिद्यते ।।१५।।

समग्रसामान्यमुपेति वस्तुता न तन्मयद्रव्यभरात् पृथग्भवन (त्) ।
विशेषता द्रव्यभरे तवप्ययद् विभागतस्तेष्वपि देव लीयते ।।१६।।

न चकसामा'यमिद तव प्रभो स्वपययेभ्य पृथगेव भासते ।
स्वपययाणा दृढयद विशेषतामभागवत्त तविहावभासते ।।१७।।

तवेति सत प्रत्ययपीतमञ्जसा समस्तमेतत्प्रतिभाति तन्मयम ।
अखण्डित प्रत्यय एव ते तु सन भवन्मयत्व न जहाति जातुचित ।।१८।।

असौ स्वतो भाववतस्तव प्रभो विभति भावोऽत्र विशेषण यथा ।
तथा'यतोऽभाववतोऽनिवारितो भवत्वभावोऽपि विशेषण तव ।।१९।।

विभाति भावो न निराश्रय क्वचित तदाश्रयो य स तु भाववानिति ।
न जात्वभावोऽपि निराश्रय स्फुरेदभाववानापतितस्तदाश्रय ।।२०।।

तयो सहैवापततोर्विरुद्धयोन निर्विरोध तव वस्तु शीयते ।
उदीयते देव तथव तत्पर भवत किलात्मा पर एव चाभवत ।।२१।।

न जात्वभावस्य विभाति तुच्छता स्वय हि वस्त्वाश्रयतोर्जित नयात ।
यथास्ति भाव सकलार्थमण्डली तथाऽस्त्यभावोऽपि मिथो विशेषणात ।।२२।।

स्फुरत्यभाव सकलस्य य प्रभो स्थित समस्तेऽपि परस्पराश्रयात ।
नयत्यय त्वा स्वमुखेन दारुण स्फुटकसवि'मयमीश शून्यताम ।।२३।।

करोति भावस्तव बोधवस्तुता करोत्यभावोऽप्यविशषतोऽत्र ताम ।
उभौ सम तौ लि (नि) हतो भूताभूतौ प्रसह्य सव सह सविर्दाचषो ।।२४।।

त्वदसमधुक्षणदारुणो भवन समानिश वद्धत एप मस्मक ।
प्रसीद विश्वकवरम्भित सम विश प्रभोऽन्तस्त्वमनन्त एव मे ।।२५।।

(२२)

मन्दाक्रान्ता

प्रत्यक्षार्चि प्रचयखचितकान्त निष्कम्पदीव्यद्
बाह्यस्पर्शप्रणयविमुखाक्षीणसंवेदनस्य ।
मग्नो मग्ना दृशमतिशया मज्जयन् तरन्त
स्वामिन्नहन वहति भवत कोऽयमानन्दप्रवाह ॥१॥

किञ्च ब्रूम किमिह दहनादिन्धन स्याद विभिन्न
येन व्याप्त भवति दहनेनेन्धन नाग्निरेव ।
ज्ञेय ज्ञानात् किमु च भवतो विश्वमेतद्विभिन्न
येन व्याप्त भवति भवतो नेश विश्व त्वमेव ॥२॥

नून नान्तर्विशति न बहिर्याति किन्त्वान्त एव (किन्त्वन्तरेव)
व्यक्तावर्त्त मुहुरिह परावर्त्तिमुच्चरुपति ।
ज्ञानास्थाद्व क्व किल निपतेत पीतसर्वावकाश
सवद्र यस्वरसविशदो विश्वगण्डूष एष ॥३॥

निर्भागोऽपि प्रसभमभित खण्डयसे त्व नयौघ
खण्ड खण्ड कृतमपि विभु सदधाति प्रमैव ।
देवाप्येव भवति न भवान खण्डितायोजितश्री
रन्यव श्री स्फुरति सहजाखण्डखण्डव भतु ॥४॥

भिन्नोऽभेद स्पृशति न विभो नास्त्यभिन्नस्य भेदो
भेदाभेदद्वयपरिणतस्त्व तु नित्य तथापि ।
भिन्नभाविवरद भवतो भिन्नभावस्य साक्षात
स्वामिन् कान्या गतिरिह भवेत तदद्वय ते विहाय ॥५॥

सामान्यस्योल्लसति महिमा किं विनासौ विशेष
र्नि सामान्या स्वमिह किममी धारयन्ते विशेषा ।
एकद्रव्यग्लपितविततानन्तपर्यायपुञ्जो
दृक्सवित्तिस्फुरितसरसस्त्व हि वस्तुत्वमेषि ॥६॥

एकोऽनेको न भवति न चानेक एकत्वमेति
व्यक्त ह्येतत्तदुभयमयस्त्व तु किं स्यान्न विद्म ।
जानीमोऽन्यद्भवति किल यो यत्समाहारजन्मा
तस्यावश्य भवति युगपत्तत्स्वभावोऽनुभाव ॥७॥

अन्यो नश्यत्युदयति परः शश्वदुद्भासतेऽन्य
स्तीव्रस्तस्मिंस्त्वय समतया पक्षपातस्त्रयोऽपि ।
तेन ध्रौव्यप्रसवविलयालिङ्गितोऽसि स्वयं त्वं
त्वत्तो बाह्यं त्रितयमपि तच्छून्यमेवान्यथा स्यात् ॥८॥

भावाभावं तव रचयतः कुर्वतो भावभावं
नूनं भावो भवति भगवन् भावनाशोऽस्ति कोऽन्यः ।
अस्तित्वस्यास्खलितभवनोल्लासमात्रं यथतद्
भङ्गोत्पादद्वयमपि तथा निश्चितं तत्त्वमेव ॥९॥

एकः कोऽप्यस्खलितमहिमा प्रागभावाद्यभाव—
राक्रान्तोऽपि स्फुरसि भगवंस्त्वं सदा भाव एव ।
एकोऽपि त्वं प्रसभमभितः प्रागभावाद्यभाव—
भिन्नः स्वामिन् कृतपरिणतिर्भासि रूपैश्चतुर्भिः ॥१०॥

पूर्णः पूर्णो भवति नियतं रिक्त एवास्ति रिक्तो
रिक्तः पूर्णस्त्वमसि भगवन् पूर्ण एवासि रिक्तः ।
यल्लोकानां प्रकटमिह ते तत्त्वघातोद्यतं तद्
यत्तत्तत्त्वं किमपि न हि तल्लोकदृष्टं प्रमार्ष्टि ॥११॥

सर्वे भावाः सहजनियताऽन्योन्यसीमान एते
संश्लेषेऽपि स्वयमपतिताः शश्वदेव स्वरूपात् ।
ज्ञानज्योत्स्नास्वरसविसरः सर्वदा विश्वमेतद्
विश्वाद् भिन्नः स्नपय भगवन् सङ्करस्ते कुतः स्यात् ॥१२॥

मोहः कर्मप्रकृतिभरतो मोहतः कर्मकिट्टं
हेतुत्वेन द्वयमिति मिथो यावदात्मा न तावत् ।
क्षीणे त्वस्मिंस्तव विलसतो नूनमात्मैव नान्यो
निःसीमन्यस्मिन्निवससहजज्ञानपुञ्जे निमग्नः ॥१३॥

ज्ञानक्रीडारभसलसितवल्गतः सर्वतस्ते
मोहाभावाद् भवति भगवन् कर्तृभावो न भूयः ।
कर्तृत्वे वा स्वयमपि भवन् केवलो ज्ञानपुञ्जो
ज्ञानादन्यत् किमिह कुरुषे निर्विशङ्को रमस्व ॥१४॥

देवालम्बो भवति युगपत् विश्वमुत्तिष्ठतस्ते
बाह्यास्पर्शाद् विमुखमहिमा त्वं तु नालम्ब एव ।
स्वात्मालम्बो भवसि भगवन्नुज्झितानस्तथापि
स्वात्मा त्वेष ज्वलति किल ते शुद्धविश्वस्वभावः ॥१५॥

यस्मिन् भावस्त्रिसमयभूवस्तुल्यकाल प्लवन्ते
यत्कल्लोला प्रसभमभितो विश्वसीम्नि स्खलन्ति।
स त्वं स्वच्छस्वरसभरत पोषयन पूर्णभाव
भावाभावोपचितमहिमा ज्ञानरत्नाकरोऽसि ॥१६॥

संविद्वीच्यस्तव तत इतो देव वल्गन्त्य एता
शुद्धज्ञानस्वरसमयता न क्षमन्ते प्रमाष्टुं म्।
विश्वच्छायाघटनविकसत्पुष्कल व्यक्तिगूढां
प्रौढिं विन्दत् सर्वमिदधति ज्ञानसामान्यमेव ॥१७॥

अन्यद्विश्व बहिरिह तव ज्ञानविश्व तथा यत
संविद्विश्व यदिह किल सा संविदेवावभाति।
सिंहाकारो मदननिहित किं मधूच्छिष्टतोऽन्यो
विश्वाकारस्त्वयि परिणत किं परस्त्वन्महिम्न ॥१८॥

मित्वा मेय पुनरपि मिते किं फल ज्ञातुर यत
मातु विश्व स्वयमिह मित नासि नित्योद्यतस्त्वम्।
दृक्संवित्त्यो स्खलितमखिल रक्षतस्ते स्ववीर्य-
व्यापारोऽसौ यदसि भगवन्नित्यमेवोपयुक्त ॥१९॥

नानारूप स्थितमतिरसाद् भासयद विश्वमेतत
शब्दब्रह्म स्वयमपि सम यन्महिम्नाऽस्तमेति।
नित्यव्यक्तस्त्रिसमयभवद्व भवारम्भसूम्ना
निस्सीमापि ज्वलसि स तव ज्योतिषा भावपुञ्ज ॥२०॥

उद्यद्विश्वस्वरसमनिश ममसु व्याप्य गाढ
ल धप्रौढिस्तडिति परितस्ताडयन् सवभावान्।
देवात्यन्त स्फुरति सतत निर्निमेषस्तवोच्च-
रेक कोऽथ त्रिसमयजगद्घस्मरो दग्विकाश ॥२१॥

सवत्राप्यप्रतिघमहिमा स्वप्रकाशेन शुम्भन
दूरोन्मज्जत्स्वरसविसरद्रावयन सवभावान्।
विश्वालम्बोच्छलितबहुलव्यक्तिसीमन्तितश्री
रेक कोऽप विलसति विभोर्वात्यचत यपुञ्ज ॥२२॥

एकाकारस्वरसभरतोऽनन्तचैत यराजी
सज्ज कतु प्रतिपदमभूर्निर्विभागावभासा।
आ विश्वान्तान्निविडनिकर्षविष्वगुद्भासमान
स्वामिन्नेक स्फुरदपि भवान् कृत्स्नमन्यत प्रसाष्टि ॥२३॥

पीत पीत वमतु सुकृती नित्यमत्यन्तमेतत
तावद्यावज्ज्वलति वमनागोचरो ज्योतिरन्त ।
तस्मिन् देव ज्वलति युगपत सर्वमेवास्य वान्त
स्वयं पीत भवति न तथाप्येष वान्ताव एव ॥२४॥

एकानेक गुणवदगुण शून्यमत्यन्तपूर्णं
नित्यानित्य विततमतत विश्वरूपकरूपम् ।
चित्प्राग्भारग्लपितभुवनाभोगरङ्गत्तरङ्गं—
रुन्मज्जन्त कलयति किल त्वामनेकान्त एव ॥२५॥

---

(२३)

हरिणी छन्द

जयति परम ज्योतिर्जैत्र कषायमहाग्रह—
ग्रहविरहिताकम्प्योद्योत दिवानिशमुल्लसत ।
ज्वलति परितो यस्मिन भावा वहन्ति तदात्मतां
हुतवहहठाखण्डग्रासीकृते धनवच्च समम ॥१॥

त्वमसि भगवन विश्वव्यापिप्रगल्भचिदुद्गमो
मृदुरसदृशप्रज्ञोन्मेष स्खलन्निह रय जन ।
सकलमफलविश्वक्रीडाविकारविडम्बनै
कतिपयपदन्यासराशु त्वयीश विशाम्यथम ॥२॥

किमिदमुदयत्यानन्दौघमनांसि विघूर्णयत्
सहजमनिश ज्ञानस्वय चमत्कृतिकारित ।
प्रसभविलसद्वीर्यारम्भप्रगल्भगभीरया
तुलयति दृशा विश्व विश्व यदित्यवहेलया ॥३॥

ललितललितरात्मन्यास समग्रमिव जगत—
त्रिसमयलसद्भावव्याप्त सम ज्वलयन्नयम ।
तदुपधिनिभाद वचित्र्येण प्रपञ्च्य चिदेकतां
ज्वलसि भगवन्नेकान्तेन प्रसह्य निरिन्धन ॥४॥

समपतितया स्फीतस्फीतोद्विलासलसद्वृशा
स्वरसकुसुम विश्व विश्वात्तवेश विचिन्वत ।
किमपि परतो नान्तस्तत्त्वग्रह प्रतिपद्यते
विकसति पर भिन्नाभिन्ना दृगेव समन्तत ॥५॥

इवमतिभराज्ञानाकार सम स्नपयन जगत
परिणतिमितो नानाकारस्तवैष चकास्त्ययम ।
तदपि सहजव्याप्त्या रुन्धन्नवान्तरभावना
स्फुरति परितोऽप्येकाकारश्चिदेकमहारस ॥६॥

सममुदयत शान्तातङ्क स्वभावविलासिभि—
श्चिदचलकलापुञ्ज पुञ्जीकृतात्मविशुद्धिभि ।
अयमतिभरक्षोभारम्भ स्फुटानुभवस्तव
प्रलयमगमच्चित्राकार कषायपरिग्रह ॥७॥

उदयसि यदा ध्वस्ताधार भरात परित (तोऽ) स्खलत
प्रवितततमिद सम्यक् सविहितानमुदञ्चयन् ।
अयमभिभवन्नन्तस्तत्त्व जनस्य निराश्रय
ध्वसिति कपटग्रन्थिर्गाढस्तदा प्रविलीयते ॥८॥

विषयततयो भान्त्योऽत्यन्त विमुक्तपरिग्रहे
भवति विकृतिव्यापाराय प्रभो न भवन्त्यमू ।
प्रकृतिमभित सश्रित्यैव स्फुट तव चिन्मयी
स्वरसविकसच्छुद्धाकम्पोपयोगपरिप्लुता ॥९॥

निबिडनिबिडे मोहग्रन्थौ प्रसह्य विलायिते
तव परमिव ज्ञातृ ज्ञान न कर्तृ न भोक्तृ च ।
यदिह कुरुते भड्क्ते वा तत्तदेव सदव तत
किल परिणति काय भोग स्फुटोऽनुभव स्वयम ॥१०॥

त्रिसमयलसद्विश्वक्रीडासुखकमहीधर
स्फुरसि भगवन्नेकोऽपि त्व समग्रभरक्षमम ।
प्रतिपदमिद वस्त्वेव स्यादिति स्पृशतो दृश
सहजकलनक्रीडा मूर्तेनचास्ति अ(प)रस्तव ॥११॥

स्फुरति परितो बाह्यार्थाना य एष महाभर
स्वरससरसा ज्ञानस्यैतास्तवैव विभूतय ।
स्फुरति न जडश्चित्सस्काराद्विनव निराकुल
कलय युगपल्लोकालोकौ परस्कलङ्कित ॥१२॥

वलितवलनश्छिन्नच्छेर्दैर्विभिन्नविभेदन—
रनवधिलसत्पर्यायौघैर्विभक्तमनन्तश ।
निशितनिशित शक्त्युद्गारस्वारित्तविक्रमै
कलय कलश कुर्वन्नेतत्समस्तमतन्द्रित ॥१३॥

चितिहुतवहस्यकाङ्गारीकृत परितो हठा-
छवतिकलनात् त्रलोक्य ते भवतिमुमुर ।
स्वयमतिशयस्फीतिं सम्बिद्विशेषगरीयसीं
जगदविषय ज्ञानानन्त्य तवव विभाति तत ॥१४॥

ककुभि ककुभि न्यस्यन धामान्यम न नभोमरिण
कलयति तव ज्ञानानन्यैकस्फुलिङ्गतुलामपि ।
स्वयमुपयती प्राधान्येन प्रकाशनिमित्तता-
मजडकरिणकामात्रापि स्यान्न जातु जडोपमा ॥१५॥

अगुरुलघुभि षटस्थानस्थगुरण सहजव्रजन्
क्रमपरिरणति सविच्चक्रे नियत्युपवेशित ।
प्रभवविलयावासाद्यापि प्रतिक्षरणमक्षरस्त्यजसि
न मनाक् टङ्कोत्कीर्णां क्वापि चिदेकताम ॥१६॥

क्रमपरिरणतर्भावैर्भावस्सम न विगाहते
सममतिभरात्तरावक्लान्तो भवांस्तु विभाव्यते ।
तदिदमुभय सूताथ सम्मिथो न विरुध्यते
कलयसि सदा यद्भावानां विभो क्रममक्रमात् ॥१७॥

स्वयमपि परात प्राप्याकार परोपकृत वहन
परविरहित सर्वाकारै परस्य सुनिर्भर ।
अवगमरस शुद्धोऽप्यन्त तवव विजम्भते
स्वभररभसव्यापारेण स्फुरन सममात्मनि ॥१८॥

अवगमसुधाधारासारैलसन्नपि सवत-
स्तवतिभरतो ज्ञानकत्व न नाम विगाहसे ।
अवधिरहितरेकद्रव्याश्रितनिजपर्यय-
युगपदपरस्परोल्लास प्रयासि सुखादिभि ॥१९॥

सततमभितो ज्ञानोन्मेष समुल्लसति त्वयि
द्वयमिदमतिव्याप्य धाप्ती विभो न विभाव्यते ।
बहिरपि पतन् यच्छुद्धोऽसि स्वरूपपरायरण
पतसि च बहिर्विष्वक शुद्धस्वरूपपरोऽपि यत् ॥२०॥

सममतिभरावेतत् व्याप्य प्रभास्यबहिर्बहि-
स्तदपि न भवान् देवकोऽन्तबहिश्च विभाव्यते ।
प्रभवविलयारम्भे विष्वग भवत्यपि यदबहि-
स्त्रिसमयभुवष्टङ्कोत्कीर्णां पराकृतयस्त्वयि ॥२१॥

त्रिसमयजगत्कृत्स्नाकार करम्बिततेजसि
स्फुरति परितोऽप्येकत्रात्यन्यसौ पुनरुक्तता ।
वदति पुरुषानन्य किन्तु प्रभो त्वमिवेतर–
विषयपतित प्रत्येक ते स्फुरन्त्यकृतद्वया ।।२२।।

दृगवगमयोर्दिव्योच्छवासा निरावरणस्य ते
भृशमुपचिता स्फूर्यते तेऽप्रकम्पमहोदय ।
अपि हि बहुना तन्माहात्म्य परेण न खण्ड्यते
यदतिभरतो गत्वाऽऽनन्त्य पुरव विजृम्भिता ।।२३।।

युगपदखिलरेक साक पदार्थकदम्बक
स्वरसविसरस्त्व व्यालुर्म्पी भराविव दीव्यसि ।
अथ च न परान सिञ्चस्युच्च परश्च न सिच्यसे
स्फुरसि मिलिताकाररेकोपयोगमहारस ।।२४।।

अविरतमिमा सम्यग्बोधक्रियोभयभावना–
भरपरिणमद्भूताथस्य स्फुरतु ममाद्भुता ।
परमसहजावस्थालग्नोपयोगरसप्लवन–
मिलितामदानदा सदव तव श्रिय ।।२५।।

---

(२४)

शार्दूलविक्रीडितच्छन्द

एकानेकमपूर्णपूर्णमततप्रस्तीर्णमूढस्फुट
नित्यानित्यमशुद्धशुद्धमभितस्तेजो दधत्यद्भुतम ।
दिव्यानन्तविभूतिभासिनि चितिद्रव्ये जिनेन्द्रेऽधुना
मज्जाम सहजप्रकाशभरतो भातीह विश्वस्पृशि ।।१।।

एकस्याक्रमविक्रमैकरसिनस्त्रलोक्यचक्रक्रम–
क्रीडारम्भगभीरनिर्भरहृतोत्फुल्लोपयोगात्मन ।
ज्ञानदोत्कलिकाभरस्फुटदतिस्पष्टस्वभावस्य ते
नाथत्या प्रपिबन्ति सुन्दरमिद रूप सुगुप्त स्वत ।।२।।

नि सीम्नोऽस्य भरात स्खलद्भिरभितो विश्वस्य सीम्न्युज्ज्वल
वल्गद्वल्गुनिराकुलककलनक्रीडारसस्योर्मिभि ।
चनन्यामृतपूरनिर्भरभृत स्फीत स्वभावश्रिया
पीत्वतत तव रूपमद्भुततम माद्यन्ति के नाम न ।।३।।

एक कोऽपि हठावरुद्धरभसस्फारप्रकाशस्त्वया
चिद्वीर्यातिशयेन केवलसुधापिण्ड किलालोडित ।
यस्याद्याप्यतिवल्गुवल्गितवलत्कल्लोलमालावली
त्रलोक्योदरकन्दरास्वतिभरभ्रश्यद्भ्रम भ्राम्यति ।।४।।

दग्बोधद्रढिमोपगूढविततत्रलोक्यभारो मुल-
व्यायामार्पितचण्डवीयरभसस्फारीभवज्ज्योतिष ।
उच्चण्डोत्कलिकाकलापबहुला सम्भूय मुञ्चन्ति ते
स्पष्टोद्योतविकाशभासलरुचश्चतन्यनीराजना ।।५।।

एकस्योच्छलदच्छबोधमधुरद्रव्यात्मनो मज्जत
कोऽनेकान्तदुराशया तव विभो भिन्नात्स्वभाव सुधी ।
उद्गच्छन्भिदरनन्तधर्मविभवप्राग्भारभिन्नोदय-
द्वैतत्व यदि नाद्यत स्वयमपि स्वादान्तर' साधयेत् ।।६।।

अन्योन्यात्मकतारसादिव मिथो मूर्च्छन्भिदश्चावर-
द्वैव स्वस्य विरुद्धधर्मनिवहैर्निर्माणमुद्दामयन ।
भावाभावकरम्बितकविकसद्भावस्वभावस्य ते
भात्युच्चरनवस्थितोऽपि महिमा सम्यक सदावस्थित ।।७।।

चिन्मात्र परिशुद्धमुद्धतरसप्राग्भारमेक सदा
चिच्छक्तिप्रकररनेकमपि च क्रीडत्क्रमाक्रमात ।
द्रव्याप्त्याऽतिनिरुत्सुकस्य वसतश्चित्पिण्डचण्डत्विषि
स्वात्मन्यद्य तवेश शाश्वतमिद तेजो जयत्येव न ।।८।।

वस्त्यद्य सविवर्तवर्तिमहसा द्रव्येण गुप्तायति
पर्यायरवकीयमाणमहिमा नावस्थिर्ति गाहसे ।
एकोऽपि त्वमखण्डखण्डितनिजप्राग्भारघोर स्फुर-
च्चिद्भारोऽद्भुतमातनोषि परम कस्येश नोत्पश्यत ।।९।।

यन्नास्तीति विभासि भासि भगवन्नास्तीति यच्च स्वय
भावाभावमय ततोऽसि किमपि त्व देव जात्यन्तरम ।
भाव (वा) भावमयोऽप्यभावमहसा नाभावता नीयसे
नित्योद्योतविकाशहासविलसच्चित्पिण्डचण्डोद्गम ।।१०।।

विश्वाकारविकाशनिर्भरपरिच्छेदप्रभाभावना-
दन्तर्गूढमपि प्रकाशमभितस्तत्स्वभावश्रिया ।
भावाभावपिनद्धबोधवपुषि प्रद्योतमाने स्फुट
त्वय्येतच्चितिवल्लिपल्लवतुला त्रलोक्यमालम्बते ।।११।।

अन्त स्तम्भितसावधानहृदयदेवासुरस्तर्कित-
शिवत्सङ्कोचविकाशविस्मयकर कोऽप्य स्वभावस्तव ।
एकस्मिन स्वमहिम्नि मग्नमहस सत्योऽपि चिच्छक्तय
स्वे स्फूर्त्या यदनन्तमेतदभितो विश्व प्रकाशयासते ॥१२॥

निष्कम्पकदढोपयोगसन लप्राणाप्पणास्फोटिता
स्यष्टान तस्च स्वशक्तय इमा विष्वक स्फुटन्त्यस्तव ।
आक्रम्य क्रमसन्निवेशवशतो विश्व समस्त भराद
भान्त्योऽपि प्रसभावरुद्धरभसा लीय त एव त्वयि ॥१३॥

दृग्ज्ञप्तिस्फुरितात्मनास्यनवधि सान्त प्रदेशश्रिया
देव द्वाऽप्यवधिम भाति भवतस्तेनोपयोगात्मना ।
किन्त्वत्रापि निजप्रदेशनियतानन्तोत्रमत्केलयो
वक्ष्यन्त्यक्षतविश्वघस्मरचिदुल्लासा स्वय सान्तताम् ॥१४॥

मज्जन्तीव जगन्ति यत्र परितश्चिच्चन्द्रिकासागरे
दूरोन्मग्न इवष भाति तदपि त्वय्येव मग्न सदा ।
लोककान्तनिमग्नपुण्यमहिमा त्व तु प्रभो भाससे
भावानामचलाविचिन्त्यमहिमा प्राय स्वभावोऽदभुत ॥१५॥

स्वान्त कुडमलितेऽपि केवलकलाचक्रेऽक्रमव्यापिनि
क्रीडत्क्रोडगृहीतविश्वमहिमा कोऽप्य भवान भासते ।
लीनस्य स्वमहिम्नि यस्य सकलानन्तत्रिकालावली
पूजात्रडमकर दबिन्दुकलिकाश्रेणिश्रिय गाहते ॥१६॥

पूर्वश्चुम्बति नापरत्वमपर पूर्वत्वमायाति नो
नवान्या स्थितिरस्ति सन्ततभवत्पूर्वापरीभावत ।
दूरोदगच्छदनन्तचिद्घनरसप्राग्भाररम्योदय
स्त्व नित्योऽपि विवर्तसे स्वमहिमव्याप्तत्रिकालक्रम ॥१७॥

गम्भीरोदरविश्वगह्वरगुहासवस्तनित्योच्छ्वसत्
प्रोत्सालोत्कलिकाकलापविलसत्कालानिलान्दोलनात ।
आरब्धक्रमविभ्रमभ्रमकृतव्यावृत्तिलीलायित
रात्म न्येव विवर्त्तिमेति किल ते चिद्वारिपूर स्फुरन ॥१८॥

अन्त क्षोभभरप्रमाथविवश याघूर्णनव्याकुला
वारम्वारमनन्तताडनभवद्विश्वस्वभावान्तरा ।
कालास्फालचलत्कला कलयसि स्वामिन सदा तुलय
च्चित्तत्वाच्चलितकचण्डिमगुणाद द्रव्येण निष्कम्पित ॥१९॥

स्वैरेवोल्लसितैरनन्तविततज्ञानामृतस्यन्दिभि-
स्तृप्यन् विश्वविसर्पिपुष्कलदृशा सौहित्यमस्यागत ।
सान्द्रानन्दभरोच्छलन्निजरसास्वादाद्भ्रमाद्यन्महा
स्वस्मिन्नेव निराकुल कलयसि स्वस्मिन सदव स्थितिम ॥२०॥

निष्कर्तृ त्वनिरीहितस्य सतत गाढोपयोगग्रह-
ग्रस्तानन्तजगत्त्रयस्य भवतोऽप्यन्येन काय न ते ।
शुद्धै कास्खलितोपयोगमहस सोऽय स्वभाव' किल
ग्राह्याकारकरम्बितात्मवपुष' साक्षाद यदुद्वीक्षणम् ॥२१॥

उद्दामोद्यदनन्तवीयपरसव्यापारविस्तारिस-
स्फारस्फारमहोर्मिमांसलदृशां चक्र तव क्रीडति ।
आक्रम्याकुलकृष्टममहिमप्रोत्तानितां नस्त्विषो
भावाना ततयो निरन्तरमिमा मुञ्चन्ति जीव किल ॥२२॥

दृग्बोधैक्यमयोपयोगमहसि व्याजृम्भमाणेऽभित-
स्तीक्ष्ण्य सदभतस्तवेश रभसादत्यन्तमुत्तस्ययम् ।
विश्वव्याप्तिकृते कृतातभतरसप्रस्तावनाडम्बरा
दूरोत्साहितगाढवीर्यगरिमव्यायामसम्मूर्च्छना' ॥२३॥

निष्कम्पाप्रतिघोपयोगगरिमावष्टम्भसम्भावित-
स्वात्मारामगहोदयस्य भवत कि नाम निवर्ण्यते ।
यस्याद्यापि मनागुदञ्चितचलज्ञानाञ्चलक्रीडया
हेलाऽऽन्दोलितमाकुल तत इतो विश्वं बहिर्भ्रमति ॥२४॥

चलसङ्गोच्छलदच्छकेवलपय पूरे तव ध्यायसि
स्नातोऽत्यन्तमतन्द्रितस्य सतत मोत्तार एवास्ति मे ।
लोलान्दोलितचिद्विलासलहरीभारस्फुटास्फालन
क्रीडाजर्जरितस्य शीतशिववद् विष्वग् विलीनात्मन' ॥२५॥

---

(२५)

शार्दूलविक्रीडितच्छन्द'

स्पष्टीकृत्य हठात् कथ कथमपि त्वं यत पुन' स्थाप्यसे
स्वासिद्युत्कटकर्मकाण्डरभसाद् भ्राम्यद्भिरन्तर्बहि ।
तद्वेषककलावलोकनवलप्रोढीकृतप्रत्यय-
स्तुङ्गोत्साहगलत्स्वकर्मपटल सर्वोदित' प्राप्यसे ॥१॥

देवावारकमस्ति किञ्चिदपि ते किञ्चिज्ज्ञगम्य न यद्
यस्यासौ स्फुट एव भाति गरिमा रागादिरन्तज्वलन ।
तद्घातायतपश्यतामहरहश्चण्ड' क्रियाडम्बरो (र)
स्पष्ट स्पष्टसमामृतस्तव किल स्पष्टत्वहेतु क्रमात ॥२॥

पूर्वासयमसञ्चितस्य रजस सद्य समुच्छित्तये
दत्त्वा द्वुद्ध रभूरिसयमभरस्योर स्वय सादरा ।
ये पश्यन्ति बलाद् विदाय कपटग्रन्थि श्लथत्कश्मला
स्ते विन्दन्ति निशातशक्तिसहजावस्थास्थमन्तमह' ॥३॥

ये नित्योत्सहनान कषायरजस सा''प्रोदयस्पर्द्ध क-
श्रेणीलङ्घनलाघवेन लघयन्त्यात्मानमन्तर्बहि ।
ते विज्ञानघनीभवन्ति सकल प्राप्य स्वभाव स्वय
प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगगरिमग्रासीकृतात्मश्रिय ॥४॥

बाह्यान्त परिवर्त्तिमात्रविलसत्स्वच्छन्दवृकसम्विद
श्रामण्य सकल विगाह्य सहजावस्था विपश्यन्ति ये ।
पूर्वावाप्तमपूर्वतां सपदि ते साक्षाक्षयन्त शम
मूला'येव लुनन्ति कमकुशला कमद्रुमस्य क्रमात् ॥५॥

ये गह्णन्त्युपयोगमात्मगरिमग्रस्तान्तरुद्यद्गुण-
ग्रामण्य परित' कषायकषणाव्यग्रगाढग्रहा ।
ते तत्तैकण्यमखण्डपिण्डितनिजव्यापारसार श्रिता
पश्यन्ति स्वयमीश शान्तमहस' सम्यक स्वतत्त्वाद्भुतम ॥६॥

चित्सामा''यविशेषरूपमितरत्सस्पृश्य विश्व स्वय
व्यक्तिष्वेव समन्तत परिणमत सामान्यमभ्यागता ।
अन्तर्बाह्यगभीरसयमभरारम्भस्फुरज्जागरा
कृत्स्न यत्सवशेषमेवकृतिन कुर्वति जानन्ति च ॥७॥

चित्सामान्यमुदञ्च्य किञ्चिदभितो न्यञ्चन्निजव्यक्तिषु
स्पष्टीभूतदृढोपयोगमहिमा त्व वश्यसे केवलम् ।
व्यक्तिभ्यो व्यतिरिक्तमस्ति न पुन सामान्यमेक क्वचिद्
व्यक्त व्यक्तिभर प्रसह्य रभसाद् यस्याशयाऽपोह्यते ॥८॥

बाह्याथ स्फुटयन् स्फुटस्यहरहस्त्व यत् स्वभाव स ते
दृष्ट केन निरि'धन किल शिखी कि क्वापि जातु ज्वलन ।
बाह्यार्थं स्फुटयन्नपि त्वमभितो बाह्याथभिन्नोदय
प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगमहसा सीमन्तित शोभसे ॥९॥

बाह्यार्थान् परिहृत्य तत्त्वरसनादात्मानमात्मात्मना
स्वात्मारामममु यदीच्छसि भृश सङ्कोचकु जोऽस्तु मा ।
क्षिप्यन्त प्रसभ बहिमु द्गरमु निमय्य मोहग्रह
रागद्वेषविवर्जित समदशा स्व सवत पश्यतु ॥१०॥

दृष्टोऽपि भ्रमकृत पुनभवसि यद् दृष्टि बहिर्यस्यत
कस्यापि स्वककमपुद्गलबलक्षुभ्यत्त्विपस्तव पशो ।
तेनवोत्कटपिष्टपेषणहठभ्रष्ट स्वकमच्छव
सम्यक स्वोचितकमकाण्डघटनानित्योद्यता योगिन ॥११॥

रागग्रामविनिग्रहाय परम काय प्रयत्न पर
योगाना फलकृत्त जातु विहितो गाढग्रहान्निग्रह ।
सत्य वोऽपि विरज्यमानमहिमा योगी क्षमा मुच्यते
निष्पन्दोऽपि सुषुप्तवन्मुकुलितस्वान्त पशुबध्यते ॥१२॥

कमम्य कृतिन क्रमाद विरमत कर्मैव तावदगति
यावद्वर्तितरज्जुवत स्वयमसौ सर्वाङ्गमुद्वतते ।
लब्धज्ञानघनादभुतस्य तु वपुर्वाग्गोमनोवगणा
य त्रस्प दितमात्रकारणतया सत्योऽप्यसत्योऽस्य ता ॥१३॥

निष्कम्पे हृदि भासि सस्य न बहिर्वल्गग्रहस्तम्भित
क्षुभ्यज्जात्यहरेरिवोग्रतरस स्तम्भेऽपि निष्कम्पता ।
स्तम्भेनापि विनव पङ्गुपदवीमायाति यस्मिन्मन
स्तत्किञ्चित् किल कारण कलयता भासि त्वमेव स्वयम ॥१४॥

छायास्यप्रसरेन शान्तमहसो मत्तप्रमत्ताशया
श्रामण्याद्द्विपमीलनेन पतितास्ते यान्ति हिंसां पुन ।
आक्रम्याक्रमपाकवधरजसि स्फूय (ज) त्स्वभावावभुते
कर्मज्ञानसमुच्चये न रमते येषा मति स्वैरिणी ॥१५॥

सामान्य क्षणमुन्नमय्य सपदि प्रक्षीणतक्ष्णा समं
सामा यान्निपतन्त्त ऊर्जितनिजव्यक्तिव्रबद्धादरा ।
एते घघरघोरघोषसरलश्वासानिलर्वालिशा
एकाग्र्य प्रविहाय मोहविहिता दु शिक्षया शेरते ॥१६॥

तीक्ष्ण तीक्ष्णमिहोपयोगमचलस्वालम्बबद्धोद्धत
साक्षातखण्डितकालखण्डमनिश विश्वस्य ये बिभ्रति ।
ते भूतार्थविमशसुस्थितदश सवत्र सन्त समा
श्चित्सामा यविशेषसम्भृतमतिस्पष्ट स्वमभ्यासते ॥१७॥

अत्यन्तप्रढितोपयोगनिबिडप्रस्तश्रुतज्ञानभू
भूयोभि समसयमामृतरसनित्याभिषिक्त कृती।
एक कोऽपि हठप्रहारवलितध्वान्त स्वतत्त्व स्पृशन
विश्वोद्भासि विशालकेवलमहीमाक्रम्य विश्राम्यति ॥१८॥

आजन्मानुपलब्धशुद्धमहस स्वादस्तवासौ स्फुट
सर्वाङ्ग मदयन प्रसह्य कुरुते कस्न प्रमाशास्पदम।
माद्यन्तोऽपि निशातसयमरुचो नव प्रमाद्यन्ति ये
तेषामेव समुच्छलत्स्यविफल काले विलीनतमा ॥१९॥

यन्मिथ्यापि विभाति वस्त्विह वहि सम्यक तदन्तद्रव
भारूप न विपर्ययस्य विषयो व्यक्तिर्हि साऽप्यात्मन।
साक्षात्क्षीणमलस्य गोचरमिते सम्यग्बहिर्वस्तुनि
व्यक्तिश्चेत परिवर्तते किमनया ज्ञानस्य नाज्ञानता ॥२०॥

अन्तर्वाह्यविवर्त्ति किञ्चदपि यत्र रागादि रूपादि वा
तत्कुर्वन्न विशेषत सग (म) मपि ज्ञानानलस्येन्धनम।
विश्वेनापि धृतप्रमेयवपुपाऽशेषेण सधुक्षित
साक्षाद वक्ष्यति कश्मल समरस शश्वत प्रमाता ज्वलन ॥२१॥

लब्धज्ञानमहिम्न्यखण्डचरितप्राग्भारनिस्तेजना
स्वयत्सञ्चितकश्मले मनसि न शुद्धस्वभावस्पृशि।
अत्यन्तादभुतमुत्तरोत्तरलसद वशाद्यमुद्योतिभि
प्रत्यग्रस्फुरित प्रकाशमभितस्तेजोऽप्यदुज्जृम्भते ॥२२॥

ये साक्षात प्रतिभान्ति कल्मषमयीं प्रक्षाल्य तोऽखिलां
दूरो मग्नविचित्रसयमरसस्रोतस्विनीसङ्गमा।
अन्त शान्तमहिम्न्यसीममहसि मूर्च्छोच्छलन्मूर्च्छना
एतास्ता परमात्मनो निजकला स्फूर्जन्ति निस्तेजिता ॥२३॥

अच्छाच्छा स्वयमुच्छलन्ति यदिमा संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
मन्ये भिन्नरस स एष भगवानेकोऽप्यनेको भवन
वल्गत्युत्कलिकाभिरदभुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकर ॥२४॥

ज्ञानाग्नौ पुटपाक एष घटतामत्यन्तम तद्बहि
प्रारब्धोद्धतसयमस्य सतत विध्वकप्रदीप्तस्य मे।
येनाशेषकषायकिट्टगलनस्पष्टीभवद्भवा
सम्यग्भात्यनुभूतिवर्त्मपतिता सर्वा स्वभावश्रिय ॥२५॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

अस्या स्वयं रभसि गाढनिपीडिताया' संविद्विकासरसवीचिभिरुल्लसन्त्या' ।
आस्वादयत्यमृतचन्द्रकवीन्द्र एष हृष्यन् बहूनि भणितानि मुहुः स्वशक्त ।।१।।

स्याद्वादवर्त्मनि परात्मविचारसारे ज्ञानक्रियातिशयवभवभावनायाम् ।
शब्दार्थसङ्कुलनसीम्नि रसातिरेके व्युत्पत्तिमाप्तुमनसां दिगसौ शिशूनाम् ।।२।।

~~~

कठिन शब्दो के अर्थ

अच्छ—निमल
अतत्पापि—तद्रूप न होकर भी
अनुभावात्—अनुभव से, महिमा से
अवगूर्ण—उद्यत
अश्नन—भोगते हुए
अतक्य —जाना था
अन्वभू —अनुभव किया
अकरो—किया था
अतिभरेण—बहुत वेग से
अधिगम्य—प्राप्त कर
अवहित—सावधान
अपास्य—नष्ट कर
अशिश्रिय —प्राप्त किया है
अपाकृत—दूर किया है
अपेलव —निरन्तर
अभिघ्नयन्—आक्रमण करते हुए
अभियोगेन—पूर्ण शक्ति से
अविकलत्वेन—निर्भिकता से
अपहरन्ती—निराकरण करते हुए
अभिधत्ते—कहता है
अवाक्संहृति—हीन शब्दों का सघठन
अञ्जसा—वास्तव में
अनुगमात्—विषम करने से
अभिधानसत्तया—शब्द सत्ता के द्वारा
अध्वान—भाग को
अवाप्तवान्—प्राप्त
अधृष्य—तिरस्कार के अयोग्य
अपातयत्—नष्ट किया
अशेषयन—समाप्त करते हुए
अलात—अधजली लकडी
अध्यगम—प्राप्त किया
अपेतम—रहित
अवारित—अप्रतिहत
अस्यसि—दूर कर रहे हैं
अपर्यायेण—एक साथ
अवष्टम्भ—आलम्बन
अवयन्ति—जानते है
अथापि—तो भी
अवापित—प्राप्त कराया गया
अकूतात—चेष्टा मात्र से
अभिधातु —कहने के लिये
अवकीर्ण—रहित
अपोहतया—निषध से
अभागवृत्त—अपृथक् ही
अप्रतिघ—निर्बाध
अभिभवन्—अभिभूत करने वाला
~~~

अतन्द्रित —आलस्य रहित
आस्फोटयन—फलाते हुए
आत्मखेलित—आत्मक्रीडा
आन्दोलयतीव—आन्दोलित सी कर रही है
आरोपयत—आरोपित करता है
आलानयन—बद्ध करते हुए
आतनोति—विस्तृत कर रहा है
आहुत—संचित किया हुआ
आदिशति—प्रकल्पित करते है
आपतित —आ उपस्थित होता है
आतनोषि—विस्तृत करते हैं
इतरत—अन्य
इत —प्राप्त होकर
इयत —प्राप्त होने वाले
इद्धेन—देदीप्यमान
इद्धधार—उज्ज्वल धारा
इत्थ—इस प्रकार
ईडे—स्तुति करता हू
ईशमा—ऐश्वययुक्त
ईरित —निरस्त हो गया है
उशन्ति—मानते है
उत्प्लवते—प्रकट होता है, उछलता है
उदयि—उदय सहित
उर्जितम—ओजस्वी
उदासते—उदासीन है
उद्धराभि —बहुत विशाल
उपप्लवधिय – विपरीत मति के धारक
उत्कलिका—उत्कंठा
उत्कयन्—उत्कंठित करते हुए
उद्वम्य—वमन किया
उन्मिषत—प्रकट होते हुए
उपपन्न—सहित
उपक्रम—भविष्यत काल
उदञ्च्यमान-उत्कृष्ट रूप से पूजित होरहे हैं
उन्मूलयत —उन्मूलित करने वाला
उच्चस्थल—सबल
उल्वण—बहुत भारी
उन्छिख—तीक्ष्ण
उन्मृष्ट—नष्ट
उपचय—वृद्धि, समूह
उद्गत—प्रतिबिम्बित होता हुआ
उच्चावचम—ऊँचे-नीचे को
उद्वहन्—विवाह किया था
उदाहरन्ती—निरूपण करने वाली
उत्पश्यता—अनुभव कर रहे थे
उच्छ्राल—उन्नति
उज्जिहासो—उध्वगमन की इच्छा वाले
उत्तानयसि—ऊपर उठाते है
उद्गमेन—सामर्थ्य से
उज्जृम्भित—वृद्धि को प्राप्त
उपगच्छसि—प्राप्त हो रहे हैं
उदित—कहा गया है
उत्सगित—अगीकृत
उपप्लावह—उपद्रव धारण करने वाले
उत्सप—उठती हुई
उदञ्चयन—प्रकट करत हुए
उपयती—प्राप्त होने वाली
उत्पश्यत —अवलोकन करने वाले
उद्वतते—खुलता है
उज्जृम्भते—वृद्धि को प्राप्त हो रहा है
उत्कलिका—तरंगे
एति—प्राप्त होते है
किञ्चिद्वत—कुछ और
कोरक—कली
करपत्र—करौत
कर्बुरता—विचित्रताको
कलया—कला द्वारा
कलयन—जानते हुऐ
क्लृप्त—उन्मुख
कात्स्न्यत —सम्पूर्णत
कुड्मल—कली
करम्बते—प्राप्त किया जाता है
काष्ठा—सीमा
कमणा—करने से
काण्डकथा—परदे की कथा
कलित—समझा

कृन्तति—छेदता है
कलय—जानो
कलन—रमण
ककुभि—दिशा में
कलयसि—धारण करते हैं
खातात—गड्ढों से
खण्डश—टूँट
गरीयसी—अत्यन्त श्रेष्ठ
गदित—कहा गया
ग्लापित—गृहीत
ग्लपयन्ती—नष्ट करने वाली
गमयन्त—प्राप्त करते हुए
ग्रसीयात—निगल ले
घटते—अभेद रूप होता है
घट्टनया—नष्ट करने से
घनावघट्टन—संघर्षण
घस्मरात्मा—ग्रहण करने वाले
घटमान—विद्यमान
घस्मरे—निमग्न करने वाले
चित्रचकायित चम्य—चैतन्य
चमत्कार से प्रसिद्ध
चिति—चैतन्य
च्छिन्नदृक्—सीमित दर्शन
आरचयन्ति—उत्पन्न करते हैं
चिता—चैतन्य की अपेक्षा
चिद्भार—चैतन्य समूह
चिदेकपीता—चैतन्य/ज्ञान द्वारा पी हुई
चकास्ति—सुशोभित होता है
चिदुद्गम—चैतन्य का उदय
चिद्विप्लव—चित्त की भ्रान्ति
च्यवन्ते—च्युत होता है
चिद्भृते—चैतन्य को धारण करने वाले
चकर्थ—किया गया
चितान्यस्य—चिता पर रखा शव
चण्डरोचिः—तीक्ष्णकान्ति
छिन्दन—काटते हुए
ज्यायन्—श्रेष्ठतम
जिघांसु—नष्ट करने की इच्छा करने वाला

जिघृक्षु—चाहते थे
जृम्भमाण—विस्तार को प्राप्त हो रहे थे
जुहुत—होम रहे थे
जहृ—छोड़ द
जैत्र—विजयशील
ज्यायसि—श्रेष्ठ
झटन्ति—झलझलाती है
झटति हानि को प्राप्त होते हैं
टसिति—शीघ्र ही
तत्स्थ—उसमें स्थिर रहने वाले
तत—व्याप्त, उस कारण
त्रियविभक्तवपुषो—एक काल में पृथक
शरीर वाले
त इमे—वे ये
तनोषि—करते हैं
त्विष—कान्ति
तु—और परन्तु
ततयः—पंक्तियाँ
दीव्यतीव—दिदीप्त सा हो रहा है
दिशन्ति—उत्पन्न करती है
द्राघीयसी—सुदीर्घ
दीप्रः—अत्यन्त तेज
दधासि—धारण करता है
धाम—तेज
धाम्नि—भवन में
धत्ते—धारण करते है
नास्त्येव—नहीं ही है
निर्भरभृत—अतिशय पूर्ण
निर्विशन्ति—प्रवेश करते हैं
निजभरेण—अपने विस्तार से
निपीतविश्वा—विश्व को पी लिया है
नीराजयन्—आरती करता हुआ
नयेक्षणा—नय दृष्टि से
न्ययुङ्क्त—नियुक्त किया
निपात—आक्रमण
निर्लोठयन—सुलुण्ठित कर दिया
निर्गालयन—गलाया
पुं—पुरुष के लिये

निष्पीडन—तीव्र आघात
निघ्नता—नष्ट करनेवाले
निर्वाण्य—बुझा हुआ
निशेषितवान्—नष्ट करने वाला
निस्तीर्ण—वहन किया
नीत्या—समान
निषीवत—स्थिर रहने वाले
निकुरम्ब—समूह
निशायित—तीक्ष्ण किया गया
निवर्तयन्त—दूर करने वाले
निषण्ण—निभर
निकष—सघष के द्वारा
निभात्—छल से
न्यञ्चन—निमग्न
न्यस्यते—रख रहा है
निस्तेजिता—तीक्ष्ण
प्रसह्य—बलपूवक
प्रच्छन्न—छाकर
प्रविजम्भित—विस्तृत, उत्पन्न
परिचर—व्यापक
पिनद्ध—व्याप्त कर रखा है
प्लुत—डूबा हुआ
प्रतिपत्ति—प्रतीति, बोध
पाचयन—निर्जीर्ण करते हुए
पेलव—शक्ति हीन
प्रचक्रिरे—किया था
प्रक्षरित—वर्षा कर रहे हैं
पोषोपचित—पोषण को प्राप्त
परेतभूमौ—श्मशान में
पर्यागत—प्राप्त कर
प्रचित—व्याप्त
प्रयात—प्राप्त होते हैं
प्रागल्भ्य—सामथ्य से
प्रोत्खात—उखाडे हुए
प्रतिपद्यते—प्राप्त करते हैं
प्रभाषिणा—कथन करने वाली
प्रत्युत्पन्नायते—वतमान लगती है
परिप्लुता—व्याप्त हो जाते है
प्रमाथ—आघात
प्रत्यग्र—उत्तरोत्तर, नवीन
भा—दीप्ति रूप
भासक—दीप्ति का निराकरण करने वाला
विभान्ती—विशेष सुशोभित होने वाली
भागोज्झित—भाग रहित
भावित—प्राप्त
भवन—लीन होते हुए
भूतिभरेण—सम्पत्ति के समूह से
भ्रश—नाश
भूतिभासने—वभव के प्रकाशन में
भ्रियते—भर रहे हैं
भिन्दन—नष्ट करने वाला
मातृमातृ—मात्रज्ञाता
महयामि—पूजन करता हू
महन्महस्ते—आपके महान तेज की
मन्थरदृश—शिथिल दृष्टि
मुमुरकणा—तुषाग्नि के कण
महाप्लव—महापूर
महीयसि—अत्यन्त श्रेष्ठ
मूर्च्छन्ति—वृद्धि को प्राप्त हो रही है
मदननिहित—मोम के द्वारा धारण किया हुआ
मूर्च्छोच्छलनमूर्च्छना—निरन्तर प्रवधमान है
रोमन्थमन्थरमुखो—जुगाली करने वाले
रभस—वेग
रुन्धन—रोकता हुआ
लीलायित—लीलाओं से
व्यानद्ध—व्याप्त कर
विष्वक—चारों ओर
विवर्त्त—परिणति
वीर्यं विशीयति—वीय नष्ट होता है
विश्वावलेहिभि—विश्व के जानने वाले द्वारा
विचिनोति—चिन्तन करते है, जानते है
विहित—कर दिया गया
वेद्यस्य—वेदनीय कम की
विधातु—सुस्थिर
व्यचचौ—विचार किया

वल्गसि—चलते हैं
विश्वविसारि—विश्वव्यापी
वेदना—ज्ञान
विदधाति—करती है
विपश्चिमांश—अन्तिम भाग
व्यपोहितु—छोड़ने के लिये
वाहित—चलते आये
व्यवस्यत—उद्यत
विदि—ज्ञान में
विडम्ब्यते—तिरस्कृत होती है
वल्म—रस
वीरुध—लता
व्यावृतित—लौट कर
विरूक्षित—बाधित
वत्स्यदपेक्ष—भविष्यत की अपेक्षा
विलोपनाय—दूर करने के लिये
विवेचित—रहित
वितत—विस्तृत
वितथव—व्यर्थ ही
विपश्चिताम्—विद्वानों के
व्यगात—व्यतीत हुआ
वमतु—उगलता रहे
वान्त—उल्टी
वान्ताद—त्यागे हुए को ग्रहण करने वाला
विघूर्णयत्—घूमा रहा है
व्यातुक्षी—फाग
वल्गु—सुन्दर
वक्ष्यति—धारण करता है
सम्भावयन्ती—भाते है
सपत्न—शत्रु
स्वपत—सो रहा है
सौस्थित्य—सुख
सव्यपेक्ष—सापेक्ष
सनह्य—सनद्ध होकर
संहत—समस्त

सम्प्रसीदती—प्रसन्न होने पर
सहूता—समाविष्ट
समुन्मिषन्त्य—प्रकट हो रही है
सवलितन—मिले हुए
सुसंहित—सुसंगठित
सदोऽन्त—पदार्थों के बीच, समवसरण में
स्यूतम—युक्त है
श्रयसे—प्राप्त हो रहा है
सघट्टम—नाश
समासन्—निकट किया
सौहित्य—तृप्ति
सधुक्षित—वृद्धि को प्राप्त
श्रित—सम्बन्धित
समुज्झवसत्—विद्यमान रहने वाले
सवकष—समूल नाशकारी
सुनिष्ठरष्ठ्यूत—अत्यन्त एकपभाव से
सज्जसे—सलग्न होते हैं
स्तिमित—निश्चल
स्फारस्फुट—परिपूर्ण
संहित—मिले हुए
सती—विद्यमान को
स्था—यथार्थ
स्यु—हो सकते हैं
सीमन्तिलक्ष्मी—मन्तलक्ष्मी
सज्ज—तत्पर
स्फीतिं—विस्तार को
स्यन्दिभि—झराने वाले
शीकरौघ—कण समूह
शुम्भत्—सुशोभित होने वाला
शंकु—कील
शंकित—कीलयुक्त किया गया
श्लिष्ट—तन्मय
शित—तीक्ष्ण
शीतभिव—सन्धव नमक

लघु-तत्त्व-स्फोट

हिन्दी अनुवाद एव भावार्थ / विशेषार्थ

१ मैं इस उच्छलते हुए/छलकते हुए, निमल, स्वय परिणमन शील, आत्मतेज की स्तुति करता हू जिसके द्वारा आदिनाथ स्वयभू भगवान हुए है। वह तेज 'ॐ भूर्भुव' आदि मत्रों के समीचन मनन से एक रूप है, स्व तथा पर का ज्ञाता है, केवल ज्ञाता ही नहीं है (वरन सुखादि अन्य गुणो का पुज भी है)।

आत्मा के ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय स्वरूप तेज के चिन्तन मनन ध्यान और तदनुरूप आचरण से मानव परमात्मा बन जाता है विपरीत प्रकार के चिन्तन आदि से दुर्गतियो का पात्र होता है ॥१॥

२ हे अजितनाथ। आप ज्ञाता हैं ज्ञान हैं, ईश्वर हैं और ज्ञान के फल हैं। आप ये सर्व है। आप ये कुछ नही है। आप नही है तथापि आप उत्कृष्ट चतन्य चमत्कार रूप से प्रकट अवश्य है।

मानव को समय समय पर आत्मा की अनुभूति भिन्न भिन्न प्रकार से होती है-कभी ज्ञाता रूप, कभी ज्ञेयरूप कभी मात्र ज्ञानरूप, कभी ईश्वर/समर्थरूप तो कभी मैं' की अनुभूति से ही व्यतिरिक्त हो जाता है। इस सब बदलते अनुभूति चक्र मे चैतन्यानुभव से वह कभी च्युत नही होता ॥२॥

३ हे सभवनाथ! कोई किसी को प्रकाशित नहीं करता तथा उसमें कुछ अन्य प्रकाशित नहीं होता। अन्य कुछ पदार्थों को प्रकाशित करते है तथा उनमें कुछ पदाथ प्रकाशित होते है। आप दोनों को प्रकाशित करते हैं और स्वय भी प्रकाशित होते है। आप विश्व को ही प्रकाशित करते हैं। आप दीप्ति स्वरूप है। आप भासक* (अन्य की दीप्ति का तिरस्कार करने वाले) नही है।

ज्ञानीजन अज्ञानी अल्पज्ञानी का तिरस्कार नही करते वरन् प्रकाश पथ पर आने, आगे बढने हेतु उन्हे हस्तावलम्बन प्रदान करते है ॥३॥

४ इस ससार में जो शोभन रूप है वह शोभित-अशोभित रहता है। यह सही है कि जो अशोभन स्वरूप है वह सुशोभित नहीं होता, जो अशोभन रूप नही है वह ही सुशोभित होता है। [ज्ञान दीप्ति की बात भिन्न है], वह सुशोभित होती है, तथा और

---

* अस्यति प्रक्षिपति इति आसक 'असु प्रक्षेपणे' इति धातो ण्वुल प्रत्यये रूप/भाया (दीप्ते) (आसक) प्रक्षपक इति भासक। फलटन प्रकाशन

नोट हिन्दी अनुवाद बडे (14 पाइन्ट) टाईप मे तथा भावाथ/विशेषाथ छोटे (12 पाइन्ट) टाईप मे मुद्रित किया गया है।

और सुशोभित होती है वह शोभित–अशोभित नहीं होती है। हे अभिनन्दन स्वामी! वह विशिष्ट रूप से सुशोभित होने वाली ज्ञान दीप्ति आपका अभिनन्दन करती है।

पुद्गल के पृथक् चलन स्वभाव से चल रहे जगत के परिवर्तन चक्र में कुछ भी स्थायी रूप से सुशोभित नहीं रहता। सूर्य तक भी पुनः पुनः अस्ताचल को प्राप्त होता है। ज्ञान दीप्ति क्षायोपशमिक होने से नित्य सुशोभन स्वभाव वाली है ॥४॥

५ हे सुमति जिनेन्द्र! सूर्य की भाँति जो आपका सहज ज्ञान प्रकाश वस्तु बोध के सम्मुख हुआ लोक प्रकाशन में तत्पर है, वह षट् कारक चर्चा से नाना रूप होता हुआ भी एक रसप्रसार से सुशोभित हो रहा है।

जगत के पदार्थों के प्रकाशन से हो रही ज्ञान की नानारूपता ज्ञानानन्द रस की निरन्तरता रहते कोई दोष न होकर गुण ही है। रस घन होकर अपाय विष का उपशम होनेवाला बोध है ॥५॥

६ हे पद्मप्रभ स्वामी! इस संसार में कोई प्रकाशक कहा जाता है तो कोई प्रकाश्य तथा कोई प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों ही कहा जाता है। आप न प्रकाशक हैं न प्रकाश्य हैं। आप तो स्वयं प्रकट प्रकाश हैं।

आत्मा सहज स्व-पर प्रकाशक चेतन दीप्ति का धारक है ॥६॥

७ वाचक वाच्य शीघ्र एक दूसरे को पी जाते हैं। इन दोनों को सत का अमृत बल पूर्वक पी जाता है। सत् का अमृत उनके द्वारा पिया नहीं जाता है। यह सम्पूर्ण अमृत तो भगवन् सुपार्श्व द्वारा पिया गया है।

शरीर प्रमाण होते भी आत्मा जैसा व्यापक विभाव कुछ भी नहीं है। वह सम्पूर्ण लोकालोक को वाचक शब्दों तथा वाच्य-अवाच्य पदार्थों को अपने ज्ञान में समा लेता है ॥७॥

८ चन्द्रप्रभु भगवान की निर्मल चैतन्य चाँदनी का समूह चारों ओर से चमकता है और निमग्न होजाता है, विमग्न होकर पुनः बलपूर्वक चमकता है। इस प्रकार वह अन्तर्निमग्न चमकता अथवा नहीं चमकता है तथापि वह सदैव सुशोभित ही रहता है।

चेतना अन्तर्निमग्न अर्थात् दर्शन रूप हो चाहे चमकती हुई अर्थात् ज्ञान रूप हो सदैव सुन्दर है ॥८॥

९. जिस पर्याय में जीव अवस्थिति को प्राप्त होते हैं वह स्वयं अनवस्थित है। स्वयं सुविधिनाथ एक पर्याय में स्थित होकर अनवस्थित हो जाते हैं। ऐसे अनवस्थित होकर वे कोई अन्य नहीं हैं। [पर्याय दृष्टि से] वे अन्य हों तथापि [द्रव्य दृष्टि से] वे अन्य नहीं हैं।

प्रत्येक पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य / अवस्थित तथा पर्याय दृष्टि से अनित्य/अनवस्थित/परिवर्तनशील है ॥९॥

१० हे शीतलनाथ भगवन ! आपके चरित्र को जानने में कौन समर्थ है ? आप [पर वैभव से] शून्य है तो [स्व गुण वैभव से] भरे भी है। आप [स्वय से] भरे भी है तो अन्य से शून्य है। आप अन्य से शून्य वैभव वाले हैं तो अनेक परिपूर्णताओं वाले भी है। [इसी प्रकार] आप अनेक महिमाओ से पूर्ण हैं तो सदा एक भी है।

आत्मा पर द्रव्य–गुण–पर्याय से सदैव रिक्त रहती है तथा स्व द्रव्य–गुण–पर्याय को सदैव धारण करती है। पर पदार्थ तो आत्मा के परिणमन मे अवलम्बन ही बनते है ॥१०॥

११ हे आश्चर्य के निधान प्रभु श्रेयांसनाथ ! आप नित्य होकर भी नाश को प्राप्त होते है, पर नष्ट नही होते। आप नष्ट होकर भी हठात पुन उत्पन्न होते हैं। आप विचारशील जनों को उत्पन्न होते हुए भी अनुत्पन्न लगते है ऐसा क्यो ?

जीव नित्यानित्यात्मक है। ज्ञानीजनों की दृष्टि मे अनित्यताओ के बीच नित्यता ओझल नही होती ॥११॥

१२ हे भगवन् वासुपूज्य ! आप सत रूप होकर भी स्पष्ट असत रूप ह, तथा असत रूप होकर सत रूप अवभासित होते ह। आप सत्तावान होकर भी सत्त्व के समवाय वाले नही हैं। हे ज म रहित ! आप स्वय सत्त्व है। आप सत्त्व नहीं है, गुण नही है, आप स मात्र है।

प्रत्येक पदाथ सदसत् रूप है। अपनी अपेक्षा वह सत् है, अन्य (द्रव्य क्षेत्र, काल भाव) की अपेक्षा असद् है ॥१२॥

१३ हे विमलनाथ भगवन ! भूत अब नहीं है, वतमान पुन भविष्य में नहीं होगा तथापि आप होगे। जो आप होगे वह ही आप निश्चय से वतमान मे है, तथा जो आप वतमान मे है वह ही आप भूत में थे।

काल के प्रवाह मे जीव की अवस्था बदलती है जीव तो वह ही रहता है ॥१३॥

१४ हे अनन्तनाथ भगवन ! आपका महान ज्ञान तेज एक होकर भी असीम और ससीम पदार्थों को ग्रहण करता हुआ नाना रूप अनुभव में आ रहा है। यह बात उसकी नाना रूपता को सिद्ध करती है। किन्तु, प्रशान्त होने से वह अद्व तरूप ही है। मै आपके उस तेज की पूजा करता हू।

पद स 5 में एक रस प्रसार से और यहा प्रशान्त होने से नानारूप ज्ञान में एक ज्ञानमयता आचार्य ने स्वीकर की है। प्रशान्ति का भग होने पर ज्ञान खण्डित होता है, अन्यथा नानारूप होते भी वह अखण्ड ही है ॥१४॥

१५ हे धर्मनाथ भगवन ! आप सर्वात्मक है, पर कभी भी परात्मक नही हैं। आप स्वात्मा स्वरूप है, आपकी अन्य कोई स्वात्मा नही है। इस आत्मा का स्वरूप आप ही है। आप नरात्म्यवादी नही है तथा यह आत्मा सीमित दर्शन ज्ञान रूप से नही है।

जगत के पदार्थों को जानना आत्मा (जीव) का स्वभाव है। पर को जानकर वह परात्मक नहीं हो जाता पर के प्रति मोह, राग द्वेष आदि से अपने स्वभाव से च्युत हो वह परात्मक हो ससार रचना करता है ॥१५॥

१६ हे शान्तिनाथ भगवन ! आप पारस्परिक वरभाव में रस लेने वाले जीवो को आश्चर्यकारी ददीप्यमान किरण कलियो से सहित है। आप अद्वितीय कान्ति के समूह से परिपूर्ण है, शान्त है। मेरे चित्त मे आप चतन्य की सत्ता मात्र प्रतिभासित होते है।

चेतना के निमल लोक मे जीने वालो को जगत म किसी से भी बर भाव नही रहता, वे सदैव अक्षुब्ध, शान्त रहते है ॥१६॥

१७ हे कुन्थुनाथ जिनेन्द्र ! आपके विज्ञानधातु के परमाणु क्षणिकता को प्राप्त हो रहे है और एक रूप होते भी उपाधि (ज्ञयो) के कारण भेद को प्राप्त हो रहे है, पर वे अत्यन्त सघटित होने से बिखरते नही है।

क्षण क्षण हो रहे परिवर्तन और ज्ञेयो की नानारूपता से सुसघठित ज्ञान को कोई हानि नही है। असघठित ज्ञान परिवर्तन और नानारूपता के बीच मोहित हो जाता है। वस्तु स्वरूप का सम्यक् ग्रहण करने वाला मोहादि रहित ज्ञान सुसघठित है ॥१७॥

१८ हे अर जिनेन्द्र ! आप एक होते भी अनेक रूप प्रतिभासित होते है पर इससे आप अनेक नही हो जाते। आप सदव अनेक के समुदाय रूप एक ह। आप अनेक के सचय रूप एक नही है, आप तो चतन्य चमत्कार से तन्मय एक है।

आत्मा अनेक गुण-पर्यायो का पुञ्ज समुदाय है। इस अनेकता के चेतना उसे एकत्व प्रदान करती है। चेतना की निर्मलता मे हमे सम्पूर्ण आत्मवभव की उपलब्धि होती है ॥१८॥

१९ हे मल्लि जिनेन्द्र ! आप भेद को प्राप्त होकर भी अभेद स्वरूप है अभेद स्वरूप होते भी भेद को प्राप्त हो [illegible] तथा फिर भी निर्विभाग है। आप निर्विभाग होते भी भागो द्वारा परिपूर्णता को [illegible] की अपेक्षा आप निर्विभाग ही ह।

आत्मा गुण-पर्यायो से अभि [illegible] म किंचित् आवृत्त किंचित् अनावृत्त रहत है। इस अर्थ मे ये अश [illegible] यो की भाति खण्ड खण्ड हो बिखर नही जाते अत [illegible] है ॥१९॥

२० हे मुनिसुव्रत जिनेन्द्र ! आप हटाये जाकर अविरुद्ध होते है, [और इस क्रम से] समुद्धत नही होते (निकलते नही है)। [तथापि,] नित्य उल्लासित, निरवधि, स्थिर बोध पाद से समस्त ही लोक को निरन्तर व्यापते हुए आप अच्युत है।

ज्ञान की एक पर्याय छोडकर अन्य को ग्रहण करना प्रत्येक जीव की नियति है। यह क्रम जितना आनन्दरूप, अशिथिल अक्षुब्ध है उतना ही जीव अपन आत्म स्वभाव से अच्युत है ॥२०॥

२१ हे नमिनाथ भगवन ! आप विश्व को व्यापते हुए भी उसे नही व्यापते है। विश्व को नही व्यापते हुए और उसके अश होते हुए भी आप त्रिभुवन को अपने अन्तर्गत करते है। लोक के एक देश में स्थित भी आप निमल बोधामृत रस से तीनो लोको को आह्लादित करते है।

छद्मस्थ हो चाहे सवज्ञ प्रदेश अपेक्षा सभी जगत के एक अश मात्र है। ज्ञान मे जगत को कौन कितना अधिक व्यापता है इससे छोटे बडे का निर्णय होता है। निर्मल ज्ञान के अमृत रस मे सम्पूर्ण विश्व को डबो देना ही आत्मा की/ज्ञाता की महानता है ॥२१॥

२२ हे अरिष्ट नेमि ! आप बद्ध होते भी मुक्त प्रतिभासित होते है, पर मुक्त नही है। आप बद्ध ह, महिमाओं से बद्ध है, [अत] सदा मुक्त है। आप बध और मुक्ति से परे नही है, तथापि मोक्ष ही है। [वस्तुत] आप मोक्ष भी नही है, आप तो चतन्य रूप है।

पौद्गलिक कम बधन हेय है ज्ञानादि गुणो के भाव बन्ध* उपादेय है। अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय रूप भाव बन्ध के सानिध्य में देह और वाह्य वातावरण भी अतिशयो से युक्त हो जाता है ॥२२॥

२३ हे पाश्व जिनेन्द्र ! आप भ्रान्त होकर भी अविभ्रममय है। आप सदा अभ्रम रूप होते भी साक्षात् भ्रमरूप है। अथवा आप भ्रमरूप नहीं है, आप तो विद्यारूप है। आप वह भी नहीं ह, न जड ही ह। आप तो चतन्य भार से भास्वर रस के अतिशय वाले ह।

आत्मा परिणमन शील होने से भ्रम (भ्रमण) रूप है ज्ञानमय होने से भ्रम रहित है, तथा ज्ञेयाकारो को गौण कर तो ज्ञान रूप भी नही है वह मात्र चेतन तेज युक्त है ॥२३॥

२४ हे वधमान जिनेन्द्र ! आपने छद्म चित्त के परिणमन मात्र को जो विश्व के उदय, प्रलय और पालन करन वाला है आत्माधीन किया है। [वह चित्त] कर्त्ता स्वरूप है। अथवा, वह न कर्त्ता स्वरूप है न बाध रूप है, वरन् अभ्युदय युक्त बोध रूप है। ऐसा आपका यह ज्ञान तेज क्या है ? यह हमारे लिये आश्चयकारी है।

विचार/चित्त जगत के सभी झगडो और उनके समाधान के मूल मे है। चित्त ही मानव के चारो ओर घटित हो रहे घटना चक्र की कीली/नाभिक स्वरूप है। चित्त को कषायाधीनता से मुक्त कर ज्ञानाधीन/आत्माधीन कर लेने पर मानव सब दु ख मुक्त हो जाता है ॥२४॥

---

*षटखण्डागम सूत्रो मे क्षायोपशमिक और क्षायिक जीव भाव बध की चर्चा हुई है।

२५ जो अमृतचन्द्र सूरि के ज्ञान द्वारा पी हुई जिनेन्द्रों की परिपूर्ण अर्थयुक्त नामावली को भाते हैं वे सकल विश्व को लीला मात्र में पी जाते हैं, अन्यों द्वारा कदाचित् नही पिये जाते ।

साधारण मानव जड-चेतन पदार्थों का सेवक होकर जीता है। अनन्त गुण निधि जिनेन्द्र सर्व दासताओं से मुक्त परमात्मा हो गये हैं। उनकी भक्ति/स्मरण/ध्यान से व्यक्ति में जिन-गुण सम्पत्ति का जागरण हो जाता है और तब उसका तिरस्कार करने में कोई समर्थ नही हो पाता, वह सर्वत्र सम्मान पाता है ॥२५॥

(२)

१ हे जिनेन्द्र ! मैं भीतर-बाहर प्रकाशमान, आकुलतारहित, आपके असीम दर्शन ज्ञान मात्र तेज का स्पर्श करता हूं। यह चैतन्य कणिकाओं से भरा हुआ यद्यपि विश्वरूपता को नही छोडता है तथापि सहज, बलसम्पन्न और एक रूप है।

दर्शन-ज्ञान स्व तथा नाना रूप पर पदार्थों का प्रकाशक है। यह नाना रूपता उनका दोष न होकर गुण ही है यदि इसमें सहजता, बलवीर्य और आनन्दमयता की निरन्तरता हो ॥१॥

२ हे जिनेन्द्र ! जो आपके निर्विकल्प और सविकल्प रूप दर्शन-ज्ञान मात्र तेज की भावना करते हैं वे उदित होते हुए अनादि पुरुष को, जो विश्व से पृथक होते भी विश्व का स्पर्श करता लगता है, प्राप्त करते हैं।

दर्शन ज्ञान के निर्विकल्प-सविकल्प रूपों में सम्यक्रूप से जीना अनादि पुरुष की/आत्मा की प्राप्ति है ॥२॥

३ हे विभो ! जो जन अनेक विकल्पों की कीलों से अन्तरंग भूमि को खोदने से उडी हुई धूल से [दृष्टि को] ढकते हैं, वे पशु आपके निकट प्रकट वैभव को नही देख पाते।

अज्ञान जनित राग-द्वेष से चित्त की शान्ति नष्ट हो जाती है और उसका अपने गुण वैभव का आनन्दमय लोक मानव की दृष्टि से ओझल हो जाता है अनुभूति का विषय नही बन पाता ॥३॥

४ बाह्य पदार्थों के अंधेरे में जहां ये [संसारी] जन अस्त को प्राप्त होते हैं वहां आप निश्चय ही उसी प्रकार उदय को प्राप्त होते हैं जैसे नीले आकाश में सूर्य का प्रकाश चारों ओर छाता हुआ सुशोभित होता है।

अज्ञानी के लिये बाह्य पदार्थ कषाय-क्लेश के कारण बनते हैं, अंधेरे उत्पन्न करते हैं ज्ञानी तमी जगत के बीच ज्ञान के तेज से जगमगाता है ॥४॥

५ हे जिन ! आप आत्मा की महिमा म न नित्य अवस्थिति की बात कहते ह, न निरंतर रह रही अनवस्था का उत्थापन करते ह । यह ही कारण है कि आपका अदभुत चतन्य ज्योति से प्रसिद्ध स्वभाव एक होता भी विधि निषधमय है ।

आत्मा विधि निषेधमय है । वह स्व द्रव्यादि की अपेक्षा ही विधि रूप है । पुन एक पर्याय के ग्रहण से विधिरूप और अन्य के त्याग से निषेधरूप वह निरन्तर हो रहा है ।।५।।

६ क्योंकि आपका यह विधि निषेधमय निर्माण सहज रूप से रचित हुआ सुशोभित होता है, अत प्रकट रूप से अनुभव मे आने वाला सत असत आदि रूप विकल्प जाल आप में उछलता है, इसमें कोई आश्चय नही है ।

ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थों म षट्गुणी हानि वद्धि रूप परिणमन स्वभाव से एव परस्पर निमित्त से निरंतर पर्याय परिवतन हो रहा है । अत क्रम-अक्रम रूप से हो रहे विधि निषेध और उनका ज्ञान सहज, स्वभावभूत एव वास्तविक ह ।।६।।

७ हे देव ! सहज तज से परिपूर्ण होने से आप भावमय ह तथा पर के वभव से शून्य होने से अभाव स्वरूप है । अभावमयता को प्राप्त होत भी [आप] भावरूप प्रतिभासित होते ह और भावरूप होत भी बाह्य पदार्थों की अपेक्षा अभावरूप प्रतिभासित होते ह ।

स्वापेक्षा भावरूपता और परापेक्षा अभावरूपता ही वस्तु की वस्तुता है । पर द्रव्य पर्याय आदि की अपेक्षा भावरूप होने की चेष्टा वस्तु को अवस्तु कर देती है ।।७।। (दे आप्तमीमासा का ४८)

८ हे स्वामिन ! आपके जो ये समानान्तर पृथक सत्ता रखने वाले सहभावी गुण सुशोभित हो रहे है वे ही काल की क्रीडा द्वारा किये गये उ व खण्ड रूप से आप एक को क्रमिक विभूति का अनुभव करात ह ।

काल प्रत्येक ही जड और चेतन का ससारी और मुक्त का अवस्था परिवतन करता रहता है और इसीलिये हमे अपन तथा अन्य के गुण वभव के नये नये रूपो का अनुभव होता है ।।८।।

९ हे जिनेन्द्र ! इस प्रकार क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती विवर्तों मे सुरक्षित चतन्य मात्र आपके तत्त्व को नही समझनेवाले इस जगत मे दोनो पक्षों के अति प्रसार से निस्सार हो रहे ह, इस बात से आज हृदय विदीर्ण हो रहा है ।

आत्मा क्रमवर्ती पर्यायो की अनित्यता तथा अक्रमवर्ती गुणो की नित्यता वाला है । दोनो मे किसी का भी विशेष आग्रह व्यक्ति की दुर्गति का कारण होता है ।।९।।

१० हे जिनेन्द्र ! जब व्यक्ति आपके अदभुत वभव को देखता है तो उसके सकल शत्रु नष्ट हो जात ह । पुन , आपके दृष्टि से हट जान पर वीय विशीर्ण (नष्ट)

हो जाता है, आत्मा प्रकाशित नही होता और अहित तथा शत्रु विलसते है (फलत फूलत है)।

जिनेन्द्र दर्शन आत्म दर्शन है। जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा को जाने/अनुभवे बिना कोई कसे अन्तर्बाह्य शत्रुओ से मुक्त हो सकता है ? जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति से युक्त स्वानुभव से वीर्यादि आत्म गुणो का जागरण होता है और विपरीत रूप अनुभव से गुण क्षीण होते है ॥१०॥

११ हे देव ! नित्य उदय को प्राप्त अपनी महिमा में विश्व को निमग्न करने वाले विश्व को अतिक्रान्त करने वाले तेज से युक्त प्रकट प्रतापवान आप मे सशय सभव ही नही है। दुर्भाग्य से यदि किसी के चित्त मे भ्रान्ति होती है तो वह पशु के ही होती है।

अनन्त तेज युक्त/प्रतापयुक्त जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा से बडा जगत मे क्या है ? इससे मुह मोड तुच्छ/विकृत जीवन जीते रहना तो पशुता ही है ॥११॥

१२ हे ईश ! अनाकुल चिद्विलास से विश्व को जानते हुए प्रत्यक्ष प्रकट आपको जो जन देख नही पा रहे है यह बाह्य पदार्थो मे आसक्त चित्त वाले आपके सम्बन्ध मे सोये हुए उन पशुओ का निश्चय ही अनध्यवसाय है।

मानव के उपयोग पटल पर निरन्तर पदार्थ लोक का परिचय उभर रहा है और उसके आत्म वैभव को प्रकट कर रहा है। बाह्य पदार्थो मे आसक्ति से अज्ञानी को अपने ही आत्म वैभव की स्वीकृति नही होती पदार्थ परिचय के बीच आत्म स्पर्श नही होता ॥१२॥

१३ हे जिनेन्द्र ! बेचारा [ससारी] प्राणी बैल के समान जुगाली करता हुआ एक एक पदार्थ को क्यो चबाता है ? वह एक साथ अतुल विश्वसार को जानने वाले तथा श्रेष्ठ आत्म शक्ति से अचल आपका आश्रय क्यो नही करता ?

ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय धारक जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा की स्वीकृति, स्पर्श/अनुभव से कर्मावरण गल कर मानव सर्वज्ञ बन जाता है। आत्मानुभव से रिक्त अन्य लौकिक उपाय व्यक्ति मे विशेष शक्ति वृद्धि नही कर पाते और वह अल्पज्ञ ही बना रहता है ॥१३॥

१४ हे भगवन ! अपनी महिमा को अपने मे रोके हुए आपके द्वारा, अपने विस्तार से विश्व को व्यापने वाली जिसकी उठती हुई लहर बलात् सकुचित होने के कारण बाहर नही फैल पाती है ऐसा यह बोध सिन्धु चुल्लू भर रूप कर दिया गया है।

त्रिकाल त्रिलोक का ज्ञान आत्मा की अनन्त बोध शक्ति के आगे चुल्लू भर है। सब कुछ को जानता हुआ भी ज्ञान आत्म प्रदेशो से बाहर नही जाता ॥१४॥

१५ आपके वैभव के एक कण के देखने से उत्पन्न आश्चर्य से समुद्भूत सुख मे जिनके नेत्र आलस्य से भर रहे है, ऐसे ये जीव उदासीन क्यो है ? वे अपने मस्तक पर तब तक चारित्र रूपी आरी चलाये जब तक की आप पूर्ण रूप से प्रकट न हो जाय।

मुमुक्षु साधक को आत्म शक्तियो की किंचित हुई प्राप्ति से सतुष्ट न हो अर्हत स्वर के *अपने अनन्त चतुष्टय की उपलब्धि तक निरन्तर प्रयत्न जारी रखना चाहिए ॥१५॥*

१६ हे भगवन ! जो आपके सिद्ध रूप को तीव्र तप द्वारा साधत ह वे सब और यहा ही रमण कर (ससार मे ही रह) । हे श्रेष्ठतम जिनेन्द्र! काय को कोई नही साधता है, काय तो साधन विधि से स्वय ही प्रतिबद्ध है ।

मानव आत्म कल्याण हेतु विविध योग-उपयोग करता है । यह ही उसके वश का है । चित्त शुद्धि और कम निजरा तो परस्पर निमित्तता से सहज होती है ॥१६॥

१७ हे देव ! यदि ये विज्ञान तन्तु स्व रस में मग्न होत हुए अन्य द्रव्य की रचना से च्युत हो जायें तो भारी मल से परिपूर्ण यह मलिन कषाय कथरी आज ही विघटित हो जाये ।

आत्म शक्तिया उपयोग के सर्वस्व समपण से उपलब्ध/जागृत होती है । अन्य द्रव्यो को बनाने बिगाडने मे लगा ज्ञान तो कषाय को ही पुष्ट करता है ॥१७॥

१८ हे देव ! आपकी महिमा के वभव को देखने वाले पुरुष के द्वारा अज्ञान रूपी वायु के वेग से बिखर कर इधर उधर विचरते हुए ये विज्ञान रूपी तुषाग्नि कण स्व पद मे शीघ्र स्थिर किये जा सकत ह ।

जब तक मनुष्य जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा के गुण वभव को नही जानता वह इष्ट-अनिष्ट की कल्पनाओ मे अपने ज्ञान शक्ति कणो को बिखेरता रहता है । अर्हत दशन उसे आत्म लोक के दशन करा इन कल्पनाओ से विरत कर देता है ॥१८॥

१९ बोध के अतिरिक्त अन्य फल की इच्छा करने वाले अज्ञानी जन विषयाभिलाषा क्यों धारण करत ह ? पहले ही समस्त विषयो को अभिभूत कर (अधीन कर) बोध को ही क्यो नही धारण करत ?

स्व-पर का बोध महान तृप्तिदायक है निश्रेयस् और अभ्युदय (पुण्योदय) का करने वाला है, फिर क्लेश कारक आरम्भ-परिग्रह की भाग दौड क्यो बाह्य फलो की व्यथ आकाक्षा क्यो ? वे तो धान के साथ पलाल की भाँति स्वत ही उत्पन्न हो जाते है ॥१९॥

२० हे देव ! बोध रहित अज्ञानी जीव जिन ज्ञान की किरणो से सब ओर से कषाय कणो की विचित्रता धारण करत ह विश्व के बोध मे कुशल आपका शान्ति सुधारस की बूदो का समूह उन्ही ज्ञान की किरणो से महासागर बन गया है ।

स्व-पर पदार्थो के स्वरूप बोध के अभाव मे ज्ञान कषाय वृद्धि मे प्रयुक्त होता है । स्वरूप बोध युक्त मानव का ज्ञान सर्वत्र शान्ति और आनन्द का विस्तार करता है ॥२०॥

२१ हे ईश ! जो ज्ञान-दर्शन मे भली प्रकार स्थित है, जिनका कर्तृत्व भाव बलपूर्वक अभिभूत (नष्ट) हो गया है तथा शान्त तेज का प्रबल प्रताप व्यक्त हुआ है ऐसे आपके विशेष विषम ज्ञान के होते भी कषाय जनित सभी विकार समूह आप मे नही है।

बाह्य पदार्थों के करने धरने मे जब तक हम लगे रहते है हम केवल-ज्ञान मे मुक्त लोक म भले प्रकार रम नही पाते और इसीलिये हमारे म कषाय नष्ट होकर शा त तेज रूप प्रताप व्यक्त नही होता और बाह्य घटनाय हमे क्षब्ध विक्षुब्ध करती रहती हैं ॥२१॥

२२ विस्तृत तथा सम्पूर्ण शक्ति के प्रौढ प्रकाश के वेग से सुप्रभात करने वाला आपका यह तेज सहज निर्मल चैतन्य की क्रीडा से सम्प्रति इस विश्व की आरती करता हुआ लगता है।

विश्व को निर्मल ज्ञान मे ग्रहण करना विश्व की एक प्रकार से आरती करना है। यह ज्ञान की स्वभाव भूत सहज क्रीडा है। जहाँ यह क्रीडा ज्ञान को विस्तार और प्रौढता प्रदान करती है वहाँ यह प्रौढ ज्ञान का ही सहज कार्य बन पाती है ॥२२॥

२३ चैतन्य से भरे उत्कट तेज समूह से परिपूर्ण, स्वभाव रस की विशाल लहरो से सुशोभित होने वाला आपका यह तेज निश्चय से कर्मावरण द्वारा बलपूर्वक मु दे हुए कातर नेत्रो के थोडा खुल जाने पर हमे प्रत्यक्ष ही प्रकट हो रहा है ऐसा हम समझते है।

कर्मावरण जनित अज्ञान के कारण हम अनन्त आत्म वैभव से परिचित नही हो पाते। कर्मावरण थोडा हटता है तो हमे उसकी झलक मिल जाती है, हम उसे समझ पाते है ॥२३॥

24 इस प्रकार विश्व के एक भोक्ता, सर्वव्यापी, अनंत सामर्थ्य सम्पन्न अद्वितीय महिमा से नित्य सहित आपके उदित रहते आज भी अपने उपभोग भोग्य एक एक अंश का अवलम्बन लेने वाले विरुद्धमति जन क्यो उछल रहे है ?

ज्ञान मे पदार्थ के सम्यक ग्रहण से आनन्द उत्पन्न होता है। अत सर्वज्ञ परमात्मा विश्व भोक्ता है। छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि जन पदार्थ का सम्यक् ग्रहण कर सुख तो अनुभव करते है पर उन्हे विश्व भोक्तापन के महान सुख का अनुभव नही होता। जिन्हे स्व-पर के स्वरूप की सम्यक् समझ ही नही है उन्हे तो सुख के नाम पर दुःख ही मिलता है ॥२४॥

25 विचित्र आत्म शक्तियो के समुदाय रूप यह आत्मा नय दृष्टि से खण्ड खण्ड होता हुआ शीघ्र नष्ट हो जाता है। अत मै खण्डो का निराकरण न करने वाला एक अखण्ड, अनन्त शान्त, अचल चैतन्य तेज हू।

आत्मा के किसी पक्ष विशेष को ही पूरी आत्मा मानने वाली एकान्त दृष्टि आत्मोपलब्धि का नहीं, नाश का कारण बनती है। हम अपने अखण्ड चेतन रूप को स्वीकारें लेकिन पक्षो के नानापन का अहसास भी कायम रखें। वह नानापन हमारी अखण्ड आत्मा का वैभव है।

(३)

1 मोक्ष मार्ग पर कदम धरने से उत्पन्न होने वाले रस से अत्यन्त भरे हुए आपकी आत्म शक्तियो का निरन्तर विकास हुआ था। हे प्रभु! अदभुत वैभव के प्यासे हम लोगों पर उस विकास की एक कला द्वारा प्रसन्नता कीजिये।

धर्म के नाम पर नीरस जीवन से आत्म शक्तियो का जागरण नहीं होता। धर्म विषय कषाय का कुरस छोड ज्ञानानन्द के महारस के पान से होने वाले आत्म शक्तियो के अद्भुत जागरण का नाम है। यह जागरण इसके प्यासे के ही होता है, अन्य के नही ॥१॥

२ मोह व्यूह को बल पूर्वक छोड कर समस्त सावद्य योग के त्यागी पुरुष का ज्ञान-दर्शन मात्र महिमा रूप आत्मा मे सब ओर से लीन होना सामायिक है। हे भगवन। आप सामायिक स्वय हुए थे।

ससारी जन को ज्ञान-दर्शन मात्र की महिमा न होकर इन्द्रिय विषयों की महिमा है और परिणामत वह सब ओर से कषाय में लीन होकर विषम हो रहा है। इस विषमता से ज्ञान-दर्शन के समता पूर्ण लोक को लौटकर सामयिक स्वरूप उसे स्वय को होना है ॥२॥

३ स्वाधीन भावगत सयम के वैभव से युक्त होने पर भी आपने सयम की परस्पर अत्यन्त सापेक्ष द्रव्य भाव महिमा को हानि न पहुचाते हुए स्वय को द्रव्य सयम के पथ मे प्रथम लगाया।

भावगत सयम हमारे मे आगम नयो के उन्मिलन से होने वाली विशुद्धि अर्थात् उपयोग की निर्मलता और स्थिरता का नाम है। यह आत्माधीन है और सम्यग्दर्शन की ओर अभिमुखता के साथ उत्पन्न होकर सत्ता म पडे घाति-अघाति अशुभ कर्मो क अनुभाग को लता दारु रूप द्विस्थानीय तथा सातादि पुण्य/शुभ कर्मों के अनुभाग को अमृत रूप तक चतुस्थानीय कर देता है। अणुव्रत-महाव्रत रूप द्रव्य सयम के अभाव मे इससे आरम्भ होने वाली गुण श्रेणी निर्जरा अन्तमुहूर्त से आगे नहीं हो पाती और चित्त विशुद्धि एक सीमा से आगे नही बढ पाती। महाव्रत रूप द्रव्य सयम का साहचर्य मिल जाने पर भावगत सयम सभी सीमाय लाघता हुआ केवलज्ञान उत्पन्न कर देता है ॥३॥

४ तपके अनुभव से जिनके राग-द्वेष शान्त हो गये और बाहर तथा भीतर जो समता से युक्त हो गये ऐसे आपके लिये बाह्य मे ये दोनो एक से ज्ञेय हो गये और अन्तरग में आप दोनों के समान रूप से ज्ञाता हो गये।

परीषह-जय तथा अन्तर्बाह्य तपो का उद्देश्य बाह्य पदार्थों के प्रति इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पनाओ का उन्मूलन कर मानव को समता के दिव्य लोक मे स्थित करना है ॥४॥

५ मोहोदय से जिसकी बुद्धि स्खलित हो रही है और जो भूमि को प्राप्त नही है ऐसा व्यक्ति जिसे देखता हुआ नित्य बहिर्मुख रहता है, उसे ही शुद्धोपयोग की दृढ भूमि को प्राप्त होकर जानते हुए आप सब ओर से अन्तर्मुख हो गये।

बाह्य पदार्थों को जानना बहिर्मुखता नही है उनके प्रति राग द्वेष बहिर्मुखता है। राग द्वेष मुक्त होकर हर पदार्थ का स्वरूप दर्शन आत्मानन्द रूप होता है ॥५॥

६ आपने शुद्धोपयोग रस से परिपूर्ण साक्षात् लक्ष्य बाँधा था। फिर भी आप विचित्र तपो मे उद्यत थे और क्षयोपशम जनित चारित्र शक्ति को धारण करते थे। कषायों के गल जाने पर आप स्वादान्तर को प्राप्त हो गये।

जो जन शुद्ध ज्ञानानन्द लोक मे जीने हेतु तत्पर नही है उनका तप तो कषाय न गला मात्र स्थानान्तरण करता है जो तत्पर हुए है पर तप का मार्ग नही अपनाते वे भी कषाय को गला ज्ञानानन्द का स्वाद विशेष ले नही पाते। दोनो के सुमेल से सिद्धि सुनिश्चित है ॥६॥

७ वेदनीय कर्म की उदयावलियों को सब ओर से स्खलित होती हुई मानकर आप उत्साहित हुए और आपका आश्चर्यकारी बोध तथा वीर्य द्विगुणित होगया। आप पर अनेक वार भारी परीषहों के आक्रमण भी हुए पर न तो आप मोह को प्राप्त हुए न अन्तरग में कायर बन।

बाह्य मे आयी विपरीततायें आपत्तिया और कुछ नही कर्म मैल का उदय होकर झडना है। यह जान शुद्धोपयोग के साधक उनके बीच दु खी कायर नही बनते वरन् सिद्धि पथ पर और दृढता से कदम धरते हैं ॥७॥

८ आप अपने निकाचित कर्म के उदय को अकेले ही भोगते हुए धर्य वल की वृद्धि से उदात्त चित्त थे। अस्खलित उपयोग की गाढ पकड से आपने भारी दु ख समूह को कुछ नही गिना और कायर नही बने।

तपस्वी साधको के ज्ञान के बल से पूर्व सचित पाप कर्म गलते है और पुण्य रूप सक्रमित हो जाते हैं। निकाचित कर्मांश फिर भी अपना फल देते है। उनके उदय के बीच अन्य किसी की सहायता की अपेक्षा/आकाक्षा न कर निर्भय धर्यधान बना साधक महान आत्म-शुद्धि प्राप्त करता है ॥८॥

९ हे देव! उद्दाम सयम के भार को वहन करते भी आप अखिन्न थे और दुर्जेय कषायो को जीतने मे अकेले ही तत्पर थे। आपने अपने ज्ञान को तीक्ष्ण करने हेतु सदव जागते रह कर श्रुत के सकल विषयो का मनन किया।

परिवार, समाज राज्य आदि क सहारे जीना मानव की दुर्बलता का सूचक है, तथा दुर्बल व्यक्ति कषायो को जीत नही पाता। जो आत्माश्रयी बन स्व-पर पदार्थो का स्वरूप चिन्तन करते है वे तीक्ष्ण ज्ञानी परमात्मा बन जाते है ॥९॥

१० हे तीक्ष्ण उपयोगमय मूर्ति ! आपने जिस द्रव्य पर्याय रूप स्व को श्रुत ज्ञान के बल से जाना था उसे ही समस्त दोष समूह पर आक्रमण कर शुद्ध, एक, सुन्दर बोध रूप हो स्वय अनुभव किया ।

आगम और युक्ति के बल मे मानव जान लेता है कि उसकी आत्मा अरूपी लोकप्रमाण असख्यात प्रदेशी ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय सम्पन्न त्रिलोकपूज्य, प्रभु है । भूख-प्यास जन्म-मरण रोग शोक, चिन्ता भय आदि दोषो से ग्रस्त रहते उसको अपना प्रभु स्वरूप अनुभव में नही आ पाता । दोषो को नष्ट करे तो वह प्रकट प्रभु है ही ॥१०॥

११ हे देव ! तीव्र तपों के द्वारा पुरुष और प्रकृति के बीच चारों ओर दूरान्तर रचने मे कुशल आपके विवेक का परिपाक ज्ञान और क्रिया के समूह से क्रम क्रम से चरमता को प्राप्त हुआ ।

सम्यग्दृष्टि मानव आत्मा और कर्म प्रकृतियो मे ज्ञानधारा और कर्म धारा मे अन्तर पहचान लेता है । तीव्र तप कर वह कर्म-प्रकृतियो को प्रभावहीन कर देता है देह को मृदु से कठोर बना लेता है और तब मुक्त हो ज्ञान लोक मे रमण करता है ॥११॥

१२ जिन्हें थोडी विशिष्ट शुद्धि इष्ट है ऐसे आप श्रेणी प्रवेश के समय अध प्रवत्त करण करते हुए आरुढ हुए और दृढ वीर्य की चपेटो से प्रबल मोह की सेना को चारो ओर से भूलुण्ठित कर दिया । (सातवाँ गुणस्थान)

१३ हे देव ! पहले की अपेक्षा अनन्त गुणी परिणामो की विशुद्धि से परिणमन करते हुए आपने अपूर्वकरण किया तथा अपने श्रेष्ठ वीर्य को निरन्तर उत्तेजित करते हुए आप परम क्षपणोपयोग को प्राप्त हुए । (आठवाँ गुणस्थान)

१४ अनिवृत्तिकरण को प्राप्त कर परिणामों के प्रभावो से आपने बादर कर्मकीट को शीघ्र ही निलुप्त कर दिया । तब कही अन्तरग की विशुद्धता से विकसित होने वाला सहजभाव उत्पन्न हुआ और कुछ निर्मल ज्ञान भी प्रकट हुआ । (नवा गुणस्थान)

१५ सूक्ष्म कीट को हठात् नष्ट करने से अवशिष्ट लोभ सम्बन्धी एक कण की चिक्कणता शेष रहने पर अपने आपको उत्कण्ठित करते हुए सूक्ष्म कषाय भाव का कुछ अवलम्बन लेकर आप क्षण भर में समस्त कषाय बन्ध के नष्ट करने वाले होगये । (दसवा गुणस्थान)

१६ अनन्तगुणी विशुद्धि का अवलम्बन लेकर सम्पूर्ण मुख्य कषाय कीट का वमन कर आप शुभ सयम के असख्यात प्राप्ति स्थान रूप सोपान पंक्ति के अद्वितीय शिखामणि हो गये । (बारहवा गुणस्थान)

श्रेणी चढते हुए क्षपक मानव सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान मे अध प्रवृत्त करण करता है अर्थात् इसके बाद मे श्रेणी मे प्रवेश करने वाले क्षपक के परिणामो की विशुद्धि [illegible]

सकती है। आठवें अपूर्वकरण गुण स्थान के परिणामो की विशुद्धि न तो उसे स्वय को आज तक कभी प्राप्त हुई तथा न ही बाद में इस गुणस्थान मे प्रवेश करने वाला अन्य क्षपक उससे आगे हो सकता है। नवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान मे तो साथ साथ प्रवेश करने वालों के परिणामो की विशुद्धि समान ही होगी और यह समानता आगे सदा ही बनी रहेगी। नव गुणस्थान मे बादर कषाय कीट नष्ट होकर दसवें गुणस्थान मे मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय रह जाता है तथा उसके नष्ट हो जाने पर क्षपक क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थान के यथाख्यात चारित्र को प्राप्त हो जाता है।

ससार सदा भवप्रवृत्त रूप है। ससारी जीवों के परिणामो मे भारी अन्तर होने से अन्त बाह्य नाना प्रकार की दूरिया बनी हुई है — महात्मा पापी मूर्ख विद्वान धनवान गरीब आदि के भेद बने हुए है। नवे गुणस्थान के बाद यह असमानता क्रमश लुप्त हो सभी एक समान परमात्मा बन जाते है, उसके पूर्व तो मानव मानव के बीच समानता के साथ असमानता का भी राज्य रहता है ॥१२–१६॥

१७ शब्द और अर्थ के सक्रमण से युक्त श्रुत का अनेक प्रकार स्पर्श कर आपका मन उसी मे स्थित हो सक्रमण से रहित हो गया। एक पदार्थ मे चित्त को रोकने वाले आपके चित्त की गाँठ वहाँ खुलते ही यह अनन्त तेज उदित हो गया। (तेरहवाँ गुणस्थान)

प्रत्येक जीव स्वभाव से अकारण ही अनन्त तेज का धारी परमात्मा है। मनोग्रन्थियो के कारण वह अनन्त तेज अव्यक्त हो रहा है। स्पष्ट एव स्थिर पदार्थ बोध उन ग्रन्थियो को खोल देता है ॥१७॥

१८ साक्षात असख्यात गुणश्रेणी निर्जरा रूप मे माला के अन्त मे आकर जिन्होने समस्त घातियाँ कर्मों को क्षय कर दिया है ऐसे आप सम्पूर्ण आत्मकलाओं के समूह को प्रकट करते हुए अनन्त गुणी शुद्धि से विशुद्ध आत्मतत्त्व हो गये।

१९ उसी समय सहजवीर्य के प्रकट होने से वह शान्त अनन्त तेज उभरता है जिसके भीतर प्रकट हो रहा अनन्त-अनन्त रूपो से भरा हुआ पूर्ण महिमा वाला विश्व प्रतिभासित होता है।

क्षयोपशम सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धी कषाय की विसयोजना सयमासयम सयम क्षायिक सम्यग्दर्शन उपशम श्रेणी आदि प्राप्त करते हुए/चढते हुए आत्म शुद्धि के साधक ने कर्मों की अधिक अधिक गुणश्रेणी निर्जरा की थी। क्षपक श्रेणी मे समस्त घातियाँ कर्मों को नष्ट कर साधक केवलत्व प्राप्त कर सयोग केवली बन जाता है ॥१८–१९॥

२० योगो को नष्ट करने की इच्छा करते हुए भी जो योग फल ग्रहण करना चाहते थे ऐसे आपने शेष कर्मरज को हठात् क्षय करने के लिये अतिवेग से अपने प्रदेशो को फैलाते हुए क्रम से विस्तार करते हुए लोक पूरण किया।

२१ पीछे सम्पूर्ण गुणशीलों से सम्पन्न होकर शीलों के स्वामी बन योग निरोध कर थोड़ा विवर्तन कर आप शीघ्र ही अनादि ससार पर्याय का परिवर्तन कर सादि सिद्ध हो गये।

तेरहवें गुणस्थान वर्ती अर्हन्त परमात्मा की आयु जब अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रह जाती है और नाम गोत्र तथा वेदनीय कर्मों की स्थिति अधिक रहती है तो उनकी स्थिति आयु कर्म के समान करने हेतु अर्हन्त की आत्मा के प्रदेश दण्ड कपाट और प्रतर रूप से फलकर चौथे समय में लोकपूरण करते हैं, तथा उसी क्रम से वापिस सकुचित हो दवें समय मे शरीर प्रमाण हो जाते हैं। फिर देह से आत्मा प्रदेशो की अपकर्षण क्रिया द्वारा पृथक होता है और तब अर्हन्त १८० ० शील समूह के स्वामी हो चतुर्दश गुणस्थान वर्ती अयोग केवली बन जाते है तथा अ आ इ ई, ऋ' के उच्चारण जितने लघु काल बाद देह त्याग ऊर्ध्वगमन कर लोकाग्रवासी सिद्ध परमात्मा बन जाते है।

ध्यातव्य है कि अयोगी सिद्ध अवस्था की प्राप्ति लोकपूरण की महान योग सामर्थ्य सम्पन्न अर्हन्त ही कर सकते है। दुर्बल मन-वचन-काय योग वालो को तो उपशमोपलब्धि होना भी सभव नही है ॥२ –२१॥

२२ अब आप अनन्त सुख, दर्शन बोध वीर्य के समार से अत्यन्त परिपूर्ण अमृतसार रूप मूर्ति है और अस्खलित प्रतापवाले आप अकेले अत्यन्त विस्तृत भविष्यत् काल को व्यतीत करते हुए जयवन्त प्रवर्तते है।

जीव अपने सब क्षुधादि दोष और अज्ञानादि दुर्बलताओ को जीत कर एक दिन अनन्त ज्ञानादि अष्टगुणधारी सिद्ध परमात्मा बन जाता है और फिर कभी इन दोष-दुर्बलताओ से जीता नही जाता ॥२२॥

२३ त्रिकाल सम्बन्धी विश्व के रसातिपान से तृप्त आश्चर्यकारक, नित्य उदित बोधदृष्टि वाले तथा क्रियाशील और अडिग वीर्य की विशाल शक्ति वाले आप निरन्तर अनुपम सुख भोगते हैं।

जीव ससारी हो चाहे सिद्ध, पदार्थ पदार्थ का स्वरूप बोध उसे महान तृप्तिदायक है। इस तृप्ति का पान विषय-कषाय मुक्त, सतत क्रियाशील तथा दृढ वीर्यवान् जन ही कर पाते है अन्य जन नही ॥२३॥

२४ ऐसा लगता है मानो आप विश्व को बलपूर्वक अपने मे सक्रान्त कर रहे है, लिख रहे है सरक्षित कर रहे ह और उद्दाम (उग्र) वीर्य-बल से गर्वित दृष्टि विकास की लीलाओं से दिशा दिशा मे स्वय प्रकट हो रहे है।

ज्ञाता का अनुपम सुख का व्यापार पदार्थ पदार्थ को ज्ञान मे पीने रूप है यहाँ-वहाँ सर्वत्र अपने ज्ञान का साम्राज्य स्थापित करने रूप है ज्ञान रूप मे सर्वत्र उपस्थित होने रूप है ॥२४॥

२५ हे देव ! स्वय विकसित मेरे चित्त रूपी कली को आप अतिशय विकसित कर, तथा समस्त विश्व को विकसित/स्पष्ट कर जिससे हे प्रभो ! यह मै ही बलपूर्वक वृद्धि को प्राप्त चित्त के विकास रूप हास्य के द्वारा सर्वमय होजाऊँ।

चेतना के विकास, निर्मलता की माप विश्व को अधिकाधिक ज्ञान मे व्यापने विश्वमय होने रूप है। इसकी सम्पूर्णता सर्वज्ञता मे है।

(४)

१ हे जिनेन्द्र ! सदा उदित अनत विभूति के तेज वाले, स्वरूप मे सुरक्षित, आत्मा की महिमा मे देदीप्यमान विशुद्ध दर्शन-ज्ञानमय, एक चेतना को धारण करने वाले तथा विश्व को जानने वाले आपको नमस्कार हो।

२ अनादि से मेरे अनुभव से बाह्य/नष्ट आपका तेज आपके प्रसन्न होने पर आज [मुझे] दिखने लगा है। इसलिये यह चित्त के अग विक्षेप द्वारा महारस को प्रकट करता हुआ मै हर्ष से नृत्य करता हू।

जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा के अनत तेज को जब तक मानव स्वीकार नही करता वह उसकी अनुभूति का विषय नही बन सकता। आगम और युक्ति के बल से जब वह उसे बुद्धिपूर्वक स्वीकार करता है तो धीरे धीरे सचित कर्मों की स्थिति और पाप प्रकृतियो के अनुभाग गलते है पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग मे वृद्धि होती है तथा परिणाम स्वरूप हिंसादि पापो की ओर से उन्मुखता हट चित्त मे निर्मलता आती है और आत्म तेज की श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन उदित होता है। सम्यग्दृष्टि हर क्षण आनन्द की वरखा मे नहाता है, उसका हर भोग तथा उपयोग नित्य वर्धमान तेज से दीप्त रहता है ॥१-२॥

३ जिनका स्वभाव भाव सरल/मायाचार रहित, अस्खलित है ऐसे निज तत्त्व के जानने वाले पुरुषो द्वारा जो उत्कृष्ट रूप से पूजा जा रहा है तथा जो विश्व व्यापी वैभव को प्रकाशित कर रहा है ऐसा आपका यह दुर्लभ तेज उदित हो रहा है।

अनन्त तेज के धाम जिनेन्द्र और उनकी वाणी का बहुमान आत्म स्वरूप के जानने वाले सरल परिणामी दृढ मति जनो को अवश्य होता है तथा इस बहुमान के परिणाम स्वरूप वे उन्हे अधिक अधिक समझ मे आते जाते है ॥३॥

४ हे विश्वेश ! जो स्वतत्त्व से प्रतिबद्ध है उसी मे संहृत (समाविष्ट) है जो चित्त/ज्ञान मे प्रकट हो रही है अत्यन्त स्पष्ट है तथा जो स्वय आपके द्वारा अनन्तता को प्राप्त होकर धारण की गई है ऐसी ये शक्तियाँ किसे विस्मय नही करती है ?

जैन शास्त्र महामुनियो की बुद्धि विक्रिया बल औषध आदि विस्मयकारी ऋद्धियो के वर्णन से भरे हुऐ हैं। ये शक्तियाँ आत्मा की स्वभावभूत है एव ज्ञान ध्यान-तप से रत्नत्रय के मार्ग मे

स्वभाव के आश्रय से इनका प्रकाशन होता है, बाह्य किसी जड चेतन पदार्थों की दासता से तो इन पर कर्मावरण ही बढता है। (जिनेन्द्र का बहुमान/भक्ति तो प्रकारान्तर से आत्मा की ही शरण है) ॥४॥

५ निश्चय से अपने आत्म वैभव से अपरिचित तेजवाले पशु को जो आप है वह ही प्रतिभासित होते है, परन्तु किसी विज्ञान घन की दृष्टि मे आप एक होकर भी अनन्तता को धारण करते है।

६ हे देव ! यद्यपि आपके ये गुण अनन्तता को धारण करते है और ये पर्यायो की सन्ततियाँ अनन्त है तथापि एक चैतन्य के चमत्कार से स्फुरित होते हुए आप एक के समान अवभासित होते है।

आत्मा अक्रमवर्ती अनन्त गुणों/योग्यताओ/सामर्थ्यो और क्रमवर्ती अनन्त पर्यायो का पुञ्ज है। इसके इस वैभव से अपरिचित मानव इसे अभी अनुभव में आ रहे अल्प से क्षायोपशमिक गुण और वर्तमान पर्याय जितना ही मानता है। ज्ञानी जन ही चेतना की एकता मे पिरोई हुई इसकी अनन्तता को समझ पाते है, तथा वे ही जिनेन्द्र और उनकी वाणी की अनन्तरूपता को समझ पाते है ॥५–६॥

७ आपकी असीम रूप से बढी हुई तथा विश्व को व्याप रही बोध लता जिसके पत्र अन्तर्मुख है स्वभाव भावों के उछलने रूप अद्वितीय क्रीडा से अत्यन्त सुशोभित हो रही है।

स्व-पर रूप विश्व पदार्थों को जानते हुए क्या हम बहिर्मुख/कषायनिष्ठ है अथवा अन्तर्मुख/आत्मनिष्ठ है, क्या हम बाह्य पदार्थ-समूह के तुच्छ अवयव रूप स्वयं को अनुभव करते है अथवा जगत के ज्ञाता रूप अपनी महानता के बोध से [illegible] सब कुछ हमारे ज्ञान मे [illegible] हमारा अवयव स्वरूप है की समझ से हमने उस तुच्छानुभव को निरस्त कर दिया है एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यदि हम बहिर्मुख है तो ससार/दुख रचना निरन्तर कर रहे है और यदि अन्तर्मुख है तो दुःख हमें स्पर्श कर ही नही सकता हम सदा ही अपने अकारण मुक्त आनन्द लोक मे निवास कर रहे है ॥७॥

८ तीव्र ज्ञान रूपी वायु की क्रीडा से कम्पित समस्त जगत को मूल सहित उखाडने वाली आपकी यह ओजस्वी आत्मक्रीडा मेरे मन को अत्यन्त आनन्दित सी कर रही है।

९ तीन काल की पर्यायो की माला रूप यह जगत जिसकी एक तरंग मे महा पूर मे रखा हुआ दिखता है उस अगाध, घोर उद्धत और दुर्धर बोध सागर को जोर से तरंगित करते हुए आप चलते है।

ज्ञाता को ज्ञान की क्रीडा दो प्रकार हो रही लगती है। कभी लगता है वह बाह्य पदार्थ जगत को उठा उठा कर अपने ज्ञान मे ग्रहण कर रहा है कभी लगता है सब कुछ उसके ज्ञान सागर मे समाया हुआ है और वह इस सागर की लहरो मे ही मात्र अरोहण-अवरोहण कर रहा है। एक मे अध्यवसाय व्यक्त होता है, दूसरे मे सहजता है ॥८–९॥

१० एक दूसरे की सीमा में स्खलित होते हुए भी अपनी अपनी विशिष्ट वस्तुत्व की जो पृथक पृथक सम्पदा रखते है, ऐसे ये पदाथ चतन्य अग्नि की आरती से पवित्र किये हुए आपके ज्ञानतेज मे प्रवेश करते है।

परस्पर निमित्त-नमित्तिकता आलम्ब्य-आलम्बन सम्बन्ध से जुड जगत के अनन्त पदाथ अपना अपना कार्य कर रहे है और परस्पर मैत्री का उपभोग करते हुए स्वतन्त्र हैं। यह उनका तत्त्वरूप है। सम्यक् ज्ञानी मानव जगत को इस तत्त्व रूप मे ही ग्रहण करते हैं और अतत्त्व/कुतत्त्व के भवरो मे पड कर ससार/दु ख रचना नही करते। जो जन अपने अज्ञान अथवा कुज्ञान से इस तत्त्व रूप की विराधना करते है अर्थात् कर्मोदय को तज्जनित दोषो को अपना स्वरूप मान स्वय को अतत्त्व/कुतत्त्व रूप मे स्वीकार करते है (गरीब, अमीर आदि मानते है), बाह्य मे अन्य जड, चेतन पदार्थों को भी तदनुसार अतत्त्व/कुतत्त्व रूप मे जानते-देखते है तथा वसा ही व्यवहार करते है वे अन्तर्बाह्य अपने चारो ओर दु ख रचना करते है। सक्षप मे अज्ञानी जन जहाँ पदार्थों को विषय-कषाय से दूषित कर ग्रहण करते है वहाँ ज्ञानी जन उन्हे ज्ञानाग्नि से पवित्र कर ग्रहण करते है ॥१०॥

११ जो परस्पर मिले हुए, देदीप्यमान, बहुत भारी वभव से प्रकाशमान है, अनेक धर्मों से सहित है अविनाशी है ऐसे आप एक धम में गडी दृष्टि वाले व्यक्तियो द्वारा कसे देखे जा सकते है!

अनेकांत स्वरूपी आत्मा को समझ लेना एकांत के, नय विशेष के आग्रहयुक्त मनुष्य के बस की बात नही है ॥११॥

१२ स्व तथा पर प्रत्ययो से समस्त वस्तुओ की अनन्त पर्यायों की सन्तति रूप श्री उदित होती है। अज्ञानी जनो को उसका कभी वेदन (ज्ञान) नहीं होता है, किन्तु आप उन्हे सम्पूर्ण रूप से जानते है।

जगत की प्रत्येक वस्तु ही अद्भुत गुण वभव से युक्त है। स्व तथा पर प्रत्यय से इस वभव के नित्य नूतन रूप उभरते है। ज्ञानी जन स्व-पर पदार्थों के इस स्वरूप वैभव को जान कर परमानन्द को प्राप्त होते है। अज्ञानी जन इस वभव के बोध से रिक्त अपने विषय-कषाय के तुच्छ, घिनोने जगत मे लिप्त रह तुच्छ घिनोना जीवन जीते है ॥१२॥

१३ परस्पर विभक्त बहुत भारी हीन शब्दावली आपका वर्णन नही कर पाती। वह सुघड द्रव्य की पुष्कल महिमा मे उसी प्रकार लीन हो जाती है जसे समुद्र मे महान तरगो की माला।

तरंगे समुद्र का सतही परिचय देती है। इसी प्रकार शब्द आत्मा/परमात्मा को बहुत ही थोडा समझा पाते है। तद्रूप जीकर अनुभव कर हम उन्हें विशेष समझ पाते है ॥१३॥

१४ हे विभो ! विधि और निषध से रची हुई इस स्वभाव की मर्यादा का उल्लघन न करते हुए यह एक आप ही शुक्ल एव अशुक्ल के समान कभी भी द्वयात्मकता को नही छोडते है।

शुक्ल वर्ण/पदार्थ द्वयात्मक है। वह अपनी अपेक्षा ही शुक्ल है अपने से अधिक शुक्ल की तुलना मे अथवा, अन्य शुक्ल पदार्थ की विवक्षा से अशुक्ल है। इसी प्रकार आत्मा विवक्षित पर्याय की अपेक्षा ही ज्ञानी है, सानन्द है, अन्य पर्याय की अपेक्षा अज्ञानी तथा निरानन्द है। उसे अन्यो के ज्ञान आनन्द आदि का वेदन नही होता है इस अपेक्षा भी अज्ञानी निरानन्द आदि है। इस प्रकार आत्मा ज्ञानी-अज्ञानी सानन्द निरानन्द आदि दोनो रूप है ॥१४॥

१५ हो रहे पदार्थ में अस्तिपना तथा न हो रहे पदार्थ में नास्तिपना प्रतिभासित होता है। आप अस्ति-नास्ति के समुच्चय रूप प्रकाशित होते हुए हमें आश्चर्य उत्पन्न नही करते है।

१६ आप अपने रूप से वर्तन करते हुए भावरूपता को प्राप्त हो रहे है और पर रूप से वर्तन नही करते हुए अभावरूपता को प्राप्त हो रहे है। अभाव भावमयता का यह आपका स्वभाव ही है और यह समझने मे कठिन है।

मानव अपने अनुरूप, वर्तमान काल मे क्षेत्र विशेष मे किन्ही जड-चेतन पदार्थों के साथ प्रसग विशेष मे व्यवहार करता हुआ वर्तन करता है। यह उसका भाव तथा अस्ति रूप है उसकी आत्मा है। वह अन्य रूप अन्य काल-क्षेत्र मे अन्य जड चेतन पदार्थों के साथ अन्य प्रसग मे व्यवहार करता हुआ वर्तन नही कर सकता/नही करता है। यह उसका अभाव तथा नास्ति रूप है उसकी अनात्मा है। इन दोनो को भलीभाँति दृढता से समझ मानव स्पष्ट रूप से अस्ति पक्ष का ग्रहण करे तो वह व्यर्थ के विकल्पो और तज्जनित अशाति, सक्लेश से मुक्त रहता हुआ अपने कार्य सम्पादन का आनन्द ले सकता है। ऐसे अनात्ममुक्त तथा आत्मनिष्ठ मानव के बाह्य मे सफलताये चरण चूमती है तथा अन्तरग मे ज्ञान वीर्यादि आत्म गुणो का द्रुतगति से विकास होता है ॥१५-१६॥

१७ 'यह सदा एक ही है अथवा अनेक ही है इस प्रकार अवधारणा को नही प्राप्त होते हुए भी आप स्वय को अबाधित रूप से धारण करते है। वास्तव मे वस्तु वृत्तिया विचार के योग्य नही है।

१८ क्रम प्रवृत्त (पर्याय) और अक्रम प्रवृत्त (गुण) भावों के भारी वैभव से युक्त आप उन व्यक्तियो द्वारा जिनकी चेतना नित्यत्व मे जडी हुई है तथा उनके द्वारा भी जिनकी दृष्टि क्षण-क्षय से क्षुब्ध है नही देखे जाते है।

मानव अन्यो से भिन्न भी है, एक भी है। अन्यो के द्रव्य-गुण-पर्याय उसके कदापि नही होते, वह सदा ही उनसे अस्पृष्ट रहा है। इस अपेक्षा वह अन्यो से भिन्न ही है। इस भिन्नता के साथ ही अन्यो से उसकी एकता भी है। उनके प्रति किया गया सदसद् व्यवहार उसे शुभाशुभ कर्म बंध अथवा निर्जरा रूपमे फलित होता है अत वह उनसे अभिन्न/एक भी है। पुन अन्य पदार्थ ज्ञेयाकार रूपमे ग्रहण होकर उसके ही अभिन्न अवयव/अश बन जाते है। अपने इन अवयवो को अपने से भिन्न ही मानना अपने प्रति, अपने ज्ञान के प्रति भारी अपराध है। इन ज्ञेयाकारो को अपनी आत्मा नही मानता हुआ मानव स्वय को अज्ञान के अधकूप से बाहर निकलने ही नही देता। इसी प्रकार, मानव जहाँ आत्मा की नित्यता के वैभव से युक्त है वहाँ ही क्षण क्षण के परिवर्तमान् वैभव से भी संयुक्त है। इन विरोधी पक्षो से सम्पन्न स्वय को तथा अन्यो को समझने मे एकान्त स्वभावी विचार विशेष मदद नही कर सकता प्रत्युत मात्र उसका ही आश्रय तो मानव को अज्ञान के गर्तों मे और धकेल देगा। वस्तु को समझने के लिये हमे सीधे वस्तु के पास जाना होगा और उसका प्रत्यक्ष दर्शन कर यथा संभव उसे समझना होगा, तथा शेष परिचय के लिये उन आप्त पुरुषो की शरण जाना होगा जिनने अपने दिव्य बोध से उसको सम्पूर्ण प्रत्यक्ष कर लिया है ॥१७–१८॥

१९ जो केवल ज्ञान सम्पदा से परिपूर्ण है, सदा उदित ज्योति स्वरूप है, अक्षय पराक्रम वाले है ऐसे स्वतत्त्व के बोध मे स्थित आप क्षणिकवादियो के लिये अद्वितीय साक्षी हैं।

क्षणिकवादी अनित्यवादी है। वह नित्य आत्मा को नही मानता वरन् उसकी मान्यता प्रतीति, श्रद्धा को अविद्या कहता है। अविद्या ही यदि वह है तो नित्य वैभवमयी आत्मा की उपासना का कोई सुफल नही होना चाहिए, पर अर्हन्त मे इसका महान फल केवल ज्ञान और अजेय पराक्रम आदि रूप मे प्रकट हुआ है। अत अर्हन्तो ने अपने उदाहरण से एकान्त क्षणिकवाद का सदा के लिये खण्डन कर दिया है ॥१९॥

२० हे प्रभो। निज ज्ञान से सुशोभित अतिशय तेज से सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करते हुए भी आप सदैव पर के स्पर्श से पराङ्मुख, पृथक प्रतिभासित होते है।

२१ पर पदार्थो से चिदात्मा के पराङ्मुख होने पर भी आपकी अद्भुत महिमा को पदार्थ स्पर्श करते है। उतने मात्र से आपकी चेतना दूषित नही होती, क्योंकि वह चेतना तो सदा चेतना ही रही है।

आत्मा अकारण अनन्त ज्ञान-वीर्यादि तेज का पुंज है। पर पदार्थों के स्पर्श/भोग की लोलुपता, राग-द्वेष से यह तेज व्यक्त नही हो पाता कर्मावरण से मलिन धूमिल हो जाता है। जो जन आत्मतेज की अनन्तता को स्वीकार कर परार्थ पराङ्मुखता को जलाजली दे देते है उनके कर्मावरण नष्ट हो लोकालोक व्यापी ज्ञान तेज प्रकट हो जाता है। राग-द्वेष विहीन ज्ञान जगत को जानता कभी दोष को प्राप्त नही होता ॥२०–२१॥

२२ बाह्य अथरूपता धारण करने वाले ये पदाथ आपमें बोधरूपता धारण करते हैं। उस कारण आप अनन्त विज्ञानघन है। आप न मोहित होते है न राग करते है, न द्वेष करते है।

बाह्य पदार्थों का ज्ञान में ग्रहण होकर ज्ञाता का नानारूप बोध विश्व बनता है। बाह्य विश्व अनन्त है, अत बोध विश्व भी अनन्त है। जो बाह्य पदार्थों मे राग-द्वेष करते है, उनके स्पर्श/भोग की वृत्ति नही छोडते वे अतीन्द्रिय विज्ञानघन नही बन पाते। उनका ज्ञान इन्द्रिय द्वारो से ही थोडा कार्य कर पाता है ॥२२॥

२३ हे ईश! जो यह बाह्य पदार्थो का घनावघट्टन है वह ही स्पष्ट, तीव्र आघात से अपनी अद्वितीय चित्त रूप कलिका के विकास को प्राप्त होने के स्वभाव वाले आपके तेज का उत्तजन/सवर्धन है।

२४ हे जिनदेव! जो बाह्य में प्रमेयों की विशदता प्रकट होती है, वह यह भीतर प्रमाता की विशदता है। तथापि, बाह्यार्थो मे आसक्त व्यक्ति द्वारा आपका स्पष्ट प्रकाश देखा नही जाता है।

जसे कली पर बाह्य भीतरी दबाव पडने से वह खिल कर फूल बनती है वसे ही मानव का शारीरिक मानसिक आध्यात्मिक विकास, उसके रत्नत्रय की जागृति बाह्य पदार्थों को समझने बाह्य परिस्थितियों में कुशल अकम्प व्यवहार से पडने वाले दबाव से होता है। इसीलिये जिनेन्द्र प्रणीत आगम मे सम्पूर्ण लोकालोक की छह द्रव्यों सात तत्त्वों नो पदार्थों की सूक्ष्म-बादर सब की चर्चा हुई है, तथा इसी लिये कर्मभूमि की विपरीतताओ मे/कष्टों मे मोक्ष माग माना गया है बाह्य अनुकूलताओ वाली भोग भूमियो में नही। बाह्य जगत मानव के लिये अखाडा/खेल के मैदान की भाँति है जहाँ यदि अशुभ कषायो आरम्भ-परिग्रह, हिंसादि पापो के घनावघट्टन करता है तो अन्दर-बाहर नरक बना लेता है शुभ प्रवृत्तियो/भावों के घनावघट्टन करता है तो स्वग रचना कर लेता है और ज्ञातानन्द लोक के घनावघट्टन करता है तो परमात्मा ही बन जाता है ॥२३-२४॥

२५ जिस प्रकार पदाथ जगत के बीच परिकर्म (पुरुषार्थ) की कुशलता से वीय सम्पदा अर्जित कर नाना प्रकार की स्वाद परम्परा को आप स्वय प्राप्त कर रहे है उस प्रकार आपके वभव का मैं विस्तार (वर्णन) कर रहा हू।

आचाय के स्तुत्य 'आप' जो पदाथ जगत के बीच विचित्र परिकम के कौशल से वीर्य अर्जित कर स्वाद/आनन्द परम्परा प्राप्त करते हैं जहाँ एक ओर समवसरण की गधकुटी मे विराजमान अर्हन्त है वहाँ दूसरी ओर वह प्रत्येक ही मानव की एक देश गुणवभव का प्रकाशन करती अर्हन्त समान उसकी अपनी आत्मा है। वह आत्मा किस मार्ग से विधि से अपने गुणवभव का स्पर्श करती है प्रकाशन करती है, इसका दिग्दशन ग्रन्थ क पद पद मे हमे प्राप्त होता है। ॥२५॥

(५)

१ हे विभो ! आप वद्धि को प्राप्त नही हो रहे है फिर भी सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त हो रहे है नमन न करते हुए भी अत्यन्त निम्न है अवस्थित होते हुए भी आश्चय कारक आत्म तेज के द्वारा सब ओर विस्तार से व्याप्त सुशोभित हो रहे है ।

आत्मा अनादिनिधन रूप से अनन्त ज्ञानादि गुण सम्पन्न प्रभु है। इस गुणवभव मे कुछ भी कर के वृद्धि समव नही है क्योकि वृद्धि का अवकाश नही है । तथापि जीव को प्रत्येक क्षण तमु हूत इसकी उत्कृष्ट अभिव्यक्ति के प्रति सजक रहना होता है अन्यथा इस गुणवभव पर कमधूलि जम जाती है और वह इसके अनुभव/स्पर्श से वचित हो जाता है । आत्मा स्वभाव से प्रभु है, जगत मे कोई अन्य उसका सृष्टा नही है न ही उससे कोई अधिक है अत वह किसे नमन करे ? तथापि ज्ञान मे छोटे से छोटे अणु को भी ग्रहण हेतु सदव तत्पर है इसलिये वह निम्न है । आत्मा प्रदेशापेक्षा देहावस्थित होते भी ज्ञानापेक्षा सर्वत्र विद्यमान है सारे जगत की हलचल से परिचित है ॥१॥

२ अनादि अनन्त क्रम से युक्त वैभव के प्रभाव से जिन्होने समस्तकाल के विस्तार को रोक रखा है व्याप रखा है जो परिपूर्ण निजद्रव्य की महिमा मे निश्चल है सनातन उदय वाले है ऐसे यहा आप सुशोभित हो रहे है ।

आत्मा लोकालोक का ही ज्ञाता नही है वह त्रिकालज्ञ भी है काल उसके ज्ञान मे समाया हुआ है । उसकी महिमा को काल से कुछ भी जीर्ण हो जाने का खतरा नही है, काल की हर करवट उसकी ज्ञेय मात्र है ॥२॥

३ यह आपका आदि मध्य और अन्त के विभाग से रहित वभव जो सब ओर से ज्ञान मात्र सत्ता से युक्त है और विकार रहित हो गया है समग्ररूप म चेतना की स्वच्छता का आश्रय लेता है ।

आत्मा का अनादि अनन्त गुणवभव चेतना की निमलताओ मे निवास करता है । चित्त क कषाय-मलिन होने पर इन के स्पश से मानव वचित हो जाता है-भय होने पर हाथ पर फूल जाते है वीय काय नही करता क्रोध होने पर मतिभ्रष्ट हो जाती है, आदि । स्व पर के स्वरूप ज्ञान म लगे मानव को सर्व गुण वभव अनायास ही अनुभूति का विषय बन जाता है और सब कषाय मल क्षीण हो जाता है ॥३॥

४ पदार्थो की समूह सत्ता आपको भी अपनी महिमा म ग्रहण करती हुई आपस भागी है तथापि इस जगत मे वह आपके ज्ञान मे उससे उत्पन्न हुई के समान अच्छी तरह समाई हुई है क्योकि आपके ज्ञान का अविषय कुछ भी नही है ।

५ समस्त शब्दों के तथा जगत के ग्रहण से जो गभीर है वह अभिधान (कथन) सत्ता आपके निमल बोध में स्थित होती हुई आकाश तल में चमकती हुई एक तारा की विडम्बना को प्राप्त होती है।

6 हे विभो! ज्ञान सत्ता निज वस्तु की महानता से विश्व के पदार्थों के बिना ही आप मात्र द्वारा प्रवतन करती है, तथा वह कभी भी पर पदार्थों को व्यापती नहीं है, तथापि वे पदाथ चेतनामय प्रतिभासित होते है।

वस्तुबोध के दो स्तर हैं (१) इन्द्रिय-चक्षु का वहिमु ख स्तर (२) आगम-चक्षु का अन्तमु ख स्तर। प्रथम के अनुसार जगत के जड-चेतन पदार्थ समूह में मानव समुद्र में बूंद की भाँति नगण्य हैं उसका सम्पूर्ण जीवन बाह्य परिस्थितियो की अनुकूलता पर निर्भर करता है। उसका तन मन सब बाह्य वेश, काल परिवेश की छाया के रूप मे ढलता है। वह उनके हाथ की कठपुतली है, उनका दास है उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। वस्तु बोध के इस स्तर पर जीते आर्त रौद्र मानव प्रकट पराश्रय मे जीते हैं। आगम चक्षु स्तर की अन्तमु ख दृष्टि का वस्तु बोध भिन्न प्रकार का है। वह णाणट्ठियासव्वे', सब पदार्थों को तथा सकल वाङमय को ज्ञानस्थित ज्ञान मे समाया हुआ स्वीकारता है। इसके अनुसार मानव को प्रकट लगता है कि एक के बाद दूसरी बोध तरग उसके बोध समुद्र से, आत्मा की लब्धि से (आधुनिक मनोविज्ञान के शब्दो मे उसके अवचेतन मन से) उठ रही है और वह उसके वेदन-सवेदन मे जी रहा है। यह बोध तरग बाह्य पदाथ जगत का प्रकाशन करती है उसका स्पर्श नही करती, और इसका कण कण चेतन है। यह वस्तु बोध मानव को बाह्य से नित्य मुक्त/अस्पृष्ट घोषित करता है, तथा बाह्य में अनुकूल प्रतिकूल को मानव के सम्यक्, असम्यक् वस्तुबोध और तदनुरूप आचरण की छाया मानता है मानव को अपना स्वय का भाग्य विधाता सृष्टा निर्णीत करता है और उसे अपने वतमान तथा भविष्य के प्रशस्त विधान की प्रेरणा देता है। आगम चक्षु के इन उजालों में इन्द्रिय चक्षु भी स्वस्थ हो जाते हैं और मानव सम्यग्ज्ञानी बन जाता है ॥४–६॥

७ अथवा, कोई एक पदाथ की सत्ता पदार्थ मण्डली का उल्लघन कर पृथक प्रकट नहीं है। आप चतन्य स्वभाव से समस्त पदार्थ समूह को तद्रूप होते हुए प्रत्यक्ष करते है।

८ यद्यपि सब वाचकों के साथ शब्द सत्ता कदाचित् भी पुदगलपने का उल्लघन नही करती है, तथापि वह वाचक शक्ति परमाथ से हे देव! आपके चित्त के एक कोने मे सचार करती है।

९ वाह्यार्थ का अभाव करने पर अन्तर अथ कहाँ है तथा बिना अन्तर-अर्थ के वाह्यार्थ नही है। निश्चय से प्रमेयशून्य के प्रमाणता नही है और प्रमाणशून्य के प्रमेयता नही है।

१० आत्मा मे स्थित ज्ञान-ज्ञय की स्थिति हठात् वाह्यार्थ का निषध करने मे समय नही है। वास्तव में वाणी के बिना ही ज्ञान मे स्पष्ट बनती हुई आकृतियाँ वाह्यार्थों को कहती है।

जगत के पदार्थों मे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक की अन्य बिना गति नही। पदार्थ जड हो चाहे चेतन ससारी हो चाहे परमात्मा यह जगत के अन्य पदार्थो के बीच उनक विधि-निषेध रूप सम्बन्धो से वतन करता है। मानव ज्ञाता है तो वाह्य पदार्थों को जानता हुआ उनसे ज्ञान मे तद्रूप होता हुआ ज्ञाता है। यदि उसे यह तद्रपता स्वीकार नही है उसमे यह तद्रूप होने की मृदुता नही है तो उसके ज्ञान गुण का वतन भी समव नही है। इसी प्रकार उसके ज्ञातापन के अभाव म पदार्थो की ज्ञयता भी काय नहीं कर सकती। पुन वाचक शक्ति मानव की अपनी है पर वह पौद्गलिक शब्द के सहारे काय करती है, और शब्द की भी वाचक होने की योग्यता मानव के प्रयोग से काय करती है। अत कहने की आवश्यकता नही कि आलम्व्य रूप कोई पदाथ हो वह वाह्य के अनुकूल आलम्बन पूवक ही कार्य करता है उन्हे छोड कर नही ॥७-१०॥

११ विना उपयोग के स्फुरित हुए आप सुखादि गुणो द्वारा उसी प्रकार स्ववस्तु मे निमग्न सुशोभित होते है जसे वाचक-वाच्य भाव के बिना समग्र वाचक के रूप मे आप एकता को प्राप्त होते है।

१२ क्रम से आने वाली बहुत भारी विभूति से पूण निरन्तर स्फरित होने वाले स्वभाव रूप *ही आपका वतनशील सहभावी वभव सब ओर एक साथ प्रकाशित हो* रहा है।

सयोग केवली मानव का अनन्त गुण/योग्यता समूह एक साथ उनमे उपस्थित है। वे अपनी वाचक शक्ति के उपयोग किये बिना भी एक साथ समग्रवाचक है सव कुछ को जानने की योग्यता से समग्रज्ञाता है त्रिलोक का जीतने के बल से त्रिलोकजयी है। यह उनका अविशिष्ट/निरन्तर रहने वाला/सामान्य रूप है। षट गुणी हानि-वृद्धिरूप स्व प्रत्यय तथा वाह्य आलम्बनो के अनुसार क्रमिक पर्याय रचना होती है और अविशिष्ट के साथ विशेष रूप भी उभरता रहता है ॥११-१२॥

१३ हे ईश ! क्रम और अक्रम से आक्रान्त विशेषों को गौण करने से अखण्ड एक सहज, सनातन निर्वाध इस सत् तत्त्व को आप स्पष्ट रूप से सब ओर से सदा ही देखते है।

१४ प्रदेश भेद और क्षण भेद से खडित समस्त ही अन्तरग और बहिरग पदार्थो को सब ओर से देखने वाले आपके ये मूत और अमूत क्षणिक अश मात्र उछलते है।

विना सामान्य के विशष/भेद की सत्ता नही है और बिना विशेष के सामन्य की सत्ता नहीं है। सब विशेषा को गौण करते है तो दश काल से अतीत एक सत्ता मात्र सामान्य की उपलब्धि होती

है। इस सामान्य सत् मात्र तत्त्व का जीव, पुद्गल आदि रूप विभाग किये जाने पर एक जीव की अथवा एक गुण की तथा काल अपेक्षा एक समय की उसकी पर्याय की प्राप्ति होती है। सामान्य का ग्रहण आत्मा की दर्शन शक्ति तथा भेदों का ग्रहण ज्ञान शक्ति करती है। आत्मा जगत को भेदाभेद रूप से निरन्तर जानती देखती है ॥१३-१४॥

१५ अखण्ड सत से क्रमश अंशकल्पना द्वारा आगे आगे सूक्ष्म होता हुआ अंतिम अंश की सीमा तक विस्तृत होने वाला आपका अनंत तत्त्व विभाग सदा प्रकाशमान है।

आगम मे तिर्यक् रूप मे सत् का जीव और अजीव म जीव का ससारी और मुक्त मे, ससारी का एकेन्द्रियादि जीवो मे विभाग हुआ है। अजीव का धम अधम, आकाश काल और पुद्गल में पुद्गल का स्कन्ध और परमाणु मे विभाग हुआ है एक परमाणु का उसके रूप रस आदि गुणो मे तथा एक गुण का उसके अविभागी प्रतिच्छेदो मे विभाग हुआ है। ऊर्ध्वरूप से इन ही सब द्रव्यो की सयोगी असयोगी स्व पर प्रत्ययो से एक के बाद एक विस्रसा अथवा पुरुष प्रयोग म नियम पूवक बनने वाले पर्याय विभाग की चर्चा हुई है। यह और अन्य भी जो तत्त्व विभाग आगम मे हुआ है युक्ति और अनुभव से उसका पूरा समथन होता है ॥१५॥

१६ अखण्ड सत्ता से लकर बहुत द्रव्य खण्डो तक सबही आप म प्रवेश करते है और वहा ही रत हो जाते ह। वे द्रव्यो के बिना प्रदेश रहित आप म पृथक पृथक सुशोभित होते है।

अखण्ड एव खण्ड रूप अनन्त वभव से पूर्ण बाह्य विश्व ज्ञाता क ज्ञान मे बोध विश्व रूप से ग्रहण होता है। द्रव्य और उनके प्रदेश तो बाहर ही रहते है ज्ञान मे तो तदनुरूप पृथक पृथक उनके ज्ञयाकार बनते है। बाह्य विश्व मे द्रव्य की पर्याय नष्ट हो जाती है पर ज्ञान मे उनकी स्मृति चिरस्थायी रहती है। पदार्थों के पास उसकी गुजरी पर्यायो को टिकाये रखन की सामर्थ्य नही है पर ज्ञान मे अपनी तथा अन्यो की सबकी ही स्मृति की सामर्थ्य है ॥१६॥

१७ जिन्होने परस्पर अवसरण दिया है ऐसे [अखण्ड] सत्ता और सत (पदाथ) एक साथ सुशोभित होत है। उन्हे चारो ओर से जानते हुए आपका सामान्य और विशेष के प्रति सनातन सौहाद सुशोभित हाता है।

विश्व का प्रत्येक पदाथ सामान्य विशेषात्मक है। सत्ता की अपेक्षा देख तो सब अभिन्न है अनेक नही। पदाथ को उसके द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा देख तो वह अन्यो से प्रकट ही प्रथक है। इस प्रकार एक साथ पदाथ अन्यो स अभिन्न एव भिन्न है। पदाथ पदाथ मे यह भेदाभेद जिनेन्द्र के मत मे भले प्रकार स्वीकृत हुआ है। जहाँ भेद मानव की स्वतन्त्रता का समथक है वहाँ उसका अभेदपक्ष अन्यो के प्रति उसे अहिंसा और मैत्री का पाठ भी पढाता है ॥१७॥

१८ हे देव ! परस्पर कारण काय भाव से बार बार नाना प्रकार की अवस्था को प्राप्त करने वाले समस्त पदाथ अनन्त होने पर भी आप दष्टा के ज्ञान में पुन अनन्तता को प्राप्त करते है।

जगत के जीव पुद्गल आदि अनन्त पदार्थ परस्पर एक दूसरे के आलम्बन/प्रत्यय से नाना रूप होते हुए वर्तन कर रहे हैं। इनका यह वतन क्रम कभी रुकने वाला नही है, अनन्त है। ज्ञाता के ज्ञान मे वह इतना ही नही रहता और भी अनन्त गुना हो जाता है। सभावनायें यथाथ से कई गुना होती है। मानव का कल्पना लाक अनन्तानन्त है, यथाथ तो उसकी तुलना म बहुत छोटा है। एक बात को जान कर मानव उसके समान और भिन्न अनेक ही बातें समझ लेता है, बाह्य के एक बीजके ग्रहण से ज्ञान मे पेड खडा हो जाता है ॥१८॥

१९ इस लोक मे अथ पर्यायो और व्यजन पर्यायो द्वारा अनन्त बार विदीण किये जाने पर भी जो स्वरूप सत्ता द्वारा गाढ रूप से नियन्त्रित है वह सम्पूण द्रव्य आपके ज्ञान मे स्पष्टता को प्राप्त होता है।

प्रत्येक द्रव्य के गुण नये नये रूपो मे अभिव्यक्त हो रहे हैं तथा उसके आकार बदल रहे है। इस सब परिवतन के बीच वह वह ही रहता है, उसका निजपना नष्ट नही होता। द्रव्य का स्वरूप न द्रव्य स्वय छोड सकता है न अन्य कोई उसे नष्ट कर सकता है। द्रव्य अपने स्वरूप की सीमा मे ही वर्तन करता है उसका उल्लघन कभी नही करता इस बात को ज्ञानी जन भले प्रकार जानते है ॥१९॥

२० पर्याय द्रव्य को छोडने मे समथ नही है और द्रव्य भी पर्याय नही छोडता है। स्कन्ध बने हुए पुदगल भेद को नही छोडते है तथा पृथक द्रव्यो म रहने वाला सत एकता को नही छोडता है।

जगत मे जहाँ भी भेद है वहाँ अभेद का सूत्र अवश्य विद्यमान है तथा जहाँ भी अभेद है वहाँ भेद भी विद्यमान है। केवल भेद अथवा अभेद एक असत् कल्पना मात्र है। उदाहरण के लिये, पर्यायो मे यदि भेद है तो उनके बीच द्रव्य की एकता व्याप्त है द्रव्य एक है तो पर्याय उस नाना रूप दे रही है नाना परमाणु नाना रहते हुए ही स्कन्ध की एकता धारण करते है, तथा जीव पुद्गलादि द्रव्य यदि जगत मे अनेक है तो सत् होने से वे सब एक है ॥२०॥

२१ अभेद और भेद ज्ञान से दुर्गम बहुत भारी अगाध, अद्भुत तत्त्व के माग मे सम्पूर्ण सीमा मे स्खलित न होने से आकुलता रहित आपकी ही दृष्टियाँ सब ओर विचरण करती है।

२२ अभिन्न और भिन्न रूप से स्थित समस्त पदाथ समूह का सदा प्रत्यक्ष अवलोकन करने वाला आपका यह आत्मा प्रकट अभिन्न सद्रूप होता हुआ भी अनन्त पर्यायो के नाना वभव से सम्पन्न है।

जगत के अपने तथा अन्यो के भेदाभेद मूलक स्वरूप को समझना, अस्खलित रूप से जानना, देखना मानव को सम्पूर्ण विश्व का उसके भेदों सहित अवलोकन करने वाला परमात्मा बना देता है। किन्तु भेदाभेद मूलक यह वस्तु स्वरूप समझ लेना आसान नहीं है। मानव अधिकतर भेद अथवा अभेद का एकात पकड कर बठ जाते ह और परिणामत अज्ञानी तुच्छ ससारी बने जीते है ॥२१ २२॥

२३ जो अनाकुलता आदि अपने लक्षणो से सुखादि रूप निजवस्तु की हेतु है पुष्कल है उप ज्ञान से प्रकाशित है ऐसी आपकी विभूतिया एक साथ विलसती हैं।

आत्मा योग-उपयोग रूप दशन-ज्ञान-चरित्र रूप ज्ञान-दशन-सुख-वीर्य-दान लाभ आदि रूप शक्तियो के वभव से सम्पन्न प्रभु है। तीक्ष्ण ज्ञानी जन ही इन्हे समझ पाते है। ये शक्तियाँ यदि स्वय को अथवा अन्यो को आकुलता उत्पन्न करते हुए वतन करती हैं तो अपने पर कम मैल की वृद्धि करती है तथा यदि स्वय मे तथा अन्यो मे निराकुलता का विस्तार करती हुई वर्तन करती है तो मानव को अनन्त सुख के समुद्र रूप उसकी आत्मा की उपलब्धि करा देती है ॥२३॥

२४ लय होते और प्रकट होते समस्त अन्तरग और बहिरग वभव को प्रकाशित करनेवाले, पापनाशक विज्ञानघन समूहरूप आप उदित रहते अन्यो द्वारा आच्छादित नही होते।

स्व-पर रूप पदाथ जगत का प्रकाशित करने वाला ज्ञान पाप का नाश करता है। ज्ञान के उदित रहते कोई अन्य जड या चेतन पदाथ मानव को हीन-दीन भयभीत नही कर सकता। भाति भाँति के राग-द्वष हीनताय, दुखतलताय और दोष स्व-पर पदार्थो के स्वरूप के प्रति अज्ञान से मानव मे उत्पन्न होते है ॥२४॥

२५ हे प्रभो! अत्यन्त देदीप्यमान तप के द्वारा सुखाये हुए मुझ इस प्रकार तेज से प्रज्वलित करो जिस प्रकार यह मैं अपने आपको, आपको और सकल चराचर विश्व को चारों ओर से रगड कर प्रज्वलित करता हुआ प्रज्वलित हो जाऊ।

राग-द्वष नष्ट करने प्रमाद, शथिल्य आदि दूर कर योग उपयोग को दृढ, अकम्प बनाने हेतु मनीषीजन भाँति भाँति के उग्रतप करते है। तप के ये फल प्राप्त करते हुए वे स्वय के अर्हन्तादि परमेष्ठिया के चराचर के स्वरूप का चिन्तन मनन ध्यान करने म तत्पर होत ह और कर्मावरण का क्षय कर केवल ज्ञानी परमात्मा बन जाते है। वे जानते हैं कि अकेले तप से अथवा अकेले ज्ञानाभ्यास स अभीष्ट सिद्धि समव नही है ॥२५॥

(६)

१ असत् प्रवृत्तियों की जडस्वरूप बहुत भारी ससार के मूल कारण को क्रिया क द्वारा नष्ट करने वाले, बढते हुए शील समूह से युक्त आप द्वारा आपके सकल क्रिया कलाप उत्तम शील से युक्त किये गये।

मानव योग तथा उपयोग के क्रिया व्यापार के अतिरिक्त कभी भी कुछ अन्य नही करता। वे कषाय-क्लेश से पूर्ण तथा हिंसादि पाप रूप होते हैं तो ससार/दुख की रचना से मानव भीतर बाहर सवत्र उत्पीडित होता है। यदि वह दु खो से मुक्ति चाहता तो उसे अपने प्रत्येक योग उपयोग के व्यापार का क्षमा मृदुता, ऋजुता आदि चारित्रिक गुणो से युक्त करना होगा ॥१॥

२ उत्कट वराग्य में तत्पर चित्त के द्वारा समस्त भोगो को छोड कर जो निस्पृह थे, जो तप रूप अग्नि मे अपने जीवन को होम रहे थे तथा जन्म-मरण के चक्र को नष्ट करने मे उत्सुक थे ऐसे आप अत्यन्त सुशोभित हुए थे।

इन्द्रिय विषय भोगो की लिप्सा जन्म-मरण रूप ससार के बीज डालती है। जिसे जन्म मरण के चक्र से मुक्त होना है उसे विषय भोगो से विरत होना होगा। इस प्रकार वह नये कर्मों के आश्रव का सवर करेगा। पूर्व सचित कर्मों की निर्जरा करने हेतु उसे बाह्य-आभ्यान्तर तप का माग अपनाना होगा। तप रहित मात्र विषय विरक्त मानव मे तेज की वृद्धि नही होती, तथा विषयों से विरक्त न होकर जो जन बाह्य-अभ्यन्तर तपो का आचरण करते हैं वे तपो से अर्जित वीय सम्पदा को विषय भोगो मे व्यय कर जन्म-मरण के चक्र को दीघ ही करते हैं, उसे तोड नही पाते।।२॥

३ हे विभो! अनादि से चलते आये ससार माग को शीघ्र ही छोड कर आप मोक्षमाग पर चलने लगे। आप ससार से मुडकर बहुत भारी दूरी पार कर किसी तरह मार्ग को प्राप्त हुए।

ससार मिथ्या दशन-ज्ञान-चारित्र रूप है तथा मोक्ष सम्यग्दशन-ज्ञान-चारित्र रूप है। दोनो की परस्पर विपरीत दिशा है। अनादि से जीव देह और विषय भोगो मे लिप्त हो कर्म बांधता और उनके परिणाम स्वरूप जन्म-मरण रोग-शोक आदि दु ख भोगता आ रहा है। जो जन इस दु ख रूप ससार से मुक्त होना चाहते हैं उन्हे विषय विरक्तिपूरक विविध तपो द्वारा आत्मतेज को आवृत्त कर रही कम धूलि को झाडना होगा। सम्यग्दशन-ज्ञान-चारित्र की दिशा मे निरन्तर इस प्रकार कदम दर कदम धरते मानव के एक दिन मिथ्यात्व को गल जाने से श्रद्धा और ज्ञान सम्यक हो जाते हैं, तथा फिर एक दिन चारित्र के कषाय रहित निमल होने पर केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥३॥

४ जिनका वय अप्रधृष्य था, जो श्रेष्ठ ब्रह्म पथ मे अकेले विहार कर रहे थे, जो आकुलता से रहित थे ऐसे आपको उद्दण्ड, क्रूर, कषाय दस्यु किंचित भी तिरस्कृत नहीं कर सके थे।

आत्मा इस लोक मे छहो द्रव्यो के बीच अकेला है। देहादि बाह्य पदार्थों मे अहभाव, ममभाव से उसके कर्म बध हो ससार की रचना होती है। ससार की दु.ख रूप रचना से मुक्त होने हेतु मानव को इस अहभाव ममभाव को त्याग अकेले आत्मा की महिमा मे आश्रय लेना होता है और देह पर वज्रपात होते भी निष्कप धय धारण करना होता है। बाह्य मे विपरीत हो रहे मानव, तियच आदि किसी के प्रति दीनता भय, क्रोध आदि दुष्ट कषाय भाव का अनुभव न कर जो महापुरुष समभावी बने रहते हैं, वे ही अपने कम बधन छेद पाते है ॥४॥

५. आत्म विशुद्धि बढानेवाले तपा के द्वारा बलपूर्वक अधिक मात्रा में कर्मों को निर्जीर्ण करते हुए आपने प्रबल उदयावली को बार बार कम निपकों से पूरा और खाली किया।

बद्ध कम उदय म आकर ही निर्जीर्ण होते हैं। यदि वे अपने समय पर पक कर उदय मे आते है तो यह सविपाक निजरा है। इस प्रकार जितनी कर्मों की निजरा होती है उतने ही कर्मो का जीव आश्रव बध भी कर लेता है और वह कम बधन से मुक्त नही हो पाता। मुक्त होने हेतु मुनिजन कर्मों को उनके काल के पूव ही बाह्य-अभ्यन्तर उग्र तपो द्वारा परीपह और उपसर्गों के बीच निष्कप रह कर पका देते है और जगल मे अकेले, निवस्त्र रहते हुए इनके उदय के सब द्वार खुले छोड कर इन्हे अपने आत्म प्रदेशो से विदा कर देते है। जो देह की सुरक्षा सुविधाओ मे जीते हैं वे इस प्रकार अविपाक निजरा न करने के कारण कर्मों से कभी मुक्त नही हो पाते ॥५॥

6 क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाले आपने अत्यन्त तीक्ष्ण और कभी स्खलित न होने वाली एक धारारूप अखण्ड उत्साह से युक्त सुदृढ प्रहारों के द्वारा कषाय रज को प्रतिक्षण नष्ट किया।

7 ऊपर-ऊपर बढती हुई परिणाम पक्ति से निमल होकर जो वराग्य विभूति के सम्मुख हैं तथा जो कषाय को नष्ट करने में अत्यन्त निष्ठुर है ऐसे आपने बादर और सूक्ष्म कृष्टियों को नष्ट किया।

८ हे जिनेन्द्र ! सब ओर से अनन्त गुणी विशुद्धियों से परिणमन कर जो अद्भुत प्रकाशशाली थे तथा जिन्होने राग की लालिमा को नितान्त सूक्ष्म कर दिया था ऐसे आप क्षणभर मे क्षीण कषाय अवस्था को प्राप्त हो गये थे।

६ हे जिनेन्द्र ! आप कषाय को नष्ट करने से सौष्ठव को प्राप्त हुए साम्परायिक आश्रव की सीमा को लाघ कर अन्तिम ईर्यापथ आश्रव को प्राप्त हुए और स्थिति और अनुभाग बध से रहित उज्ज्वलता को प्रप्त हुए।

१० धीरे धीरे समृद्ध होने वाली उद्यम रूप सम्पदा द्वारा जिन्होंने क्रम क्रम से मुक्ति को निकट कर लिया था ऐसे आपकी प्रशस्त चित्त की भूमियाँ पाप कालिमा से रहित हो हृष की खिली हुई कलियो से प्रफुल्लित हो गई।

११ आपकी मन रूपी कली के समता सुधा रूप आनन्द के भार से पीडित होकर (दबाये जाकर) अत्यन्त विकसित होने पर विश्व के उदर म दीपक की स्पष्ट लीला को प्राप्त कर कवल्य उत्पन्न हुआ।

१२ सम्पूर्ण वस्तु स्थिति को जानकर समस्त कर्तृत्व से निरुत्सुक होते हुए आप एक चित् धातु की वृद्धि से विस्तृत समस्त विज्ञानधन हो गये।

जनाचार्य किसी भी जड अथवा चेतन शक्ति का जगत का नियन्ता/सृष्टा स्वीकार नही करते। उनके अनुसार सिद्ध परमात्मा ज्ञाता-दृष्टा है जगत के कर्त्ता नही हैं। जड तथा चतन सभी पदाथ स्वयसिद्ध अनादिनिधन सत् है। कोई पदाथ किसी अन्य का तो कर्त्ता/सृष्टा है ही नही स्वय के भी अस्तित्व की उसने रचना नही की है। जीव के असख्यात प्रदेश नानादि अनन्तगुण वभव एव नियमबद्ध स्व-पर प्रत्यय से वतन करता परिणमन स्वभाव भी उसन स्वय न नही रचा है। इस प्रकार अकृत्रिम सभी पदाथ द्रव्य रूप से अपन मे पूर्ण है किसी को किसी अन्य मे कोई अपेक्षा नही है कोई भी किसी अन्य पर आश्रित नही है। पर्याय मे सभी अपने गुण वभव के पुन पुन स्फाय मे लगे है परिणमन कर रह हे। इस परिणमन मे परस्पर अवलम्बन को अवकाश है प्रत्युत यह परिणमन परस्पर अवलम्बन पूवक ही होता है। तथापि, यह बहुभाग महज है जितने आलम्ब्य एव आलम्बन सशक्त हो उतना ही सहज है। जसे महाभास्वर सूय को सोचन की आवश्यकता नही कि मै जगत को प्रकाशित करू स्वय को प्रकाशित करता हुआ वह सहज ही जगत के प्रकाशन मे आलम्बन हो जाता हे वसे ही महाज्ञानी वीतरागी सन्त अपना कल्याण करते जगज्जनो के कल्याण मे अवलम्बन बन जाते है तथा जसे क्षीण टिमटिमाता जुगनू प्रयत्न कर भी किसी अन्य को वस्तुत कुछ भी प्रकाशित करने समथ नही होता परावलम्बी बुद्धि रखने भी अज्ञानी दुवलमति लोग अन्य का क्या उद्धार करेगे? *जो अपना ही उद्धार नही कर सका उसकी अन्य के उद्धार की चेष्टा* कसे सफल हो सकती हे तथा जो आत्मउद्धार मे सलग्न है सफल है उनके चारो ओर आनन्द और शान्ति का प्रवाह कसे नही उमड जायगा?

यह वस्तुस्थिति सब ही कर्तृत्वबुद्धि को अनावश्यक कर देती है और मानव के सम्मुख स्व-पर को/लोकालोक को ज्ञान मे समेटने वाला तेज से जगमगाता अपने स्व मे मग्न होने और इस प्रकार उस दीना बनाने वाले घातिया कर्मो का क्षय कर देन का एक मात्र लक्ष्य स्थापित करती है, जिसकी सिद्धि मे अन्य सब ही स्व-पर हित स्वत सिद्ध हो जाते है। सब आरम्भ परिग्रह के त्यागी महासत्त्व सयमी जन जब इस प्रकार निश्चित हो ज्ञान ध्यान मे अखण्ड रूप से एकाग्र होते हैं तो उनका चित्त उत्साह तथा आनन्द की विशुद्धियो से भर जाता है चारो ओर ज्ञान वीय आदि आत्म गुणो का तेज फूट पडता है कषाय मल बादर से सूक्ष्म हो जाता हे और फिर समाप्त हो सयमी क्षीण कषाय के बारहवे पाये पर आरोहण कर जाता है तब महान स्निग्ध साता रूप कम वर्गणाओ का एक समय मात्र के लिये आस्रव और फिर उदय का सिलसिला आरम्भ हो जाती है। कषाय क्षय के साथ ही सब आत्मप्रदेशो से आनन्द का पूर उमडता है और उस महापुरुष का चित्त केवल ज्ञान की अनन्त ज्योति से दीप्त हो उठता है।

ज्ञान ध्यान के द्वार से क्षपक श्रेणी चढ केवल ज्ञान की सिद्धि करने वाले महापुरुषो का उदाहरण मानव को सतत प्रेरणा कर रहा है कि वह स्व-पर रूप लोकालोक के स्वरूप के प्रति जागे उसके जागरण मे सब का जागरण है ॥६–१२॥

१३ तदनन्तर आयु के क्षीण होने पर निर्जीर्ण होने से बाकी बचे हुए शक्तिहीन कर्मों को समाप्त करते हुए आप अनन्त अद्भुत सिद्धत्व को प्राप्त हुए और विशुद्ध ज्ञान रूपी उत्तग भवन मे निश्चल हो गये।

१४ एक चैतन्य धातु रूप होने पर भी वीर्यादि गुणों ने आपकी समग्रता को किया। इस जगत मे कोई भी द्रव्य अपने वस्तुत्व को छोडकर पदार्थों के साथ एक रूपता को धारण नही करता।

१५ अपने वीर्य की सहायता के बल से अत्यन्त श्रेष्ठ अपने सम्पूर्ण धर्मों की माला को देखते हुए आपने अनन्त धर्मों की उत्कृष्ट माला को धारण करने वाले तीनों जगत ही देख लिये।

१६ तीनों कालों मे प्रकट अनन्त पर्यायों के समूह से युक्त समस्त वस्तुओं के साथ समान रूप से परिणमन करने वाले एक कैवल्य रूप होते हुए आप निश्चय से अनन्तरूपता को स्वय प्राप्त हुए हैं।

१७ हे देव! यहा समस्त पदार्थ समूह मे जो कुछ भी हो रहा है आगे होगा अथवा पहले हो चुका है वह सभी ज्योति स्वरूप आप में स्वय एक साथ प्रविष्ठ हुआ सुशोभित हो रहा है।

१८ आत्म पराक्रम से चराचर जगत को जानने वाले तृष्णा रहित आपकी ये चैतन्य किरणें स्वाभाविक तृप्ति से भरी होने से पर पदार्थों से हट कर आप में झलझला रही है।

अर्हन्त परमात्मा आयु पर्यन्त कवलाहार, नीहार तथा रोगादि से रहीत परमौदारिक देह मे निवास करते है। आयु समाप्ति के साथ नाम गोत्र आदि सभी अघातिया कर्मों के सम्पूर्णतया समाप्त हो जाने से वे नवी देह धारण न कर लोकाग्र म जा विराजते है। यह सिद्ध अवस्था अद्भुत है। उनका दर्शन केवल अर्हन्त को ही होता है, अन्य किसी के वे प्रत्यक्ष नही होते। अन्तिम देह के आकार मे वे लोकाग्र मे अनन्त काल तक अविचल विराजते है।

प्रदेशापेक्षा सिद्ध परमात्मा लोक के उत्तम भवन सिद्धालय मे विराजमान है तो ज्ञानादि गुणो की भी उत्कृष्ट अवस्था उन्हें प्राप्त है। जब ज्ञानादि गुणो की अल्पता एव मलिनता थी तो चतुर्गति के निम्न लोको मे वे भटक रहे थे। सभी कुछ तब नीचा जघन्य था अब सब कुछ समग्र है सम्पूर्ण है। कर्म नोकर्म का लेप हटाकर आत्मा की इस समग्रता का श्रेय वीर्यादि आत्मगुणो को है।

जीव स्वय तो चैतन्य धातु रूप म वर्तन करता है उपयोग की मलिनताओ अथवा निर्मलताओं मे जीता है। जब वह राग द्वेष मिथ्यात्व आदि अज्ञानरूपताओ की मलिनता मे जीता है तो उसके वीर्यादि गुण नाना रूप कर्मबन्धन कर विविध दुर्गतियो की रचना करते है, तथा जब जीव कषाय की मलिनता को नष्ट कर उपयोग को रत्नत्रय से संयोग करता है तो वीर्यादि गुण क्रमश जीव की दुर्गतियों/हीन दशाओ को नष्ट करते हुए उसे विविध ऋद्धियो स सम्पन्न करत है, अर्हन्त दशा की रचना करते है और अन्त मे सिद्ध अवस्था की समग्रता की रचना करते है। उपयोग

के लोक मे जीव जिस ओर रुचिवान् होता है वीर्यादि गुण उस उसी रूप में ढाल देते है। मुनिराज का खरबूजे में मन अटक जाने पर वे उन्हे खरबूजे मे लट बना देते हैं तथा सेठ ने सामायिक करते हुए प्यास से पीडित हो पानी मे मन अटक जाने पर उस मैढक बना देते है। जैसी मति होती है जीव के वीर्यादि गुण उसकी वैसी ही गति की रचना म प्रवृत्त हो जाते है। इस प्रकार जीव की सुगति दुर्गति बद्ध तथा मुक्त दशा उपयोग की मलिनता या निर्मलता की छाया रूप मे स्वय जीव के वीर्यादि गुण करते है। यह कार्य वस्तुत पौद्गलिक कार्मण वर्गणाय नही करती है, वे तो मात्र आलम्बन बनती है। उनका आश्रव बध जीव मे वीर्यादि गुणो ने उपयोग दशा के अनुरूप किया है। पुद्गल वर्गणाय जीव से भिन्न द्रव्य है। जीव क आत्मभूत वीर्यादि गुण उपयोग की अवस्था के अनुरूप कर्म-नोकर्म की रचना करते हैं या उन्हे हटा देते है।

जसे वीर्यगुण जीव म उपयोग की निर्मलताओ मलिनताओ के अनुरूप उस समग्र या असमग्र करता है, मुक्त परमात्मा अथवा छद्मस्थ ससारी रूप देने मे काय करता है वसे ही स्वय उपयोग के वर्तन मे भी वह सहयोग करता है। दुर्बल मानव का धर्म ध्यान ही कठिन बात है, शुक्ल ध्यान तो उसके सभव है ही नही। दुर्बल मानव तो हर छोटी बात मे कषाय म वेदन को बाध्य होता है। कषाय का अधिकाधिक उपशमन कर क्षमा निर्भयता आदि श्रेष्ठ आत्मगुणो का वेदन/अनुभव/अवलोकन तो वीर्यवान मानव क ही वश की बात है। जीवन के प्रत्येक प्रसग मे विपरीत परिस्थितियो म परीषहो और उपसर्गो के बीच जो जन क्षमा मृदुता ऋजुता निर्भयता निश्चितता आनन्दमयता आदि श्रेष्ठ आत्मगुणो का वेदन अवलोकन कर पाते है वे ही एक दिन लोकालोक का अवलोकन करने वाले सर्वज्ञ परमात्मा बन जाते है।

मानव जब जिस पदार्थ को जानता है तब उसकी चेतना/वह उस पदार्थ के अनुरूप ज्ञेयाकार परिणमन करता है। छद्मस्थ इस प्रकार नाना ज्ञेयाकार रूप परिवर्तन करता रहता है। सर्वज्ञ परमात्मा एक साथ ही सर्वाकार अनन्ताकार परिणमन कर अनन्त ही हो जाते है। अन्य प्रकार मे कहे तो पदार्थो के शब्द रूप आदि इन्द्रिय द्वारो से मानव को अपने म प्रवेश करते लगते है। सर्वज्ञ के तीनो कालो के समस्त पदार्थ ही एक साथ इस प्रकार प्रवेश करते हुए सुशोभित होते है।

अपने अनन्तवीर्य क बल मे अर्हन्त परमात्मा एक साथ ज्ञान मे त्रिकाल त्रिलोक के पदार्थो का प्रवेश कराते हुए अनन्त रूप हो रहे हे तथापि तृष्णा रहित वीतरागी होने से वे चैतन्य किरणो के आधार मे ही तृप्त रहते है वे ही उन्हे अपने मे मग्न किये रहती है और उन्हे जगत के किसी पदार्थ से राग-द्वेष नही होता। निर्बल छद्मस्थ की भाति किसी पदार्थ के प्रति अपने पराये का भाव इष्ट अनिष्ट का भाव उनमे उदित नही होता। पदार्थो के सानिध्य से किसी प्रकार का गौरव या दीनता का अनुभव न होकर वे तो सदव आत्म महिमा मे मग्न रहते है उससे कभी च्युत नही होते। जगत के पदार्थो के विशद तीक्ष्ण ज्ञान के बीच आत्म महिमा मे अच्युत रूप स स्थित रहना ही मोक्ष स्वरूप है तथा मोक्ष मार्ग है ॥१३-१८॥

१९ सामान्य की अनन्त लहर के समूह से अपने अस्तित्व की लता को सींचते हुए आपने अन्य के अगोचर ऐसी त्रिकाल व्यापी सम्पूर्ण ही आत्मा को आत्मा द्वारा अनुभव किया।

२० अनन्त रूप से खण्डित आत्मा के तेज को परिपूर्ण रूप से आत्मा की महिमा में सङ्कोचित करते हुए आप आत्मा में अपनी शक्ति के व्यापार से इस अनेक रूपता को प्राप्त आत्मा को विशिष्ट रूप से देखते है।

२१ हे जिनेन्द्र ! ज्ञाता और नय के भेद से अखडित वभव वाले ज्ञान मात्र को प्राप्त हुए अगाध और गम्भीर आत्म किरणों से युक्त अपनी तीक्ष्णता को आप रच मात्र भी नहीं छोडते है।

२२ अनन्त रूपों को स्पश करने वाली शान्त तेज से युक्त प्रकट प्रभावशाली आपकी आत्मा मे प्रस्फुरित होने वाली चतन्य की एकता से सहित, सब ओर से तीक्ष्ण अनुभव से युक्त आपकी ये शक्तिया स्फुरित हो रही है।

आत्मा ज्ञान दर्शन आनन्द वीय क्षमा मृदुता, ऋजुता निभयता निराकुलता आदि गुण सम्पन्न है। यदि मानव अपने मन वचन काय योग की प्रत्येक क्रिया मे देखने-जानने रूप उपयोग के प्रत्येक व्यापार मे अपने आत्मगुणो का ही अधिकाधिक वेदन करता है और कभी भी आत्मघाती क्रोधादि कषाय दुबलता पराश्रयता हीनता तुच्छता आदि भावो को अपने चित्त मे प्रविष्ट नही होने देता तथा इस प्रकार अपनी आत्मा का गुणो की सामान्य लहर से निर्बाध निरन्तर अमृतसिचन ही करता है तो उसकी ज्ञानादि आत्म शक्तियो का विकास होता चलता है और एकदिन वह लोकालोक का ज्ञायक बन अपनी अनन्त ज्ञानादि शक्तियो को प्रकट अनुभव करने लग जाता है। अन्य जनो को ऐसा महापुरुष बाह्य मे निष्क्रिय दृष्टिगोचर होता है। वे नही जानते कि वाणी से मौन और काय से स्थिर यह महापुरुष वस्तुत अपने तीक्ष्ण ज्ञानादि शक्तियो के व्यापार मे निरन्तर प्रवृत्त है लोकालोक को जानते हुए अपनी अनन्तरूपता का वेदन कर रहा है तथा उसके बीच ही अपनी चतन्य की एकता का ज्ञानमय आनन्दमय एव अनन्त शक्तिमय अपनी अखण्ड महिमा का शान्त तेज से युक्त अपने प्रकट प्रताप का वेदन कर रहा है, यह आत्म महिमा के स्पर्श मे सन्तुष्ट है और इसे अन्यो के गोचर होने की कोई आकांक्षा नही है तथापि इसकी देह वाणी और उदित हो रहा सूक्ष्म कार्माण तजस प्रभाव योजनो तक इसकी महिमा का विस्तार कर रहा है बरबस जड चेतन को चराचर को इसकी महिमा मे डुबा रहा है छोटे बड सभी को परस्पर मैत्री और शान्ति का पाठ पढा रहा है।

बाह्य पदार्थों के ग्रहण से बनने वाली ज्ञेयाकारो की नानारूपता ज्ञान को खण्डित नही करती खण्डित तो राग-द्वेष करते है वीतराग आत्ममहिमा मे स्थित ज्ञाता के तो यह सब तीक्ष्ण ज्ञानमय आत्मा का ही स्पर्श है ॥१९--२२॥

२३ हे ईश ! जो इस जगत में अनन्त विशाल रूप इस अनन्त आत्मा को अपने आपके द्वारा विघट्टित कर रहे है तथा उस प्रचण्ड सघट्टन के कारण जिनका आत्मशक्ति समूह हठपूर्वक प्रकट हो रहा है ऐसे आप स्वय सुशोभित हो रहे है।

२४ स्वरूप में सुरक्षित, आकुलता रहित, परकी अपेक्षा से शून्य तथा परिपूर्ण स्वानुभव मात्र के गोचर आपकी ये आनन्द परम्परा की मालाय निरन्तर उल्लसित हो रही है।

आत्मा अनन्त वीर्यादि शक्तियो का पुज, त्रिकाल लोकालोक का ज्ञायक अनन्त विज्ञानघन है। ज्ञान मे नाना रूप रमण पदार्थो के विश्लेषण, सश्लेषण द्वारा उनके अनेकात स्वरूप के ग्रहण आदि रूप व्यापार से मानव की विज्ञानमयता का ही विकास नही होता वरन् उसकी सुख वीर्य दान, लाभ, भोग, उपभोग आदि सभी आत्मशक्तिया उल्लसित होती है पुष्ट होती है। ज्ञान की हर *कला के साथ आनन्द का प्रवाह उमडता है। ज्ञान मे पदार्थो का यह विश्लेषण सश्लेषण और अन्य* प्रकार का व्यापार तब ही आनन्द, वीर्यादि आत्मगुणो के जागरण रूप होता है जब कि मानव कषाय जनित आकुलताय छोड़कर स्वाश्रयी बने, स्वरूप मे टिके और स्वय को अन्यो से अस्पृष्ट एव सुरक्षित अनुभव करे। पराश्रय किसी प्रकार का हो, मानव को बौना बनाये रखता है। स्वय को अन्यो के *आश्रित मानते आत्म जागरण नही हो पाता ॥२३–२४॥*

२५ लोह पिण्ड के भीतर प्रवेश करने वाली प्रचण्ड अग्नि के समान आप इस *भावना के द्वारा बलपूर्वक मेरे भीतर प्रविष्ट होते हुए मेरे गुणो को आज भी जो एक* चिन्मय नही कर रहे है यह मेरे ही जडता है।

जिनेन्द्र के गुण कीतन उनकी भक्ति आदि से हम नाना प्रकार उन्हे अपने हृदय के आसन पर विराजमान करते हैं। जसे अग्नि के प्रवेश से लोह पिण्ड तप्त हो जाता है हमारे भी अज्ञान अदशन, कषाय वीर्याल्पता आदि रूप मल नष्ट होकर ज्ञानादि सभी आत्मगुण नियमत चिन्मय *दीप्तिमान हो जाने चाहिए। यदि यह नही होता है तो वे य हमारे ही प्रमाद और शथिल्य का है* आत्मविश्वास और दृढ निष्ठा मे कमी का है। यदि हम निष्ठापूर्वक जिनेन्द्र के माहात्म्य को हृदयगम करेंगे तो अवश्य ही वह हमे चिन्मय, स्वस्थ निर्दोष तेजोमय कर देगा ॥२५॥

(७)

१ हे देव! असीम ससार की महिमा में विवश हो अनन्त वार पाँच प्रकार के परावतनो को प्राप्त होता हुआ यह मैं आत्मगृह में विश्राम करने वाले आपके चतन्य रूप आँचल में बलपूवक लगता हू।

२ कषाय समूह की रगड से शेष बची हुई ज्ञान की एक कला द्वारा उज्वल मेरा आपके वभव के प्रकाशन में कितना, कितना सा प्रकाश है? अधजली लकडी का प्रकाश कभी भी दिवस का करने वाला नहीं होता।

३ हे ईश! जो कितना सा प्रकट है, कितना अनादि से ढँका है, कितना सा प्रकाशमान है कितना बुझा हुआ है, कितना सा स्पर्श कर रहा है कितना स्पश नही कर रहा है, ऐसा मेरा तेज आपके विषय में करुण रूप से विषाद युक्त हो रहा है।

४ हे ईश! अतिवत्सल आप सकल विश्व को छोडकर बल पूवक मेरे पर [अमृत] वर्षा कर रहे है, परन्तु अज्ञान से दुवल मेरे समान प्राणी अत्यन्त प्यासा होने पर भी कितना पीने मे समथ हो सकता है?

जीव जगत में द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव और भव रूप पांच परावर्तनो से दुबल दु:खी हुआ भ्रमण करता रहता है। मानव पर्याय प्राप्त कर उसे कभी समझ मे आ जाता है कि जगत में एक मात्र उसकी आत्मा, परमात्मा ही उसकी शरण है अन्यत्र कही भी उसे शान्ति प्राप्त होने वाली नही है। वह उसकी शरण में जाने का यत्न करता है तो पाता है कि क्रोधादि कषायें आरम्भ परिग्रह के विकल्प इन्द्रिय विषय-वासनाये उसकी अल्प सी शक्तियों का बहुभाग सोख लेती हैं। ऐसे अत्यल्प से वह कैसे प्रभु आत्मा के चरणो का स्पर्श प्राप्त करे? एक ओर वह पाता है कि आत्मा का लोकालोक व्यापी ज्ञान दर्शन वीर्य सुख आदि सम्पूर्ण शक्तियो का वमव केवल उसके लिये है उसमे किसी अन्य का हस्तक्षेप/बँटवारा सम्भव नही है और वह थोडा भी आत्मा के स्पर्श की ओर अभिमुख होता है तो आत्मा की शक्तियो का पूर उस पर बरस जाता है। दूसरी ओर वह स्वय को अज्ञान से इतना दुर्बल पाता है कि जघन्य अन्तमु हूर्त ही वह इस लोकोत्तर रस का पान कर पाता है कि उसे बरबस तुच्छ विकल्पो का जाल अन्यत्र खीच ले जाता है और वह करुण विषाद करने के सिवा कुछ नही कर पाता ॥१–४॥

५ आपके बोधामृत की एक बूद परिणाम के इच्छुक मेरे लिये आज औषधि की मात्रा है। क्रम से जिसका ज्ञान तेज वृद्धि को प्राप्त हो रहा है ऐसे मेरे ही द्वारा आप सम्पूर्ण रूप से पान करने योग्य हैं।

६ जो निरन्तर बोध रसायन का पान करता है, अन्तरग-बहिरग सयम जिसका अखण्डित है ऐसा मै स्वत ही आपके समान अ वरूप से हो जाऊगा, क्योकि संयम धारण करने वाले के द्वारा क्या सिद्ध नही कर लिया जाता ?

७ हे देव! अपनी शक्ति की अविचलता से असख्यात सयम लब्धिस्थानों में स्थित मेरे लिये सदा गुणस्थानों की श्रेणी में श्रेष्ठ आपका यह स्थान कितना सा दूर है?

स्व तथा पर पदार्थों के स्वरूप के ग्राहक सम्यक्ज्ञान की अल्प सी मात्रा का रुचिपूर्वक अभ्यास मानव की ज्ञानादि शक्तियों की अतवृद्धि कर देता है और उसमे आत्मविश्वास (सम्यग्दर्शन) जाग जाता है कि वह एक दिन परमात्मा हो जायेगा। जब वह अन्तरग-बहिरग सयम धारण कर ज्ञानाभ्यास मे निरन्तर रत रहने लगता है तो उसका विश्वास मेरु से भी अकम्प हो जाता है कि कोई भी कर्म-नोकर्म की प्रतिकूलता उसे परमात्म पद की प्राप्ति से रोक नही सकती। ज्यो-ज्यो वह दृढता से सयम स्थानों मे प्रगति करता है उसे परमात्म पद दो कदम पर ही स्थित लगने लगता है ॥५–७॥

८ हे विभो! ऊपर ऊपर वद्धि को प्राप्त वीर्य सम्पदा के द्वारा मैं आपके तत्त्व का विश्लेषण करता हू। जो योगी विज्ञानघन को प्राप्त नही है उनका मर्म बोध की तृप्ति को प्राप्त नहीं करता है।

९. ह देव! निरन्तर बिना रुके हुए विवेक की धारा से अति कठिन उद्यम करने वालें मेरी मनोभूमियाँ स्वयं ही क्षण-क्षण मे आवरण रहित हो रही हैं तथा अद्भु त उदय से उल्लसित होती हुई जयवन्त प्रवृत्त रही है।

संयम पूर्वक तपों के आचरण से साधक के योग एवं उपयोग बल में वृद्धि होती है। वह अपनी इस वीर्य वृद्धि का उपयोग यदि आगम के अध्यात्म तत्त्व के चिंतन-मनन में करता है तो उसके चित्त में विशेष ही आनन्द का उदय होता है अज्ञान के अँधेरे मिटते हैं परीषह एवं उपसर्ग उसे भयभीत नहीं कर पाते एकान्ती जनों के कुतर्क उसके तत्त्वबोध को मलिन नहीं कर पाते। जो जन तप से अर्जित वीर्य का उपयोग ज्ञानाभ्यास में नहीं करते वे इसके प्राप्त होने वाले आनन्द से वंचित रह जाते हैं ॥८-९॥

१० हे ईश ! समता रूप अमृत से अच्छी तरह प्रक्षालित करने से कषाय कालुष्य को नष्ट करने के साथ ही मेरा स्पष्ट बोधमण्डल शीघ्र ही बलपूर्वक आपके तेज का साक्षात्कार कर रहा है।

वीर्यवान ज्ञानाभ्यासी संयमी जन जब मेरे-मेरे इष्ट-अनिष्ट में रागद्वेष करने से मुक्त हो समता के लोक में जीते हैं तो उन्हें आत्म-तेज का दर्शन स्वयं होने लगता है ॥१० ॥

११ आप आत्मा से सात्म्य को प्राप्त हैं आपने चैतन्य में लीनता को प्राप्त किया है राग रूपी दुष्ट रोग का शोषण किया है। अन्य अज्ञानी रागज्वर में सात्म्य की लालसा वाले विष समान विषयों में प्रवेश करते हैं।

संसारीजन महात्मा तथा अल्पात्मा के मिश्रण होकर जी रहे हैं। आत्मा अर्हन्त के समान ज्ञान दर्शन सुख वीर्य क्षमा मृदुता आदि का धारक है, अल्पात्मा आदि आदि की दुर्लताएं राग द्वेष आदि कर्मोदय रूप हैं। ज्ञानीजन अपने योग और उपयोग के प्रत्येक व्यापार में आत्मा में सात्म्य करते हैं आत्म गुणों में प्रवेश करते हैं उनके वेदन/अनुभव में लीन होते हैं, उन्हें कृत कारित अनुमोदना से ग्रहण करते हैं, और इस प्रकार अपनी अल्पात्म रूप राग, द्वेष अज्ञान और अन्य दुर्बलताओं को नष्ट करते हैं। अज्ञानी अर्हन्त समान अपनी आत्मा को जानते ही नहीं वे तो कर्मोदय जनित अपने विकार, दोष आदि रूप ही स्वयं को मानते हैं। इन्द्रिय-चक्षु मन व नाशकारी विषय वासनाओं में रत होकर अपने लिये दुर्गतियों की रचना करते हैं ॥११॥

१२ संयम की सीमा के मार्ग में कुछ कुछ क्रियारत हो अन्य क्रियाओं को नष्ट करने वाले आपने प्रचण्ड चैतन्य मात्र के विक्रम से बलपूर्वक इस समस्त कर्तृत्व को दूर कर दिया।

१३ बलपूर्वक सकल चराचर को [ज्ञान में] पीकर आप अकर्त्ता स्वरूप ज्ञान के धाम में सुस्थित हैं। आप निरुत्सुक हो निज देह को स्वधातुओं से पुष्ट हुई निरन्तर देखते हैं।

इन्द्रिय-चक्षु साधारण मानव देह को स्वस्थ रूप से टिकाये रखने हेतु हिंसादि युक्त क्रियायें करता है और दुष्ट कर्म बांधकर दुर्गतियों में पड़ता है। साधु संगति से जब उसके आगम-नेत्र खुलते हैं और वह जान पाता है कि यदि अर्हन्त समान उसका केवलज्ञान तेज प्रकट हो जावे तो उसकी देह को कवलाहार की आवश्यकता नहीं होगी वह सहज ही समस्त सूक्ष्म आहार वर्गणाएं

अपने विस्रसोपचय से अपने चारो ओर से ग्रहण करती हुई यावज्जीवन स्वस्थ पुष्ट रहेगी। तब वह देह हेतु की जारही सारी भाग दौड की व्यर्थता समझ जाता है और उसे छोड सयमी जीवन के व्रत तप ज्ञान ध्यान के शुभ क्रिया व्यापार अपना लेता है। ज्ञान तेज मे ज्यो ज्यो वृद्धि होन लगती है देह भी त्यो त्यो अधिक अधिक सूक्ष्म आहार ग्रहण करती पुष्ट रहने लगती है बाह्य अन्न-जल ग्रहण की आवश्यकता घटती जाती है। केवलज्ञान हो जाने पर अन्न-जल ग्रहण पूर्णतया छूट जाता है और तप आदि रूप शुभ क्रिया व्यापार भी अनावश्यक हो जाता है ॥१२-१३॥

१४ हे अर्हत ! आपकी अत्यन्त महिमा में प्राप्त सुस्थिति, आपके निकट लगी हुई सम्पूर्ण विश्व की सम्पदाय सदा बिना प्रयत्न सहज ही धारण की जा रही स्व शक्तियां-ये सब आपकी स्वभाव सीमा का भेदन नही करती।

साधारण मानव को स्वय के ज्ञान, वीर्य आदि की वृद्धि, बाह्य मे भौतिक समृद्धि पद सम्मान उन्मत्त कर देते है। वह असामाजिक असामान्य हो जाता है, व्यसनी बन अपनी ही देह को रुग्ण बना लेता है। ज्ञानीजनो की बात भिन्न है। अर्हन्त परमात्मा के समवसरण का वैभव लोकोत्तर होता है चक्रवर्ती इन्द्र उनकी पूजा करते है, उनके ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुण अनुपमेय होत है। अन्तर्बाह्य यह उत्कृष्ट वैभव उनमे किंचित भी विकार पदा नही करता वे किसी का भी तिरस्कार नही करते सब के हित की बात कहते है ॥१४॥

१५ हे ईश ! आपका यह तेज जयवन्त हो जो छोटे बड सभी को अपने म निमग्न करता है, जो अनन्त और अद्भुत सत्य वभव वाला है आपका स्वतत्त्व है, आत्म नियन्त्रित रूप से परिणमन करता है तथा चतन्य के उद्गार रूप से तरंगित होता है।

लोकालोक के छोटे-बड नीचे-ऊचे सभी पदार्थो को व्यापने/जानने वाला ज्ञान तज आत्मीय वस्तु है जीव का स्वतत्त्व है, किसी अन्य की दन नही है। यह स्वाधीन है अन्य द्वारा चालित नही है प्रकाश और परोपदेश आदि के अधीन नही है (अल्पज्ञ अवस्था की बात भिन्न है)। यह अपनी सौम्य प्रभा मे जड चेतन सभी पदार्थों को निमग्न कर उन्हे सौम्य प्रभामय कर देता है। मानव का चित्त जितना विषय-कषाय तनाव सक्लेश आदि से मुक्त होता है उतना ही अधिक विषद रूप से जगत को व्यापता है अद्भुत रूप से देश-काल मे निकट दूर को सही सही जान लेता है जयवन्त होता है ॥१५॥

१६ हे जिनेन्द्र ! यद्यपि आप अपनी सीमा में रहने वाले इस विश्व को अपनी ज्ञान रूप किरणों के समूह से भारी रूप में स्पर्श कर रहे है, तथापि उल्लघन न की जा सकने वाली आपकी स्वभाव सीमा अन्य के द्वारा कभी भी अभिभूत नही होती।

जगत के पुद्गल जीव आदि सभी पदार्थों की सीमा उनके प्रदेश और गुण है। वे अपने प्रदेश और गुण की सीमा को उलाघ कर कभी बाहर परिणमन नही करत नही कर सकत। जीव अपनी ज्ञान शक्ति से लोकालोक के सब पदार्थो का स्पर्श(ज्ञान)तो कर लेता है लेकिन कभी भी पर पदार्थ उसमे प्रवेश नही करते और इसलिये किसी भी प्रकार की कभी वे उसकी हानि नही कर सकत। ज्ञान न कभी आग से जलता है, न पानी से गीला होता है न ही राग द्वषादि को जानकर रागी

द्वेषी होता है। वह तो सर्व ही अंगों के बीच जल में कमल की भाँति उनसे अस्पृष्ट रहता है। (बाह्य पदार्थों से क्षुब्ध विक्षुब्ध कषाय होती है, ज्ञान नहीं) ॥१६॥

१७ पदार्थ अपने शाश्वत स्वभाव का अन्यों द्वारा अबाधित रह स्वयं स्पर्श करते हैं। अतः पर का कर्ता होने पर भी कोई पदार्थ पर नहीं हो जाता। इस प्रकार आप शुद्ध ज्ञाता में क्रिया शान्त है।

पदार्थ अपने स्वभाव का निरन्तर इस या उस रूप में स्पर्श करते हैं। उन्हें उनकी स्वभाव सीमा से बाहर कोई परिणमन नहीं करा सकता। इस या उस प्रकार परिणमन में आत्म या अन्य प्राणी उनका मात्र आलम्बन बन सकता है। आलम्बन और आलम्ब्य एक दूसरे के परिणमन में सहयोग देते लेते अपनापन छोड़ पर रूप नहीं हो जाते। ऐसी स्थिति में पर पदार्थों के परिणमन विशेष को इष्ट अथवा अनिष्ट मानने वाले रागीजन ही उसके सम्बन्ध में आतुर हो कुछ करने धरने में प्रवृत्त होते हैं, किन्तु पदार्थों के प्रत्येक ही परिणमन के प्रति समभावी रहने वाले ज्ञानी जन अभावात्मक होने से क्रिया विशेष में प्रवृत्ति न कर ज्ञान में ही तृप्त रहते हैं ॥१७॥

१८ आपका यह तेज अकर्त्ता है, ज्ञाता है, अद्भुत तथा स्पष्ट प्रकाश रूप है निरन्तर उदयमान है स्वशक्तियों द्वारा अत्यन्त रूप से आत्मा में आत्मा द्वारा धारण किया हुआ कभी भी प्रस्खलित नहीं होता है।

१९ जिसका विकास अत्यन्त स्पष्ट है जो अक्षर है, जिसने दिशा और काल का विभाग विलीन कर दिया है, अकेला है, क्रिया-कारक चक्र को जिसने छोड़ दिया है, जो स्वभाव मात्र है ऐसा आपका यह ज्ञान तेज एक साथ चारों ओर क्रियाशील है।

२० अविरल उल्लास से परिपुष्ट स्वशक्तियों के समूह से धारण किया हुआ आपका ज्ञान तेज न प्रवर्तन करता है न अतिवर्तन करता है। वह तो निराकुल रूप से स्वभावरूप ही उदित रहता है।

जीव ज्ञान स्वभावी है। ज्ञान तेज स्वभावतः निकट दूर, अतीत अनागत वर्तमान सब कुछ को जानता है किसी का कर्ता नहीं है। यह निरन्तर प्रकाशमान रूप से उदित रहता है, कभी चकता कता नहीं है। अपना कर्ता कर्म करण आदि सब कारक रूप यह स्वयं ही है अतः अन्य के सहारे वर्तन न कर आत्मा द्वारा आत्मा में धारण किया जाता हुआ अन्यों से अस्पृष्ट अकेला है। ज्ञानादि वीर्य क्षमा, मृदुता आदि आत्म गुणों की निरन्तर पुष्टि, वृद्धि के साथ विकसित हो जाने पर इसे पदार्थ विशेष को जानने में प्रवृत्ति नहीं करनी पड़ती सहज ही निराकुल रूप से सब कुछ को सदैव सही जानता है ॥१८-२०॥

२१ आप अपने तेज से भरे हुए होकर भी पुनः भर रहे हैं, स्वयं अत्यन्त तृप्त होकर भी पुनः तृप्त हो रहे हैं और अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होकर भी पुनः वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। अथवा आप सरीखों की कोई सीमा ही नहीं है।

२२ हे देव! आप आत्म माहात्म्य में निराकुल होते हुए भी कभी तीक्ष्णता नही छोडते है। जो कठिन तीक्ष्णता सदव प्रकट रहती है उसे ही [ज्ञानीजन] ज्ञान का माहात्म्य कहते हैं।

जगत परिणमन स्वभावी पदार्थों की रगस्थली है। यहाँ प्रत्येक पदार्थ एक पर्याय छोड अन्य रूप परिणमन कर रहा है नये नये रूपो मे स्वय को व्यक्त करने मे लगा हुआ है। यहा कुछ भी रुका हुआ नही है। जो यहा रुकता है वह ही क्षीण हो तुच्छता को प्राप्त हो जाता है। ज्ञानी जन बाह्य आरभपूर्ण क्रिया व्यापार से विरक्त हो अपने योगो का सकोच कर लेते है पर उपयोग मे सतत् क्रियाशील रहते है। ज्ञान की किसी उपलब्धि विशेष से तृप्त होकर बैठ नही जाते वरन् नूतन उपलब्धियो की ओर चरण बढाते है एक तृप्ति से रिक्त होते है तो अन्य तृप्ति की ओर बढ जाते है बोरियत का जीवन नही जीते एक दिशा मे सभव चरम वृद्धि प्राप्त कर अन्य मे चरम वृद्धि प्राप्त करते है। परम ज्ञानी अहन्त अन्तर्बाह्य सब ओर से निराकुल है तथापि वे सतत जागरूक है, उनके ज्ञान-दर्शन में कोई शथिल्य नही है, लोकालोक को पूरी तीक्ष्णता से पुन पुन व्यापे जा रहे है ॥२१-२२॥

२३ निरन्तर उत्तजित शान्त तेजवाले तथा स्वय प्रकाशमान परिपूर्ण ओजवाले आपके रहते हुए प्रत्यक्ष सवेदन से पवित्र चित्तवाले मुझ जसे व्यक्ति के लिये अन्धकार की कथा ही कसे हो सकती है?

२४ जिनकी कान्ति समस्त दिशाओ के समूह मे व्याप्त हो रही है ऐसे आपकी हठपूर्वक प्रकट चतन्यरूप कलिकाओ की उछलती हुई महिमा जब इस विश्व का स्पश कर रही है, तो दिशाओ के अन्त में भी मेरे लिये अन्धकार शेष नही है।

आत्मा सहज शांत तेज-ओज सम्पन्न महापदार्थ है। हिमवान पवत से बहने वाली गगा सिन्धु नदियो की भाँति इससे ओज तेज की अक्षीण धाराय सतत बहती है। स्वोपार्जित उदय से इन धाराओं मे भग उत्पन्न हो जाता है, अन्यथा जगत मे कोई भी पदार्थ इन धाराओ मे भग उत्पन्न करन मलिन करने में समर्थ नही है। आत्मा के इस निर्बाध ओजस्वी तेजस्वी स्वरूप की प्रतीति मानव का अन्तरग में प्रत्यक्ष स्व सवेदन मे प्रकट होती है। बाह्य मे घातियाँ कम नष्ट कर अहन्त पद का प्राप्त महापुरुष इसके उदाहरण है। साथ ही लोकालोक का स्वरूप निरूपण करने वाली जिनवाणी भी जब मानव को प्राप्त हो तो मिथ्यात्व अविरति कषाय और प्रमाद के अँधेरे मानव म कसे रह सकते हैं, कसे अज्ञान अदशन दुबलता रोग बाह्य विपरीतताओ आदि के क्लेश टिक सकत है? ॥२३-२४॥

२५ आप सब ओर से चतन्य के भार से परिपूर्ण हैं और जगत के प्राण स्खलित होने वाले एक चतन्य के कण से युक्त है। अत आपकी अनुभूति आपक द्वारा ही हो सकती है अथवा उनके द्वारा जो आपके अनुग्रह से बढ हुए उदय वाले है।

जिनेन्द्र शाश्वत अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय से युक्त हैं संसारी छद्मस्थ जन उस समय के चंचल एक कण को ही धारण करते है। परमौदारिक देह धारी जिनेन्द्र क्षुधा तृषा निद्रा आदि १८ दोषो से रहित है। छद्मस्थ जन इन दोषो के घर है। दोनो मे इतनी दूरी है कि सामान्यत: किसी छद्मस्थ द्वारा सब दोष रहित सब गुण पुंज जिनेन्द्र को समझ लेना, अनुभूति मे लेना सम्भव नही है। जिनेन्द्र भक्ति जिनागम के स्वाध्याय आदि से जिनके ज्ञानादि गुण कुछ विशेष तीक्ष्ण हुए है, सम्यक् तत्त्व बोध जिनका जागा है उन्हे अवश्य परमात्मा के स्वरूप की झलक मिल जाती है, अनुभूति हो जाती है ॥२५॥

(८)

१ अनादिकाल से रागी आपका जो यह सकीर्णरस रूप स्वभाव था वह ही मोक्षमार्ग मे उतरने पर आपके द्वारा हठपूर्वक शोभायुक्त शान्त रस रूप कर दिया गया।

जीव के असख्यात प्रदेश तथा ज्ञानादि अनन्त गुण प्रकारण है, अनादि निधन है नियत है। प्रदेश तो देह के अनुसार सिकुड फल जाते है तथा ज्ञानादि गुणो के अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद कर्मो के क्षयोपशम के घटने बढने के अनुसार अप्रकाशित या प्रकाशित होते हैं। राग-द्वेष मे वर्तन से जीव कर्म मल सचित कर ज्ञानादि शक्तियो को धमिल विकृत करता है तथा वीतरागता के मार्ग पर कदम धर कर इन्हे निर्मल शोभायुक्त करता है। जीव अपने स्वरूप से च्युत हो अजीव नही हो सकता केवल स्वय रागादि द्वारा मलिन कर लेता है अथवा स्वभाव का आश्रय कर निर्मल हो जाता है ॥१॥

२ बध के हेतुभूत कषाय समूह से विपरीत कषाय का क्षय ही आप तत्त्वज्ञ के द्वारा मोक्ष का अबाधित हेतु इष्ट किया गया है।

संसार राग-द्वेष रूप है मोक्ष वीतरागता रूप है। राग का रस अल्प एव नश्वान है वीतरागता का रस अनन्त है। जिन्हे जन्म-मरण के ससार चक्र से मुक्त होना है उन्हे सब रागद्वेष का कषाय के हर प्रकार का क्षय करना होगा। सज्वलन कषाय के शुभ प्रकार भी ज्ञानावरणादि घातिया कर्म बध के कारण होने से क्षय करने योग्य ही हैं। तीर्थंकर महापुरुषो ने इस तत्त्व के निर्णय पूर्वक हठात् सब कषाय क्षय किये एव कैवल्य प्राप्त कर मुक्ति के इस तत्त्व का ही प्रतिपादन किया ॥२॥

३ कषायों पर आक्रमण करते हुए यद्यपि आप अकेले थे, तथापि आपके नित्य आक्रमण करते रहने उन्हे चारो ओर से खीचते रहने और पूर्णशक्ति के साथ उद्यम करते रहने से एक होने पर भी कषायो ने आपको अनेक समझा।

ससार मे जीव एक है, कषाय अनेक है अनेकविध हैं। इस अनेकविध कषाय समूह को उखाड फेकना नष्ट कर देना कोई बच्चो का खेल नही है। घर-बार छोड सब आरम्भ-परिग्रह से मुह मोड मानव को अपना पूरा बल जुटा चारो ओर से इन पर आक्रमण करना होता है। अनेक विध कषायो को अनेक रूप धारण कर ही वह नष्ट कर सकता है। यथा, क्रोध को क्षमाशील बन कर मान को मृदु बन कर, माया को सरल बन कर, लोभ को शुचि बन कर, भय को निर्भय बन कर वह

नष्ट कर सकता है। यह सही है कि मानव इन सब रूपो सहित एक ही है, पर कषाय विशेष को उपशान्त एव क्षय करने हेतु उसे गुण विशेष का शस्त्र प्रहार उस पर करना होगा ॥३॥

४ बार बार चैतन्य के प्रहारों को जिन्होंने व्यथ किया है, जो भाग कर पुन वापिस मिले है, ऐसी दृढ कषायों ने आपकी अकम्प तथा सारभूत शक्ति को घिस घिस कर तोला है।

५ इसके बाद प्रतिक्षण स्ववीय का स्पश करने वाले अत्यन्त निर्भीक आपके द्वारा सम्यक अन्तर प्राप्त कर उन कषायों का समूल नाश करने वाला बलपूवक एक ही प्रहार किया गया।

६ हे विश्व के अद्वितीय भोक्ता! कषाय क्षय के क्षण ही आपने केवल ज्ञान लक्ष्मी को साक्षात् धारण किया था और अन्यों को जिनेन्द्र के पुरुषाथ का प्रभाव प्रकट किया था।

कषाय महा बलवान है। उन्होने जीव को अनादि से कद कर रखा है। उनके घरे तोड कर बाहर निकल जाना आसान नही है। अज्ञानीजन तो उन्ही के बल मे अपना बल मान लेते है, क्रोधादि कर स्वय को बडा मानते है। जिनका यह अज्ञान टूटता है और वे कषाय की कद से स्वय को मुक्त करने मे लगते है उन्हे इनसे भीषण सघष करना होता है। जब वे अपना तथा अन्य पदार्थों के स्वरूप का चितन मनन ध्यान करते है तो कषाय भाग जाती है कही दृष्टिगत ही नही होती और मानव स्वय को सब वासनाओ भयो तनावो क्लेशो से मुक्त आनन्दमय अनुभव करता है। लेकिन यह सब अल्प काल ही रहता है कषाय पुनसङ्गठित होती है बाह्य की घटनाओ से उन्हे बल मिलता है और वे उग्र होकर मुमुक्षु के चित्त को विक्षुब्ध कर देती है। मुमुक्षु को वस्तु स्वरूप के चितन मनन, ध्यान के प्रहार कर उन्हे पुन भगाना होता है। मुमुक्षुजनो की कषायो के साथ सघष की यह लम्बी कहानी है। महा मुनि शुक्ल ध्यान की श्रेणी चढ़ कषाय का उदय सवथा समाप्त कर देते है और वीतराग आत्मा के यथाख्यात चारित्र का अनुभव कर लेते है लेकिन अल्प मुहूत मे ही कषाय पुन उदय में आजाती है। जब वज्रवृषभनाराच सहनन के धारी महावीयवान निभय मुनि शुक्ल ध्यान की क्षपक श्रेणी पर आरोहण करते है, तो एक ही चित्प्रहार मे कषाय को उदय से ही नही सत्ता से भी नष्ट कर केवल ज्ञानी विश्व भोक्ता (विश्व ज्ञान के भोगी) अहन्त परमात्मा हो जाते है।

जो महापुरुष कषाय क्षय के इस माग पर चल कर अनन्त ज्ञान दशन सुख, वीर्य आदि आत्मिक गुण वभव आरोग्यमय कवलाहार नीहार आदि दोषो से रहित परमौदारिक देह तथा बाह्य मे योजनों तक सुभिक्ष जीवो मे परस्पर मत्री आदि अतिशयो से सहित होत हैं, वे कषाय जय के जिनेन्द्र के पुरुषाथ की साथकता जगज्जनो के सम्मुख बिना उपदेश ही अपने उदाहरण से प्रकट कर देत हैं ॥४-६॥

७ ज्ञान के अद्वितीय पुन्ज होते हुए भी अवश रूप से भोगने योग्य अपनी आयु स्थिति का अनुवर्तन करते हुए विश्व के साक्षात हित के लिये आपने मोक्षमार्ग प्रदर्शित कर धर्म तीर्थ का प्रवर्तन किया।

८ निश्चय से आप तीर्थ से और तीर्थ आपसे उत्पन्न होता है। इसी प्रकार दोनों का हेतुभाव है। वास्तव में यह बीज और अकुर के समान अनादि संतति से अवतरण करता हुआ सुशोभित हो रहा है।

अनादि से जीव कर्म-नोकर्म से बद्ध होकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। वह कर्म-नोकर्म में आपाबुद्धि ममबुद्धि और तज्जनित भांति भांति के राग-द्वेष बहुभाग बिना अन्यो द्वारा सिखाये ही करता है। कर्म-नोकर्म से भिन्न वीतराग आत्मा की बात मोक्ष का मार्ग उसे चर्म चक्षुओ से नही सूझ पाता वह तो जिनेन्द्र की वाणी से प्राप्त होता है। जैसे बीज से पेड खडा हो जाता है एक दिन मोक्ष मार्ग पर चल कर अपनी ज्ञानादि शक्तियो पर आये आवरण नष्ट कर जीव स्वयं जिनेन्द्र बन जाता है और आयुपर्यन्त जगज्जनो को मुक्ति के आनन्दमय लोक की राह दिखाता है मुक्ति की परम्परा को आगे बढाता है। जगज्जनो में वस्तु स्वरूप की चर्चा का वातावरण बनाना पात्र जनो को मोक्ष मार्ग में हस्तावलम्बन प्रदान करना कोई शुभ राग नही है वरन् कर्म काटने वाले शुद्ध ज्ञान के लोक का कर्तव्य है जिसका निर्वाह छद्मस्थ ज्ञानी जन ही नही जिनेन्द्र परमात्मा तक करते हैं ।।७-८।।

९ प्रत्यक्ष द्रष्टा आपके द्वारा समस्त विश्व का स्पर्श किये जाने पर भी समस्त को कहने की वचन में अशक्ति होने से समस्त पदार्थ समूह में से एक अनन्तवाँ भाग ही आपके द्वारा कहा गया है।

चाहे सर्वज्ञ परमात्मा हो चाहे छद्मस्थ ज्ञानी जन उनकी वाणी ज्ञात वस्तु का एक अल्प भाग ही प्रतिपादित कर पाती है। अतः उसके श्रवण पठन से हम वस्तु का आंशिक परिचय ही प्राप्त कर सकते हैं शेष बहुभाग के परिचय हेतु तो हमें अपने ही ज्ञान की निर्मलताओ का आश्रय लेना होगा अपना गुरु आप स्वयं को ही बनाना होगा ।।९।।

१० महान आश्चर्यों से जिनके उन्नत चित्त चकित हो गये है, ऐसे सुर और असुर देवो ने अनादिकाल से मजबूत जमे हुए अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाला यह द्वयात्मक वस्तुवाद आपके ही मुख से अवधारित किया है।

वस्तु एक रूप ही नही है, वह दो रूप है, विरोधी के समन्वय रूप है। वह स्व द्रव्यादि चतुष्टय से अस्ति रूप है तो पर द्रव्यादि चतुष्टय से नास्तिरूप है। वह स्वयं अवयवी है तो अवयव भी वह ही है अभेद रूप है तो भेद रूप भी है, नित्य है तो अनित्य भी है। वस्तु का यह द्वयात्मक रूप साधारण मानव क्या देवो तक को गम्य नहीं होता और वे भी वस्तु को एक साथ अनित्य ही अथवा नित्य ही एक रूप ही मान अज्ञानी रह क्लेश भोगते हैं। तीर्थकर परमात्माओ से जगत के सभी देवो मानवों ने वस्तु का द्वयात्मक रूप जाना है और कृतकृत्य हुए हैं ।।१०।।

११ प्रत्येक तीर्थ का ज्ञान कराने वाली आपकी वाणी रूप बूंदों द्वारा नाना मार्ग रचना हुई है। उसे सुनकर समुदाय बोध से शुद्ध आशय वाले किन्हीं को ही उसका अर्थ ग्रहण हुआ है।

मानव ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों से रचित आठ प्रकार के ससार से दुखी है। इनके भेद प्रभेदों में अनेकों ही प्रकार के ससार बनते हैं। इन अनेकों ससारों से मुक्त होने हेतु तीर्थ रूप उपाय भी अनेकों ही स्वभावत होते है। जिनेन्द्र उपदिष्ट आगम मे इन तीर्थों का यथा सभव निरूपण है। जो व्यक्ति किसी एक उपाय को नय को ही सम्पूर्ण उपाय मान लेता है वह एकातमति जिनशासन को समझ नहीं पाता। जिनेन्द्र के शासन में रह कर जिसकी मति समुदाय बोध से युक्त हुई है वह तो जिनवाणी मे वर्णित नाना दृष्टियो मे ही तालमेल नही बठाता, वरन् जगज्जनो के कथनो के भी तात्विक पक्ष को ग्रहण करने की चेष्टा करता है ॥११॥

१२ आपके शब्द विपक्ष से सापेक्ष होने से ही विरुद्ध धर्मों से युक्त वस्तु का स्पर्श करते हैं। स्याद्वाद मुद्रा से रहित शब्द तो वस्तु के एक देश मे ही शक्ति के चुक जाने से स्खलित हो जाता है।

१३ 'यह सत् है' यह उक्ति सत् की व्यावृत्ति (असत्) से सीमित हुई सत की प्रवृत्ति की अपेक्षा करती है। यदि अन्यथा हो तो पदार्थ जगत को प्रत्यक्ष अपनी स्वभाव सीमा को सहसा ही छोड द।

१४ हे ईश ! 'समस्त पदार्थ सत् रूप है' इस प्रकार सब को सत रूप करके भी एकत्व का निरूपण करने वाली उक्ति भेद का निराकरण नही करती है क्योकि सत्ता के द्वारा विश्व नही पिया जाता है वरन् सत्ता ही विश्व के द्वारा पी जाती है।

१५ हे ईश ! यद्यपि सत् का प्रत्यय विश्व का सम्यक प्रकार स्पर्श करता है तथापि वह विश्व मे एक ही है। सत अन्य प्रकार असत होने से द्वैत के नित्य विस्तार को कहता है।

प्रत्येक पदार्थ नाना धर्मात्मक है विरोधी धर्मों का समूह है। शब्द वस्तु का एक धर्म ही कहने में समर्थ है वह वस्तु के अन्य पक्षो को एक साथ नही कह सकता है। उनकी गौण रूप से स्वीकृति के बिना प्रयुक्त शब्द वस्तु के वाचक न बन मति भ्रम उत्पन्न करते है।

उदाहरण स्वरूप जब हम कहते हैं 'यह घट है' तो हम अघट रूप का निषेध भी साथ ही कर रहे हैं। ऐसे ही जब हम सादृश्य रूप महासत्ता का कथन करते हैं कि 'सब सत् रूप हैं' तो स्वरूप सत्ताओं के नानापन को गौण करते है। सत्ता मात्र विश्व नही है विश्व का अवयव ही है। विश्व तो सत्, असत् दोनो का समुच्चय है। जो एक द्रव्य-क्षेत्रादि की अपेक्षा सत् होता है वह ही अन्य द्रव्य-क्षेत्रादि की अपेक्षा असत् होता है ॥१२-१५॥

१६ विश्व को हठ पूवक ्याप कर पीता हुआ भी निश्चय स स्व-पर की सीमा में स्खलित हो रहा यह ज्ञानघन किस प्रकार अनादि सिद्ध विश्व के नानापन को मिटा सकता है।

१७ सबको एक रूप जानकर भी चेतन तथा अचेतन रूपता को मिटाने म कोई समथ नही है। अच्छी तरह सजाये जाने पर भी चिता पर पड हुए अचेतन शव म किसी प्रकार चत्य प्रतीति मे नही आ सकता।

१८ जो अनेक प्रकार सस्कार कर सम्यक रूप से विश्व को शब्द माग का विषय बनाने मे नही चूकती है ऐसी आपकी यह कठोर स्याद्वाद मुद्रा हठ पूवक प्रत्यक्ष उठ खडी होती है।

विश्व का भिन्न भिन्न दृष्टियो से अवलोकन करन पर भिन्न भिन्न अनुभूतियो कथनो की उत्पत्ति होती है। स्व तथा पर की सीमा मे प्रवेश करन वाले ज्ञान की अपेक्षा विश्व को देखन पर हमे ज्ञान ही ज्ञान अनुभव मे आता है अय कुछ प्राप्त ही नही है। ज्ञान नाना रूप बाह्य विश्व का निषेध नही कर सकता। ऐसा करने पर तो उस ज्ञय ही कहा स प्राप्त हाग और तब वह स्वय भी कसे ज्ञान बना रहेगा? इसी प्रकार जगत को हम अभेद दृष्टि से देखें तो हम सब कुछ अद्वत रूप, एक रूप दृष्टिगत होता है। पर यह अनुभूति भी एकागी ही है सर्वांग सत्य नही हा जाती। यह जड़ चेतन पदार्थों के भेद का लोप नही कर सकती।

उपरोक्त विज्ञानवादी और अद्वतवादी दृष्टियो/अनुभूतियो की भाति क्षणिकवादी नित्यवादी सत्वादी शून्यवादी आदि अनेक ही दृष्टियाँ/अनुभूतियाँ श्रुतज्ञानी मानव को प्राप्त है। ये परस्पर विरोधी अनुभूतिया समाज मे विवाद/विग्रह उत्पन्न कर मानव के क्लेश का कारण न हो इस हेतु स्याद्वाद के कठोर अनुशासन को स्वीकार किया जाना आवश्यक है कि विरोधी दृष्टियो मे परस्पर मत्री है वे विरोधी को जसा वह यथार्थ मे है गौण करती हैं, लुप्त नही करती ॥१६–१८॥

१९ हे देव! विरुद्ध धर्मो मे जो अनवस्थिति (विरोध) है वह ही आपकी दृष्टि मे अवस्थिति है। यदि इसम वाणी स्खलित होती है तो हो क्योकि तब बहुत बडा अन्तर हो जाता है।

२० वाणी को बल देने हेतु ही आपने स्याद्वाद मुद्रा की रचना की है। उससे अकित होकर ही वह वस्तु को स्वय अस्खलित रहती हुई तत् अतत स्वभाव से युक्त कहती है।

प्रत्येक पदाथ तत्-अतत् स्वभाव से युक्त है। जीव द्रव्य रूप से नित्य है, वह सदा अन्य कुछ नही जीव है, उसके जीवत्व को जगत मे किसी से खतरा नहीं है। पर्याय रूप से जीव अनित्य है, निगोदिया से सिद्ध परमात्मा तक वह कुछ भी हो सकता है। ऐसे ही, ज्ञान सदा ज्ञान है पर वह विशद अथवा अविशद कुमति से लेकर केवलज्ञान तक नाना रूप कुछ भी हो सकता है। द्रव्य की इस एकता और नित्यता तथा पर्याय की अनेकता और अनित्यता मे परस्पर अनवस्थिति है।

द्रव्य अनेक तथा अनित्य नही हो सकता और पर्याय एक तथा नित्य नही हो सकती। यदि हो जाये तो न द्रव्य रहेगा, न पर्याय दोनो ही नष्ट हो जायगे। दोनों विरोधियो मे परस्पर सहयोग से वस्तु का तथा उनका अस्तित्व बना हुआ है।

परस्पर विरुद्ध धर्मों को धारण करने वाली वस्तु को भाषा मे अभिव्यक्त करना कठिन होता है। शब्द एक ही पक्ष का कथन करने मे समर्थ है। उसकी इस कमी को स्याद्वाद दूर कर देता है। 'स्यात् जीव नित्य है', यह वाक्य जीव की पर्याय के अनित्य पक्ष का लोप नही करता तथा अपने पक्ष को स्पष्टता और दृढता से कहता भी है। स्यात् पद से संस्कृत किये बिना शब्द अपनी सीमा का अतिक्रमण करता हुआ हमे भ्रमित करता है स्यात्' पद युक्त वह सफलता पूर्वक अपना कार्य सम्पन्न करता है ॥१९-२०॥

२१ स्वयं की तथा अन्यों की अनादि दु ख रचना को समान रूप से नष्ट करना ही जिनके प्रयास का फल था ऐसे एक आप ही इस जगत मे अन्यो को खेद युक्त करते हुए भी अन्यो द्वारा उपासना योग्य रहे है।

२२ दु ख नाश हेतु जो चेष्टा करता है और हठपूर्वक दु ख भार आरोपण करता है ऐसा आपका अन्यो के द्वारा अजेय शासन हे जिनेन्द्र ! दु खों की जड को नष्ट कर देता है।

२३ समता रूप अमृत के स्वाद के ज्ञाता मुनिजनों को तपादि रूप उद्यम करते हुए महादु ख का भार भी इस लोक मे हठ पूर्वक अग्नि से संतप्त दूध को पीने वाले दुग्ध रस के ज्ञाता मार्जार के समान सौख्य रूप होता है।

संसार मे जीव चतुर्गति के दु खो से अनादि मे संतप्त है। स्वभाव से अनन्त सुख के भण्डार अनन्त ओज-तेज के स्वामी जीव की यह दुर्गति विचारशील मानव का हृदय विदारण करती है और उसे किसी भी कीमत पर अपना तथा अन्य का इस चतुर्गति भ्रमण से बाहर निकल जाना इष्ट लगता है। वह स्वयं तो चतुर्गति भ्रमण से मुक्त होने की राह चलता ही है, अन्या को भी चलने मे सहयोग करने को तत्पर रहता है।

चतुर्गति भ्रमण के दु ख लोक से निकलने का पथ जहा एक ओर अन्तर्बाह्य महान शान्ति और-आनन्द का पथ है वहा उसमे क्षुधादि परीषह-जय और आगन्तुक उपसर्गों के बीच अकम्प रहना भी आवश्यक है। परीषहो और उपसर्गो से भयभीत होकर ही तो मानव चतुर्गति की जेल मे पडा हुआ है अन्यथा कौन आरम्भ परीग्रह की भाग दौड में लगे समाज तथा राज्य के नियमो मे बंधे। अत जिसे भी चतुर्गति की जेल तोडनी है उसे परीषह-जय की तथा उपसर्गों के बीच अकम्प रहने हेतु कमर कसनी होगी। इस बाह्य दु ख भार को सहर्ष ओढे बिना मुक्ति पथ पर मानव के कदम आगे नही बढ सकते। इसी प्रकार उसे इन्द्रिय विषयो और देह की सुख सुविधाओ का भी त्याग करना होगा। बाह्य सुख दु ख के भाव से निवृत्त हुए बिना किसी को आत्मा मे आनन्द रस ज्ञान रस का स्वाद नही आ सकता।

यह इन्द्रिय तथा काय की सुख सुविधाओं का त्याग तथा परीषह और उपसर्गों का सहना कर्मबन्धन छेदने में लगे सम्यग्दृष्टि मानव का अनन्त आत्म सुख के लोभी मानव का प्रीष्म धूप की गर्मी की परवाह न करने वाले दूध के रस के लोभी बिलाव की भांति तुच्छ से लगते हैं। जल में कमल की भांति वह तो इनमें स्वयं को अस्पृष्ट ही अनुभव करता है और निरन्तर स्वयं का आनन्द में अधिकाधिक बढ़ा हुआ अनुभव करता है।

इस प्रकार न तो बाह्य सुखों का लोभ हो न ही बाह्य कष्टों का भय हो तो मानव चतुर्गति भ्रमण के दुःख को जड़ से उखाड़ आत्मा के महा सुख लोक में निवास का पात्र बनता है। यह जिनेन्द्र का अनुशासन/शिक्षा मानव को अजर अमर परमात्मा बना देती है ॥२१–२३॥

२४ जो तीक्ष्ण ज्ञान की परिपूर्ण मूर्ति हैं जो समग्र वीर्य के अतिशय से सहित हैं तथा जिन्होंने सम्पूर्ण कलंक रूपी कीचड़ को नष्ट कर दिया है, ऐसा आपसे श्रेष्ठ दूसरा कौन प्राप्त हो सकता है ?

२५ जिस कारण यह शब्द ब्रह्म आपके अद्वितीय चैतन्य मण्डप के एक कोने का चुम्बन करता हुआ जान पड़ता है उस कारण इस लोक में आप ही परम ब्रह्म हैं आपसे अतिरिक्त दूसरा कोई बड़ा नहीं है।

जो मानव अन्य का मार्ग दर्शन करे उसके लिये आवश्यक है कि वह स्वयं उस मंजिल पर पहुंच गया हो तथा मार्ग को भली भांति जानता हो। बिना मंजिल को स्वयं प्राप्त हुए अन्यों को मार्ग दिखाने लगना तो अपने को और अन्यों को ठगना है।

पुनः मानव मंजिल पर पहुंचा भी हो मार्ग भी जानता हो पर यदि वह अन्य को भली प्रकार समझाने की शब्द सामर्थ्य न रखता हो तो वह अन्यों को मार्ग बता नहीं सकता अन्य उसके भ्रम में ही पड़ेंगे।

जिनेन्द्र उक्त दोनों कसौटियों पर मोक्ष पथ के प्रदर्शक आप्त के रूप में खरे उतरते हैं। मोक्ष अनन्त ज्ञानमय समग्र वीर्यमय कषाय एवं क्षुधादि समस्त दोषों से निवृत्त स्वच्छ अवस्था का नाम है। जिनेन्द्र इस अवस्था को प्राप्त सर्वज्ञ परमात्मा हैं। अनेकांत स्वरूप जगत के पदार्थों को, मोक्ष को मोक्ष के मार्ग को भले प्रकार अभिव्यक्त करने हेतु शब्द को स्याद्वाद से उन्होंने ही संस्कारित किया है। इस प्रकार पूर्ण शब्द सामर्थ्य के धनी परमब्रह्म स्वरूप जिनेन्द्र ही आप्त हैं" अन्य मतों के एकांती जन आप्त नहीं हो सकते।

(१)

१ हे शान्ति से परिपूर्ण आत्मन्! मोक्ष मार्ग में अवतीर्ण होने पर आप स्वयं स्व (आत्म) प्रकाश को प्राप्त हुए। अन्यों के कठोर, कुतर्कपूर्ण वाक्यों से निन्दा किये जाने पर भी आपका बोध शिथिल नहीं हुआ।

२ परमार्थ के श्रेष्ठ विचार को प्राप्त कर आपने निष्कम्प रूप से अकेले रहने की प्रतिज्ञा की थी, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग किया था तथा दीनजनों पर दयावान हुए थे।

३ आगम के अनुसार अस्खलित दृष्टि वाले आपका किसी के प्रति पक्षपात नहीं था। तथापि, समस्त जीवों के प्रति तो बलपूर्वक ही माना आपका पक्षपात था और आप छह् काय के जीवों की अत्यन्त रक्षा करते थे।

४ सूर्य की किरणों से उत्पन्न अग्निकण सभी ओर से आपके शरीर को जलाया करते थे। वे कर्म फल के परिपाक की इच्छा रखने वाले आपके लिये अमृत कण के समान थे।

५ जो समता रस के स्वाद के भार से शिथिल हो रहे थे रात्रि के समय योग धारण कर जो श्मशान भूमि में शववत निश्चेष्ट पड़े थे तथा जिनका शरीर अच्छी तरह सूख गया था, ऐसे आप श्रृगालियों द्वारा दांतों से विघट्टित हुए थे (नोचे गये थे)।

६ विवेकी रोगी के समान शक्त्यनुसार एक माह आध माह का उपवास करते हुए तृष्णा रहित आपने अनादि के राग रूप तीव्र ज्वर के वेग को नष्ट किया था।

७ तदनन्तर, किसी प्रकार सम्पूर्ण आत्म वीर्य के व्यापार रूप संयम को प्राप्त आप कषाय क्षय से स्वयं ही अविनाशी और साक्षात् ज्ञान के अद्वितीय पुंज हो गये।

संसार पराश्रय रूप है और मोक्ष स्वाश्रय रूप। अतः मोक्ष मार्ग पराश्रय छोड़ मानव का स्वाश्रयी अकेला बने जाने का नाम है। वस्तु स्वरूप के ज्ञाता स्वाश्रयी मानव को किसी अन्य से कोई अपेक्षा नहीं होती कि वह उसकी प्रशंसा करे गाली न दे। किसी की गाली निन्दा उसे आकुलित नहीं कर सकती। उसके युक्तियुक्त श्रद्धान ज्ञान को अन्य जन अपने कुतर्कों से मन्द विकृत नहीं कर सकते। उसके श्रद्धा को किसी के समर्थन की आवश्यकता नहीं होती अल्पमत अथवा बहुमत से उसका तत्त्व दर्शन प्रभावित नहीं होता। वह अपने आत्म प्रकाश से प्रकाशित रहता है उसे अपने ज्ञान तेज में भरोसा होता है तथा उसकी अधिकाधिक प्राप्ति में वह प्रयत्नशील होता है।

मोक्ष मार्ग का स्वाश्रयी पथिक किसी से कुछ भी अपेक्षा नहीं रखता, जड़ अथवा चेतन किसी भी पदार्थ की कृपा का वह आकांक्षी नहीं होता उसे जगत में कोई क्षति आहत नहीं कर सकती। अग्नि प्रज्वलित करती सूर्य की किरणें उसे कम जलाती अमृतोपम लगती हैं, रात्रि में श्मशान भूमि में श्रृगाली द्वारा देह का नोचा जाना उसे मात्र पुद्गल का नोचा जाना लगता है। इस प्रकार अन्य उसके सम्बन्ध में अन्य कोई कुछ भी करे उसमें वह अस्पृष्ट रहता है उसे उनसे कोई एतराज नहीं होता। पर जब उनके कार्यों से अन्यों की हानि की बात आती है, तो इस बात से सदा सावधान रहता है कि उनसे कष्ट न हो जाये, इसका वह पूरा ध्यान रखता है तथा इस अहिंसा धर्म से ही उन उन जन को देता है।

स्वाध्याय कहे या सयम एक ही बात है। यह आत्म वीर्य के जागरण से सभव होता है। जो बाह्य जड चेतन पदार्थों पर अवलम्बित हो जीते है, पशु, पद नौकर चाकर परिवार आदि के सहारे जीते हैं उनका आत्मवीर्य सुप्त रहता है। उनका देह का बल भोजनाश्रित होता है। एक दिन भोजन न मिलने पर उठना, बठना कठिन हो जाता है। सयमी जन यथा शक्ति अर्धमास, एक मास निराहार रहते ज्ञान ध्यान मे रत रहते है। वे देह को रसधातुओ से स्वत पुष्ट स्वीकार कर उसमे बहुभाग निरपेक्ष रहते है।

बाह्य सुविधाओ साधनो के बल पर जीने वाला मानव उनकी हानि से क्षुब्ध हो उठता है उसके पैरो तले से जमीन खिसकने सी लगती है, और वह आपा खो बठता है। आत्माश्रयी मानव बाह्य से निरपेक्ष बना अनुकूल प्रतिकूल प्रत्येक ही सयोग परिस्थिति के बीच कषाय-क्षय करता हुआ शीघ्र ही कवल्य प्राप्त कर लेता है ॥१-७॥

८ तदनन्तर, जिन्होने [ज्ञान मे] स्व तथा पर को व्याप्त किया है अपनी आयु की स्थिति से जो नियन्त्रित है, जो अपने शेष कर्मों के विपाक का अनुभव कर रहे है, ऐसे आपके द्वारा मोक्ष का माग बताया गया।

९ हे नाथ! अन्तरग मे कषायो का बलपूवक क्षय तथा बाह्य मे यथा शक्ति चारित्र का पालन, यह मोक्ष का माग आपके द्वारा आगम के सक्षेप के रूप मे बताया गया।

ज्ञानावरणादि घातिया कम चतुष्टय के नष्ट हो जाने पर मानव को कवल्य प्राप्ति हो जाती है। वेदनीय आदि चार अघातिया कर्मो के उदय से आयु पयन्त वे सदेह विद्यमान रहते हैं, और मन वचन तथा काय इन तीन योग रूप वतन भी करते है। अहन्त परमात्मा के कषाय शेष नही है अत उनका कोई वचन अथवा काय का व्यापार कषाय युक्त नही होता बरन् सब ज्ञानमय होता है। काय और वचन योग जब कषाय युक्त होते है तो मानव अन्यो को कषाय मे ही प्रवृत्त करता है, उन्हे ससार बधन मे ही लगाता है। जब ये ज्ञान युक्त होते हैं तो मानव अन्यो को मुक्ति पथ मे ही प्रवृत्त करता है ज्ञान से ही प्रकाशित करता है। काय योग से अहन्त का विहार उन प्रदेशो मे होता है जो अहन्त की अमृत वाणी के प्यासे होते हैं, जिन्हे तत्त्व की जिज्ञासा होती है।

अहन्त के उपदेश का सक्षेप मे सार यही है कि हम अपने चित्त पर पूरा अकुश रखें और कषाय को उसमे प्रवेश न करने दे हम निरन्तर वीतराग तत्त्व चर्चा से माजा धोकर चित्त को कषाय मुक्त कर बाह्य मे इन्द्रिय तथा प्राणी सयम का, उपवासादि तपो का परीषह जय आदि का अपनी शक्ति अनुसार अनुष्ठान करें। शक्ति से अधिक करने पर लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना हो जाती है ॥८-९॥

१० आपका सयम बोध प्रधान है। उससे कषाय क्षय पूवक मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार बोध मोक्ष प्राप्ति के हेतु के हेतु का हेतु है। चरित्र हीन का बोध अहेतु के समान है।

आत्मा कर्मों के बन्धन से कषायों का सर्वथा क्षय हो जाने पर मुक्त होती है। मानव कषाय क्षय हेतु प्राणीसंयम और इन्द्रियसंयम धारण करता है भाव संयम तथा द्रव्य संयम धारण करता है। संयम धारण कर यदि वह ज्ञान की आराधना मे रत होता है तो अवश्य ही कषाय नष्ट कर मुक्त हो जाता है। (ज्ञानाराधना बिना संयम प्राय भार बन जाता है, थोथा रह जाता है।) जो जन संयमी जनो की ज्ञानाराधना का अनुकरण बिना संयम धारण किये करते है, उनकी ज्ञानाराधना उन्हे विशेष फलदायी नही हो पाती। चारित्रहीन व्यक्ति की ज्ञानाराधना विशेष पुण्य रचना भी नही कर पाती। चरित्र और ज्ञान के सुमेल होने पर मानव परमात्मा बन जाता है ॥१०॥

११ जिनने समस्त चारित्र के भार को धारण किया है जो अपनी आयु की स्थिति के ज्ञाता है, जिनके बन्धन बिखर चुके है ऐसे आपने अन्तमे अग्नि की शिखा के समान सहज ऊर्ध्व गति के द्वारा सिद्धि धाम को प्राप्त किया।

१२ जिनके प्रदेश अचल है, जो दृष्टि के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को पी रहे है, जो प्रत्यक्ष ज्ञान की मूर्ति है जो स्ववीर्य की अतिशयता मे सुरक्षित है ऐसे आप उस सिद्धिधाम मे सुख से विराजमान है।

१३ हे देव! वीर्य दर्शन ज्ञान को तीक्ष्ण करने वाला है, दर्शन-ज्ञान की तीक्ष्णता होने पर निराकुलता होती है निराकुलता आपका सुख है आप सुख मे ही गाढ़ रूप से तन्मय है।

१४ तृष्णा का अभाव, विघ्न रहित ज्ञान, कही स्खलित न होने वाला श्रेष्ठ दर्शन और वीर्य–यह सब निरन्तर निराकुल रहने वाले आपके सुख के हेतुपुञ्ज हुए है।

आत्मा अग्नि की शिखा के समान ऊर्ध्व गति स्वभावी है। जैसे हवा के झोको से दीपक की लौ टेढी मेढी गति करती है वैसे ही अज्ञान और कषाय से कर्म-बद्ध जीव संसार मे चतुर्गति रूप परिभ्रमण करता है। सब कषाय क्षय कर ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न हो जब वह आयु के अन्त मे अयोगी बनता है तो यथाख्यात चारित्र की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है कर्मो के सब 'झोके' लुप्त हो चुकते है और आत्मा लोकाग्र मे जा विराजमान हो जाता है।

सिद्ध परमात्मा का स्वरूप ही प्रत्येक जीव का शुद्ध अकारण निबन्ध स्वरूप है। अकारण ही अचल प्रदेशी वह लोकाग्र का निवासी है अनन्त वीर्य से उसका गुण वैभव सुरक्षित है कोई बाह्य शक्ति उसमे विपरिणमन विकार उत्पन्न करने मे समर्थ नही है उसे कोई देह अथवा बाह्य पदार्थों की तृष्णा नही है अनन्त वीर्य से उसके ज्ञान-दर्शन तीक्ष्णता धारण कर लोकालोक को अविचलित रूप से जानते देखते है, तथा इस जानने देखने मे लीन रहने से उसे कोई आकुलता सम्भव नही है और निराकुल होने से वह सुखी है। इस प्रकार सिद्ध समान स्वयं को स्वीकार करे तो प्रत्येक आत्मा पायेगा कि सुख की हेतुभूत सारी सामग्री से वह सदा अकारण ही सज्जित है ॥११–१४॥

१५ आप उस आत्मतत्त्व को एक साथ साक्षात् जानते है, देखते हैं जो अनादि ससार के पथ से रहित है, अनन्त सिद्धत्व मे स्थित है तथा तीनों कालो की माला में विस्तीर्ण है ।

१६ हे ईश ! दर्शन ज्ञान और वीर्य से नित्य सघन तथा सब ओर से अखण्डित आत्म शक्ति वाले आप अत्यन्त तीक्ष्णता से अनन्तों बार विश्व का अविभाग खण्डो द्वारा खण्ड खण्ड करते है ।

१७ हे विभो ! दृढता से उपयुक्त रहने वाले आपकी पदार्थों सहित विश्व को अवभासित करने वाली तथा एक चैतन्य सामन्य में अवतरण करने वाली आत्मशक्तियाँ कभी भी आपके स्वभाव का भेदन नही करती ।

मुक्त लोक के वासी सिद्ध परमात्मा परम ज्ञानी हैं । ज्ञानी जन मुख्यत ज्ञान मे जीते हैं, सिद्ध भगवान इसके उत्कृष्ट उदाहरण है । वे त्रिकाल व्यापी अपनी शुद्ध आत्मा का अवलोकन करते है क्षमा, मृदुता ऋजुता सुख वीर्य आदि गुणो के पुञ्ज, महा शान्त महा तेजस्वी वे स्वय के/अपनी आत्मा के वेदन से च्युत नही होते । साथ ही वे लोका लोक को उसके एक एक पदार्थ का पूरा पूरा गहराई से जानते देखते हैं । इस सब सघन व्यापार मे रत वे कभी किसी प्रकार के विकार मे, चिन्ता भय-क्रोधादि मे विपरिणमन नही करते सदव शान्ति, क्षमा मृदुता ऋजुता के आनन्दमय तेजस्वी चेतन लोक मे सुस्थित रहते हैं । अत उनकी सघन शक्तियो का तीक्ष्ण व्यापार उनकी किसी प्रकार की हानि अथवा विकार का कारण नही बनता । जीव की हानि तथा विकार तो अज्ञान राग द्वेष प्रमाद आदि रूप वर्तन से होते हैं, जिनका सिद्धो मे नितान्त अभाव है ॥१५-१७॥

१८ प्रमाता रूप से स्थित आपके प्रमेय रूप से वर्तन कर रहा पदार्थ समूह अत्यन्त तन्मय लगता भी आपके साथ एकता को प्राप्त नही होता ।

१९ दूसरे के प्रदेशो से कोई प्रदेशी नही होता तथा कोई भी वस्तु प्रदेश शून्य नहीं है । हे जिनेन्द्र ! आप दर्शन ज्ञान और वीर्य को अपने प्रदेशों मे बद्ध करते हुए सुशोभित होते हैं ।

२० स्वभाव से ही जो दर्शन-ज्ञान की मूर्ति स्वरूप हैं ऐसे आपकी यह दर्शन-ज्ञान की विचित्रता मे युक्त प्रचुर सम्पदा निश्चय से विश्व का आलम्बन लेकर प्रकट हुई है । इतने ही आप अन्य पदार्थो से उपकृत है ।

जीव बाह्य पदार्थों को जानते हुए उनसे तन्मय लगता है पर वह तो पदार्थों को छूता भी नही मात्र ज्ञेयाकार रूप अपने ही ज्ञान के परिणमन से तन्मय होकर पदार्थो को जानता है । यदि उसे बाह्य पदार्थो से तन्मय स्वीकार किया जाये तो उसे अपने प्रदेशो से रिक्त होता हुआ तथा अन्य

के प्रदेश ग्रहण करता हुआ मानना होगा। यह दोनो ही काय जगत का कोई पदाथ नही कर सकता। पदार्थों के ज्ञेय रूप ग्रहण से जो ज्ञान का नाना रूप वभव प्रकट होता है उसमे बाह्य पदार्थों का आलम्बन बनना जितना ही उपकार है, शेष तो दशन-ज्ञान की मूर्ति रूप जीव का ही अपने से अपना परिणमन है।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि जगत व्यापी दशन-ज्ञान गुणो के नाना रूप परिणमन मे पर पदार्थो के प्रति राग करने रूप आत्म निष्ठता छोड परनिष्ठ होने रूप जीव का कोई अपराध नही है वरन् यह उसकी अपनी ही स्वभावगत क्रीडा है जिसे शुद्ध अहन्त सिद्ध परमात्मा भी करने मे मग्न है ॥१८-२०॥

२१ हे विभो ! अनन्त धर्मो से व्याप्त प्रदेशो के द्वारा आप दशन और ज्ञान के आधार मात्र हैं। दशन और ज्ञान की विचित्रता के माध्यम से आप विश्वरूप ही निश्चय से सुशोभित हो रहे है।

दशन और ज्ञान जीव के प्रमुख गुण है। ये गुण जीव के आत्म प्रदेशों को व्याप कर स्थित हैं। जीव के प्रदेशो के बाहर इनके एक भी अश की स्थिति सभव नही है। जीव अपने असख्यात प्रदेश प्रमाण है/देहाकार प्रमाण है। उसका कोइ भी गुणाश उससे बाहर अन्यत्र कस हो सकता है ? इस प्रकार प्रदेशो की अपेक्षा एक जीव उसके ज्ञानादि गुण अन्य जीव पुद्गल आदि पदार्थो से पृथक है और सदा पृथक ही रहते है।

एक ओर जहा यह अन्य जीवादि से पृथक्ता/भेद एक जीव का प्रदेशापेक्षा त्रकालिक सत्य है और भेद विज्ञान के रूप मे जन दशन मे सम्मत हुआ है, वहा ही दूसरी ओर ज्ञान-दशन गुणो के माध्यम से जीव की विश्वरूपता भी जनाचार्यो को स्वीकार है। णाणट्ठिया सव्वे' सब कुछ ज्ञान म स्थित माने गये है। जीव की यह विश्वरूपता उसका परमात्मस्वरूप है जो समस्त घातिया कर्मों के नष्ट होने पर केवल ज्ञान होने पर प्रकट होता है। विश्व और उसके पदार्थों के स्वरूप के ज्ञान मे पुन पुन ग्रहण से/ज्ञानाभ्यास से जीव अपनी विश्वज्ञता पर से आवरण नष्ट कर एक दिन परमात्मा हो जाता है। जो जन ज्ञान-ध्यान द्वारा अपनी विश्वज्ञता के उघाड/विस्तार म रुचि नही रखते और प्रदेशापेक्षा वत रहे भेद का एकान्त पकड कर ज्ञान मे अन्य पदार्थों के स्वरूप ग्रहण को बुद्धि का व्यभिचार मानते है विश्वज्ञता मे अपनी मुक्ति न देख उसे कम बन्ध का कारण मानत है वे आत्मा के भेदाभेदात्मक स्वरूप से अपरिचित रह आकाशकुसुमवद् अवस्तु रूप भेद मे एकान्त आग्रह से ठगाये जाते है, और इसी एकान्त का अन्यो मे प्रचार प्रसार कर अन्यों को भी ठगते है। इसी प्रकार प्रदेशापेक्षा वत रहे भेद पक्ष का लोपकर कोई जन आत्मा की विश्वमयता का ही एकान्त आग्रह करते है, तो वह एकान्त आग्रह भी अवस्तु रूप होने से उन्हे ससार/दुखो से मुक्त नही करता। अन्यो से प्रदेशापेक्षा पृथकता के साथ ही ज्ञान-दशनापेक्षा विश्वमयता दोनों का समन्वय ही मानव के सम्पूण दुखो का क्षय करने वाला है ॥२१॥

२२ अभाव, भाव और उभय रूप एक स्ववस्तु को स्वय साक्षात् देखते हुए आप कही अन्यत्र सलग्न नही होते, सदा ही स्वभाव सीमा से युक्त तत्त्व मे अकम्प मग्न रहते है ।

जगत का प्रत्येक पदार्थ भाव अभाव और उभय रूप है । ज्ञानी इन तीन रूप स्वय को देखने जानने वेदने मे सदा मग्न रहता है । यह ही उसकी आत्मनिष्ठता है । उसे अन्यो मे कोई राग द्वेष नही होता उसे उनको जानने–देखने का व्यामोह भी वस्तुत नही होता । वह तो स्वय को ही पूरा जानने देखने, वेदने मे मग्न रहा चाहता है— पूरे भावरूप अभाव रूप और उभयरूप । उसके अभावरूप में पूरे विश्व पदार्थों का ग्रहण होजाता है । विश्व पदार्थों को पूरा न जाने तो वह कैसे अपने अभाव पक्ष को पूरा जानेगा तथा कैसे उनके ज्ञाता रूप अपने भावपक्ष को भी पूरा वेदेगा ? तब उभय रूप उसकी आत्मा उसे अधूरी ही अनुभत होगी । यह अपना अधूरा वेदन ही ससार है । जब आत्म वेदन अधूरा होता है तो दर्शनज्ञान सुख वीर्य दान लाभ आदि सभी आत्मगुण अधूरे ही व्यक्त होते हैं । परिणामत मानव मे आवश्यक रूप से भूख प्यास आदि दोष राग द्वेष आदि कषाय और भाँति भाति के पराश्रय वर्तन करते हैं । इनसे मुक्त होने हेतु हमे स्वय को भाव अभाव और उभय तीनो रूप स्वय को पूरा जानने वेदने को कमर कसनी होगी ।।२२।।

२३ हे जिनेन्द्र ! समस्त भूत वर्तमान और भावी रूप विश्व का एक साथ साक्षात आलम्बन करने वाला अनन्त विश्वात्मक दिव्य दीप्ति स्वरूप आपका उपयोग कभी अस्त को प्राप्त नही होता ।

२४ हे ईश ! आपकी यह दृष्टि सब ओर अप्रतिहत हैं यह ज्ञान सवत्र निर्बाध शक्ति वाला है । अत्यन्त कठिनाई से धारण होने वाले अपने 'स्व' को अनन्त वीर्य के अतिशय से आप धारण करते हैं ।

ससार दशा मे भूत का स्मरण कर वर्तमान को जानकर भावी को पढ कर तथा अन्य भी अनेक विध उपयोग के कार्यों के बल पर जीव अपनी जीवन नया खेने मे सफल होता है । यदि उसे असफलताओ और दु खो से पाला पडता है तो उसके उपयोग की मलिनता दुर्बलता रुग्णता ही बहुभाग दोषी होती है । ऐसा रुग्ण उपयोग ही कर्म बाँध जीव के चतुर्गति भ्रमण का कारण बनता है तथा सम्यक श्रद्धा ज्ञान चरित्र की दीप्ति से जगमगाता हुआ विश्व व्यापी होता हुआ उपयोग सर्व कर्म बध छेद जीव को मुक्त परमात्मा बना देता है । इस प्रकार ससार मे पग पग पर और ससार से पार होने तक उपयोग की सार्थकता सभी को स्वीकार है । मुक्त हो जाने पर किसी दर्शन मे जीव को मात्र चेतन, किसी मे जड तथा किसी मे दीपक के बुझने की भाति शून्य स्वीकार कर लिया गया है उपयोग का कोई प्रयोजन न लगने से उसे अस्त हुआ मान लिया गया है । वास्तव मे, दर्शन ज्ञान रूप आत्मगुणो का अप्रतिहत और निर्बाध हो विश्व व्यापी हो जाना ही जीव की मुक्ति है । दर्शन ज्ञान की विश्व व्यापकता जीव का स्व है जिसे अनन्त वीर्यवान मुक्त आत्मा ही उपयोग मे पूरा धारण करने मे समर्थ है । जीव की अनन्त ज्ञान-दर्शमयता इस स्व को उपयोग मे धारण करने मे ही निहित है । दर्शन ज्ञान की निर्बाध क्रीड़ा ही जीव का सर्वस्व है । ऐसे मे उपयोग के व्यापार के

मुक्त आत्मा में ग्रस्त हो जाने की बात मात्र अयुक्त ही नही वरन् ससार को दीघ करने वाली क्लेश कारक मुक्ति की अवरोधक मिथ्या मान्यता है। यह मान्यता उपयोग को वहिमुखी बनाती है उसकी साथकता कम बाधने काटने, बाह्य सफलतायें प्राप्त करने आदि मे स्थापित कर उसे अपनी थिरकन से तत्काल आनन्दमयता के सर्वोपरि लाभ से वचित कर कभी स्वस्थ नही होने देती। यह अस्वस्थ उपयोग मानव को स्वय का ही शत्रु नही बनाता वरन् उसे निरन्तर उत्पात मे प्रवृत्त कर अन्यो का भी शत्रु बनाता है ॥२३-२४॥

२५ समस्त जगत में दीन रूप में भ्रमण कर खिन्न हुए मेरे द्वारा पूरी शक्ति लगाकर अति लोभ से आप बन्दी बनाये गये है। आप मेरे सवस्व है। मुझे विवादों से क्या ?

जन्म-मरण के चक्ररूप ससार भ्रमण भयानक है। जीव दीन बना इस भ्रमण मे काल की ठोकरे खाता हुआ इधर उधर लुढकता फिरता है। यह ठोकर उसे तब तक मिलती रहेगी जब तक कि वह जिनेन्द्र को/शुद्ध आत्मा को अपना सवस्व स्वीकर कर अपने रोम रोम मे नही बसा लेता अपने हर योग मे उपयोग मे उन्ही का स्पश नही करता उन रूप जीने का यत्न नही करता। यह न कर यदि वह क्षुद्र बना झूठे-सच्चे तर्क वितर्को मे लौकिक झगड टन्टो मे ही उलझा रहता है तो जसे जगत मे अब तक वह ठोकर खाता रहा है वसे ही आगे भी खाता रहेगा ॥२५॥

(१०)

१ हे सब ओर से विशुद्ध विज्ञानघन जिनेन्द्र! मैं एक शुद्ध नय, जो अन्य नयों को अपने मे निमग्न करने के स्वभाव वाला है तथा स्वभाव की लीला को प्रकट करना ही जिसका प्रयोजन है की दृष्टि से आपकी स्तुति करूगा।

शुद्धनय अभेद की दृष्टि है। यह वस्तु मे नाना रूपता को गौण कर उसे एक रूप देखता है। साथ ही यह कर्मोदय जनित अशुद्धि को भी गौण कर जीव को शुद्ध ही स्वीकार करता है। सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया। ससार दशा मे जीव का ज्ञानानन्द से परिपूण स्वभाव कम मैल से अशुद्ध मलिन हो रहा है। शुद्धनय का चिंतन अनुभव जीव के दोष दुबलताओ को नष्ट कर उसके गुणो को अभिव्यक्त होने का अवसर प्रदान करता है और अशुद्धि का सवर तथा निजरा करता है ॥१॥

२ निर्बाध, उन्नत, विशाल तेज से युक्त, उदार विशद तथा अभेद रूप से प्रकट होने वाला जो आपका चतन्य चमत्कार है वह ही निमल वभव आपका रूप है।

३ हे विभो! आपके चतन्य का अद्वितीय प्रसार जिसके द्वारा रोका जाता है वह है ही नहीं। स्वभाव की गम्भीर महिमा मे लगे हुए एक रस प्रवाह रूप आप सुशोभित होते है।

आत्मा चेतना की निर्मलता/निमल शीशा का नाम है। इस शीशे म गहरी मे बाधा आना समव नही है क्योंकि उसे कुछ अन्य छूता ही नही। वह सर्वोत्कृष्ट है उसमे जगत मे कुछ भी बडा नही है, सारा जगत ही उसका मात्र ध्यय और ज्ञय है। वह अपने म परिपूर्ण है उसे किसी स कुछ लेना नही है कि वह स्वय को पराश्रित दीन स्वीकार करे। यह चतय अपने उदार विशाल तत्व मे सम्पूर्ण जगत को डुबाये हुए हैं। अत जगत म कुछ भी नही है जो इसकी गति को अवरुद्ध कर सके इसके लिये दूर भी निकटवत् एव अतीत तथा अनागत वतमानवत् हैं। इसके हर व्यापार से स्वभाव की गहराई मे आनन्द रस का पूर उमडता है ॥२-३॥

४ हे ईश ! ऊपर ऊपर उछलती हुई निमल तेज रूप अखण्ड धारा स प्रकाश मान तथा चित्त की एकता में सकलित आत्म दीप्ति रूप आप समस्त ऊँच नीच को दूर कर रहे है।

५ हे महौजस ! तव उछलते हुए चतन्य तेज की अद्वितीय महिमा म विश्व भी जल के प्रवाह से नहाये हुए चित्र के समान परिमार्जित जान पडता है।

कम कलक से मानव ही मलिन हुआ बन्धन की कुरूप कथा से आक्रान्त नही है, समस्त जीव जगत इससे ही उद्भ्रान्त हो रहा है। सब एक दूसरे को मार कर खान म लगे हैं, एक दूसरे से भयभीत हो रहे है। अनेक मानव पशु पक्षियो मे आत्मा नही मानते हुये उनका पूरा शोषण करत है, परस्पर एक दूसरे को भाँति भाँति से शोषित, उत्पीडित करते हैं, ऊच-नीच के भाव से ग्रस्त हो एक-दूसरे से घृणा करते हैं एक दूसरे के विरुद्ध षडयन्त्र रचते हैं हीनता तथा उच्चता की ग्रन्थियो का क्लेश भोगते हैं। प्राय मानव अपने को ऊचा बनाने, बनाये रखन हेतु रात दिन आरम्भ-परिग्रह के तनावों मे जीते थके जाते हैं। कमकृत यह बन्धकथा मानव की, ससार मे जीव मात्र की अहर्निश की कथा है। कर्म के उदय से ग्रस्त होकर जीते तो इसका कोई अत नही है। जब मानव अपने ज्ञान नेत्र उघाड आत्म दीप्ति के महान चतन्य लोक मे उपस्थित हो अपने को, अन्य मानवो और इतर प्राणियो को देखता है तो ऊँच नीच के सब भेद दृष्टि से तिरोहित हो जाते हैं। उस चतन्य दीप्ति म नहाया हुआ सारा लोक उसे ही मिन्नजर आता है। जहा पहले उसे कभी वह रोग, दुर्घटना, मृत्यु आदि दस्युओ से ग्रस्त जगल कभी विवशता की जेल कभी पीडा से कराहतो का अस्पताल आदि रूपो मे असुहावना नजर आता था, अब उसे वह ही जगत ज्ञान क्रीडा की, योग-उपयोग के हास्य की सुन्दर रग स्थली दृष्टिगत होता है। वह जान गया है कि रोग, दुघटना, मृत्यु आदि का कर्मोदय से हुआ असुहावनापन स्फटिक के समान स्वच्छ छह द्रव्यो के जगत मे उपाधि से आयी ललाई के समान यदाकदा आता और विदा होता हुआ है, कोई जगत का, जीवो का स्वभावभूत दोष नही है ॥4-5॥

६ आपका तेज विशुद्ध बोध से प्रतिबद्ध, स्वरूप में सुरक्षित तथा सुशोभित है। यह स्वानुभव से स्पष्ट भिन्न रस स्वभाव अच्छी तरह उदीर्ण हो रहा है।

७ हमारे सभी प्रकार के अभाव और भाव आदि विकल्प समूह को अस्त भाव को प्राप्त कराता हुआ सब ओर उछलते हुए ज्ञानामृत के प्रवाह रूप आपका यह स्पष्ट स्वभाव ही उल्लसित हो रहा है।

८ जिनकी अचल अद्वितीय दृष्टि स्वभाव में बद्ध है जो प्रकट प्रकाश रूप है, उर्ध्व गति स्वभाव वाले है, ऐसे आपका सब ओर से श्रेष्ठ ज्ञान से परिपूर्ण प्रकाश समूह सभी ओर सुशोभित हो रहा है।

आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि गुणो का पुंज प्रकट प्रकाश रूप है। उसमें भूख प्यास दुर्बलता आदि किसी प्रकार के अँधेरे नही है। ये अँधेरे अज्ञान जनित हैं। आत्मा के स्वभाव को भूल उससे मुँह मोड़ कर्म-नोकर्म में आपा बुद्धि, ममबुद्धि करने से ये अँधेरे उमड़ने लगते है और मानव अपने को चारों ओर भूख प्यास रोग आदि से घिरा देख चिन्तित भयभीत होता रहता है। जिनेन्द्राभिमुख/आत्माभिमुख होने पर पुण्योदय पापोदय के हर्ष विषाद से भिन्न ज्ञानानन्द का रस मानव के अनुभव मे उमड आता है उसे पोर पोर में गद्‌गद् करता है, उठते बैठते प्रतिक्षण उसे उसका स्वाद आता है। यह अनुभवरस उसका नित्य अपना है, पर विशुद्ध ज्ञान के लोक में जीवे पदार्थ पदार्थ को ज्ञान का राग का नही विषय बनाये तो अनुभव में आता है। इसके अनुभव में आते ही बाह्य मे अभाव और सद्भाव के भेद मिट जाते है और मानव को प्रत्येक प्रसंग और परिस्थिति ज्ञान तेज के रूप मे आनन्दपूर के उमड़ने मे ही आलम्बन बनते हैं; कमठ का उपसर्ग कर्म निर्जरा मे ही सब निमित्त होता है।

ऋषभादि तीर्थंकर कर्म-नोकर्म मे आपाबुद्धि/ममबुद्धि छोड कर त्रिकाल-त्रिलोक की ज्ञाता आत्मा के प्रति अभिमुख होने उसके ज्ञान तेज मे मग्न होने से श्रेष्ठ केवल ज्ञान को प्राप्त हुये थे और उन्हें जगत का त्रिकाल-त्रिलोक का कण कण का वह प्रत्यक्ष स्वरूप बोध हुआ था जो किसी सुर, असुर अथवा मानव को किसी अन्य प्रकार कभी भी होना संभव नही है। उन तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत वह वस्तु स्वरूप आज भी जगत मे अशेष प्रकाशित होकर वर्तन कर रहा है ॥६–८॥

९. आदि मध्य और अन्तरहित चैतन्य की अद्वितीय दीप्ति सहित आपके सब ओर प्रकाशमान रहने पर जिसने समस्त पाप नष्ट कर दिये है ऐसी यह एक अनुभूति ही विस्तार को प्राप्त होती है।

१०. अनुभूति मात्र व्यापक और नित्य पूर्ण आपके तेज के सुशोभित होते हुए सब ओर से उपद्रव रहित मेरा खण्डन करने मे कोई समर्थ नहीं है।

आत्मा अनादि से ही ज्ञानादि गुण वैभव से दीप्तिमान चैतन्य से युक्त है। कर्म-नोकर्म में आपाबुद्धि छोड मानव जब आत्मा के दीप्तिमान चैतन्य तेज का अनुभव करता है, तो उसे लगता है कि उसके पूर्वोपार्जित सब पापकर्म नष्ट हो गये है और उसमे कहीं अभाव, कषाय के संक्लेश दुर्बलता रोग-शोक आदि शेष नही है, कि अन्तर्बाह्य उसके चारो ओर आनन्द, आरोग्य और शान्ति का ही राज्य है। यह सपना कोई भ्रम नही है, यथार्थ है। ज्ञान तेज मे जीने वाले मानव के चारों ओर का वातावरण शुद्ध स्वच्छ, शान्तिमय ही होता है। अज्ञान कषाय रोग आदि तो कर्मोदय जनित आगन्तुक होते है। वे जीव के अस्तित्व को अल्प सा स्पर्श करते है, अतएव वह उनसे सदा मुक्त ही रहता है। चैतन्य तेज तो नित्य उसका है। वह उसके प्रत्येक योग तथा उपयोग के व्यापार मे व्याप्त

होता है, वह उसके लब्धि तथा उपयोग को उनके पूरे अस्तित्व को ही अभिन्न हो नित्य व्यापता है। यह चैतन्य तेज अपने मे पूर्ण है एव नित्य ही मानव की अनुभूति का विषय है। इसके अनुभति लोक मे जीने वाले मानव के भूख प्यास रोग आदि सभी दोष मिट जाते हैं उस पर बाह्य मे कोई आक्रमण होना ही सभव नही होता हिंसक पशु भी उसके सानिध्य मे पालतूवत् हो जाते है। ऐसे चैतन्य तेज के लोक की अनुभति म जीने वाले मानव के ज्ञानादिगुण वभव को कोई कसे क्षति पहुचा सकता है और उसे किसी स क्षति का भय कसे हो सकता है ?

११ चैतन्य रूप तेज के साथ अनादिकाल से मग्न रहने वाले आप चैतन्य रूप तेज के साथ ही उन्मग्न/व्यक्त होते है। स्फुरित होती हुई तीक्ष्ण कान्तिमय बिजली समूह की भाँति आप आत्म तेज को कभी नही छोडते है।

१२ आपका यह चैतन्य शक्ति का विकास रूप हास्य सब ओर सुगन्ध का विस्तार रहा है। किसी धन्य पुरुष्य की दृष्टि ही चैतन्य मकरन्द पान की लुब्धता से इस सुगन्ध को प्राप्त होती है।

१३ जो एक रस स्वभाव वाले हैं स्वानुभाव से यथेच्छ परिपूर्ण है, अखण्ड चैतन्य पिण्ड रूप वभव वाले है ऐसे आप हो नमक की डली की लीला को प्राप्त हो रहे है।

१४ विशुद्ध चैतन्य पूर मे सब ओर से डूबे हुए आप स्व रस से अत्यन्त आर्द्र ही सुशोभित हो रहे है। बर्फ का पिण्ड घन रूपता से युक्त होने पर भी सर्वदा सब ओर से आर्द्र ही सुशोभित होता है।

ज्ञानी परमेष्ठीगण चैतन्य तेज मे अविशिष्ट रूप से निरन्तर मग्न रहते है। उनका हर उपयोग निर्मल चैतन्य तेज को ही अभिव्यक्त करता है। उनका चलना उठना बठना किसी जीव की विराधना/हिंसा नही करता द्वेष तो उनको किसी के प्रति होता ही नही जो उनके सपर्क मे आता है उसे ही वे अपने लगते है, देश जाति सम्प्रदाय और काल की सीमायें उन्हे नही बाधती। जैसे बिजली की हर चमक तेजोमय होती है वसे ही उनका हर चिंतन कथन अनुभूति विषय तीक्ष्ण आनन्दमय होती है। वे अपने हर कार्य से अन्तर्बाह्य चारों ओर आनन्द और शान्ति का विस्तार करते है, अपने गले मे मरा सप डालने वाले श्रेणिक को 'धर्म वृद्धि' कह एव उपसर्ग करने वाले कमठ के प्रति क्षमाशील रह वे उनका हृदय परिवतन करते हैं राग-द्वेष भय-चिन्ता हिंसा-अशान्ति की दुर्गन्ध मिटाते हुए ज्ञान-आनन्द निर्भयता-निश्चिन्तता अहिंसा शान्ति की सुगन्ध का विस्तार करते है। इन महापुरुषो द्वारा विस्तारित इस सुगन्ध को प्राय मानव ग्रहण नही कर पाते और वे जाति सम्प्रदाय के सकीर्ण घरो मे इसे बन्द मान उपेक्षित कर देते हैं। कोई महाभाग ही सब सकीर्णताय छोड जीव मात्र के कल्याण का पथ प्रशस्त करने वाली इनकी वाणी को ग्रहण कर जीवन को धन्य करते हैं।

इन महापुरुषो की विशेषता यह है कि जसे नमक की डली का हर कोना क्षार रस से युक्त होता है, जसे बर्फ चाहे पिण्ड रूप है पर सब ओर से आर्द्र होती है, वसे ही वे महापुरुष हर परिस्थिति

वे हर प्रसंग में आत्म तेज के स्वानुभव से कभी च्युत नहीं होते घेरनी द्वारा देह चीरे जाते और सर पर सिगड़ी बनाये जाते भी परम स्वानुभव से अच्युत रह केवल ज्ञान प्राप्त कर मुक्त परमात्मा हो जाते हैं ॥११ १४॥

१५ आप अपार बोध रूप अमृत के सागर होने पर भी स्वयं ही स्वयं के पार देखने वाले के रूप में सुशोभित हैं अन्यथा आप स्वानुभव से शून्य होते तथा चैतन्य वस्तु की महिमा में इच्छा को नहीं छोड़ते।

१६ जिसमें ज्ञान का सार समग्र रूप से पिण्ड रूप किया गया है ऐसा आपका यह अखंडित स्वानुभव उद्धत ज्ञान की परम्परा को सब ओर से/किसी ओर से भी अन्तर नहीं देता है।

१७ अनन्त स्व महिमा में स्थिर रहने वाले आपके निरन्तर स्पष्ट स्वानुभूति प्रस्फुरित रहती है। विशद लहरों में भरा यह एक शान्त स्वभाव ही सदा उदित रहता है।

जैन दर्शन के अनुसार हम स्व-पर के ज्ञायक एक साथ हैं। अन्य पदार्थों को जानते हुए हमें सदा ही स्वयं की निर्मल अथवा मलिन अनुभूति रहती है। न्याय दर्शन की मान्यता है कि जब हम अन्य पदार्थ को जानते हैं तो स्वयं को नहीं जानते अपने परिचय से रिक्त रहते हैं तथा जब स्वयं को जानते हैं तो अन्य को नहीं जानते। यद्यपि ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता सहज प्रकट है, ज्ञान अन्य पदार्थों को प्रकट करता हुआ ज्ञाता को भी प्रकट कर रहा है तथापि जैनाचार्य इस सत्य के अक्षुण्ण विधान हेतु शुद्ध बुद्ध जिनेन्द्र का स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

जिनेन्द्र परमात्मा लोकालोक के समस्त पदार्थों को एक साथ जानते हैं। यदि जगत के पदार्थों को जानते हुए वे स्वयं के पार न देखें अर्थात् स्वानुभव से रिक्त हों तो उनमें स्वयं के अनुभव की कमी रहेगी। क्योंकि सर्वज्ञता की धारा तो कभी टूटती नहीं है अतः जिनेन्द्र को स्वानुभव की इच्छा बनी रहेगी और वे इसे कभी पूरा नहीं कर सकेंगे। अथवा क्योंकि जिनेन्द्र स्वानुभव की अखंड धारा का निरन्तर पान करते हैं अतः न्याय दर्शन की मान्यता के अनुसार वे अन्य पदार्थों के ज्ञाता नहीं हो सकते। परमात्मा अपने पुण्य वैभव की महिमा के रस में डूबा हुआ न हो तो कैसा परमात्मा तथा इस ही प्रकार वह जगत के पदार्थों का पूर्ण ज्ञाता न हो कैसा परमात्मा ? हमें मानना होगा कि परमात्मा का स्वानुभव शान्त एवं निराकुल रहते समस्त के ज्ञाता रूप है। इस ही प्रकार हम छद्मस्थ जन भी एक साथ स्व-पर के ज्ञाता हैं ॥१५–१७॥

१८ सब क्रिया कारकों से मलिन होती है। निश्चय से उसकी प्रवृत्ति कर्त्ता आदि के बल पर होती है। आप क्रिया चक्र से पराङ्मुख शुद्ध भाव हैं और केवल भा (दीप्ति) रूप से प्रतिभासित होते हैं।

१९. हे ईश ! सुप्रसन्न आप अपने आप में अपने आपके लिये अपने आप से एक अपने आपको स्वयं देख रहे हैं। आप दृष्टि और दृश्य के अभेद रूप से स्थित हैं अतः

आप कारक रूप न हो कर दृष्टि (दर्शन) रूप ही सुशोभित होते है / अवभासित होते है।

जीव चाहे ससारी हो चाहे मुक्त जगत के अन्य पदार्थों की भांति निरन्तर क्रियारत है। क्रिया कारको के मेल पर निर्भर करती है। अत मानव के औदयिक क्रिया व्यापार पराश्रय पूर्वक ही पूरे होत हैं। मानव का भोजन ग्रहण करना उसकी स्वय की योग्यता भोजन सामग्री भोजन बनाने के साधन भोजन रखने के वतन आदि पर निर्भर करता है। इस कारक चक्र मे यदि बाधा होती है तो मानव को भोजन प्राप्त नही हो पाता और वह सक्लेश मे पड जाता है। औदयिक स्तर के क्रिया व्यापार के साथ आवश्यक रूप से कारको का मेल बठाने की भाग दौड छीना झपटी, लडाई झगड जुडे हुए हे इनमे हिंसादि पाप होत ही है। इस प्रकार औदयिक स्तर की मानव की क्रिया स्पष्ट रूप से कारको से मलिन है। क्षायोपशमिक स्तर की मति श्रुत ज्ञानादि की क्रियाओ म इन्द्रियो की सामर्थ्य, प्रकाश गुरू पुस्तक आदि रूप पराश्रय औदयिक स्तर से कम है, तथा जितनी ज्ञान दर्शन वीर्य आदि मानव की शक्तियो मे वृद्धि होती जाती है उतना ही उसका पराश्रय अल्पतर होता जाता है। केवलज्ञानी अर्हन्त परमात्मा के ज्ञान दर्शन के क्रिया व्यापार तो सब अपने से अपने म पूरे हो जात है। (जगत के पदार्थ सहज ही उनके दर्शनाकारो ज्ञानाकारो मे आलम्बन बन जाते है) उनके औदयिक स्तर के खडा होना, बठना, चलना आदि क्रियाओ मे भी गगनविहारी उनको कोई पराश्रय जनित क्लेश नही है। इस प्रकार कारका के अभेद रूप सामर्थ्य के उत्पन्न हो जाने से अर्हन्त मात्र दीप्ति स्वरूप अवभासित होते है। कारक चक्र की मलीनता से यह मुक्ति मानव अर्हन्त परमात्मा बनकर अपने शुद्ध आत्म स्वरूप को व्यक्त कर प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नही ॥१८-१९॥

२० पूर्व और पर रूप से विभक्त पदार्थ एक भी अच्छी तरह अनेकता को प्राप्त होता है। आप नित्य उदित, एकाग्र, एक दृष्टा भाव को प्राप्त है, [अत] आप काल से कलकित वैभव से युक्त प्रतीत नही होते है।

२१ उछलते हुए आदि, मध्य और अन्त के विभाग के विकल्प स्वभाव को खडित कर देते है। अखण्ड दर्शन समूह के एकत्र वभव रूप आप सवरस होते भी एक रूप ही सुशोभित होते है।

जगत के सभी पदार्थ काल मे परिणमन कर रहे हैं। काल उन्हे कही टिकने नही देता, हर आरम्भ का एक दिन अन्त कर देता है, जो आगे है उसे पीछे कर देता है, जो नया है उसे पुराना कर देता है। काल पर किसी का जोर नही चलता। परिणमन तो जगत के अन्य पदार्थों की भांति जीव को/मानव को भी करना ही होगा। प्रश्न इतना ही है कि मानव कसे जराजीर्णता और जन्म मरण के चक्र को प्राप्त न हो। इस हेतु आवश्यक है कि वह अपने स्वरूप को समझ और बाह्य हर सयोग वियोग के बीच वीतराग दृष्टा भाव म जीना सीख। काल मे यह बल नही है कि वह वीतरागी के दृष्टा भाव को खण्डित कर सके और उसे अधोगति दे सके। ऐसे वीतरागी ही लोकालोक को जानते देखत हुए ज्ञान मे उनका वेदन करत हुए अनन्त काल तक निराकुल सिद्ध परमात्मा बन कर विराजते हैं ॥२०-२१॥

२२ जिनके सम्बन्ध में 'भा' (ज्ञान दीप्ति) मात्र का व्यवहार होता है, क्रिया कारक काल देश के भेद जहा अन्तमग्न (अप्रकट) है जो शुद्ध स्वभाव रूप एक जल से उज्ज्वल है, ऐसे आप पूर्ण है तथा निराकुल लक्ष्मी से युक्त हैं।

२३ जो एकाग्र पूर्ण निश्चल भा' मात्र रूप से भेदहीन, अस्खलित, एक वृत्ति रूप से सुशोभित है तथा कैवल्य से पूर्ण है ऐसे आपके न सकरपना है न तुच्छता।

जब मानव रागादि के विकार छोड ज्ञानानन्द रूप शुद्ध स्वभाव के जल मे स्नान कर पवित्र होता है तो जानना देखना ही उसका मुख्य कार्य होता है जिसका कर्त्ता कर्म करण आदि सभी कारक निश्चय मे सहज ही वह स्वय होता है सर्वत्र और सर्वदा वह शुद्ध ज्ञाता दृष्टा भाव से अच्युत एक दीप्ति रूप रहता है। उसमे अज्ञान कषाय दुर्बलता आदि रूप अधूरापन नही होता न ही भूख, प्यास, रोग आदि पाप प्रकृतियो की ही उसके उदीरणा सम्भव है कि उसके आकुलता उत्पन्न हो सके। मानव की यह दीप्ति पुण्योदय की दीप्ति नही है भौतिक वैभव की दीप्ति नही है यह तो पुण्य पाप के सब सकरपने से रहित शुद्ध चैतन्य तेज की दीप्ति है। इस अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख वीर्य आदि गुणो से पूर्ण चैतन्य दीप्ति के धारी का जगत में तुच्छ होकर रहना सम्भव नही है जगज्ज्येष्ठ इन्द्र चक्रवर्ती आदि उसकी पूजा करके कृतकृत्य अनुभव करते हैं ॥२२-२३॥

२४ हे विभो! आप भावरूप होते हुए भावरूप ही प्रतिभासित होते हैं चैतन्य रूप परिणमन करते हुए चिन्मय ही जान पडते हैं। अथवा, आप भाव रूप प्रतिभासित है। अथवा, आप प्रतिभासित नही होते, आप तो मात्र चेतन हैं।

चेतना जीव का सामान्य पक्ष है भाव विशेष रूप है। भाव चेतना मे बदलती हुई ज्ञान, दर्शन आदि गुणो की पर्यायें है। पर्यायो की अपेक्षा जीव को देखते हैं तो चेतना का सामान्य पक्ष गौण रहता है। एक चेतन रूप पर दृष्टिपात करते हैं तो हम घट जाने चाहे पट स्वय को जाने चाहे पर को, हम सदैव स्वय को इन पर्यायो के बीच चेतन अनुभव करते हैं और पर्यायो के भेद गौण रह जाते हैं। 'अनुभव करते हैं' की स्थिति मे कर्त्ता और कर्म का भेद उपस्थित रहता है। इसे गौण करें तो हम अभेद रूप चेतन मात्र रह जाते है। शुद्ध नय इस अभेद स्थिति को मानता है ॥२४॥

२५ हे योगीश्वर! दीप्ति के समूह से अत्यन्त भरे हुए गम्य, शुद्ध, निराकुल भाव की सदा अस्खलित इस भावना के द्वारा मै भाव रूप ही होता हूँ।

एक प्रकट होता है तो दूसरा अन्तगू ढ होता है। सम वोभ सहृत दुखन ममारियो म क्रिया पक्ष प्रकट होता है, भाव पक्ष अन्तगू ढ होता है। सहज भाव पक्ष को उभारने और क्रिया/कारक पक्ष का गौण करते हेतु अहन्त सिद्ध परमात्मा का ध्यान भक्ति तथा तद्रूप एव शुद्ध निराकुल आत्मानुभूति ही एक माग है। जितनी जितनी ज्ञान वीय आदि आत्मगुणो म प्रखरता की वृद्धि होती जाती है भाव पक्ष उतना उतना ही उभरता चलता है तथा क्रिया पक्ष गौण होता जाता है ॥२१॥

(११)

१ हे देव ! सम्यक परिणाम की इच्छा रखने वाले आप आत्मवान द्वारा यह दीर्घ मोह रात्रि क्षय की गई है।

२ अज्ञान तथा अतिराग से जो पूव म विरुद्ध दुखदायी पाप सचित किया गया है वह सुविसुद्ध चतन्य के उदगारो से नष्ट हो जाता है।

अति दीघ अतीत काल से जीव अज्ञान राग-द्वेष मोह और इन से जनित भाँति भाँति के दुख से भरे अँधेरो मे परावतन करता रहा है। इन दुखो से छूटने को अपनी अपनी समझ मुताबिक छोटे बडे जीव निरन्तर यत्न कर ही रहे हैं। मुक्ति और उसके उपाय का सम्यक ज्ञान न होने से जीवो की चेष्टाओ से दुखो के अँधेरे मिट नही पाते वरन् प्राय और बढ जाते हैं। जिन्होने मुक्ति और उसके उपाय का सम्यक रूप जानकर दृढ चेष्टा की वे महापुरुष मोह अँधेरे नष्ट करने मे सफल हो गये मोह को जीत कर जिनेन्द्र हो गये। इन जिनेन्द्रो का ही कथन है कि अज्ञान और अतिराग की दूषित चित्परिणतियो से असद् योग-उपयोग से सचित कम ज्ञान दशन, क्षमा मृदुता ऋजुता उत्साह आदि निमल चित्परिणतियो द्वारा सम्यक चिन्तन-मनन ध्यान आदि द्वारा ही नष्ट किये जा सकते हैं, अन्य कोई उपाय नही है ॥१-२॥

३ यह अत्यन्त तेजयुक्त बोधरूप अग्नि समस्त विश्व को चाहती है। आप मात्रा विशेषज्ञ इसे उचित मात्रा ही देते हैं।

अग्नि जो भी ईंधन मिले भक्षण कर जाती है। मानव की ज्ञानाग्नि भी सभी ज्ञेयो को जान लेना चाहती है। पात्रता से अतिरिक्त ज्ञानलब्धि मानव को उसके दाता आत्मा द्वारा प्राप्त नही होती। मानव का त्रिकाल त्रिलोक का ज्ञाता आत्मा मात्रा विशेषज्ञ है। वह सदव मानव को उचित जितना ही प्रकाश प्रदान करता है। मानव अतीन्द्रिय अवधि मनपयय कवल ज्ञान चाहता है तो सयमी बन सम्यक् तप करे अपनी पात्रता मे वृद्धि करे दाता आत्मा उसे पात्र होने के साथ ही इन ज्ञानो से युक्त कर देगा वीर्यादि अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न कर देगा। इसके विपरीत मानव यदि अपनी पात्रता मे कमी करता है हिंसादि पाप कार्यो मे प्रवृत्ति करता है आत रौद्र विशेष बनता है दाता आत्मा की महिमा छोड अन्यो की महिमा गाने लगता है उनसे राग-द्वेष करने लगता है तो दिये हुए मे भी कमी करने वापिस लौटा लेने मे उसका आत्मा सकोच नही करता ॥३॥

४ नाना विश्वों को अपना ईंधन बनाती हुई आपकी यह बोधरूपी अग्नि स्व धातुओं का पोषण ही करती है, विकार नहीं करती।

५ विश्व को ग्रास रूप में ग्रहण करने से पुष्ट हुए शुद्ध चैतन्य धातु के साथ नित्य रमण करने वाले आपका बल अतुल दिखायी देता है।

जिनेन्द्र द्वारा प्रज्वलित सम्यक ज्ञानाग्नि छहो द्रव्यों को सातो तत्वों को नवों पदार्थों को तथा अन्य भी नाना विषयों कलाओं और विद्याओं को अपना विषय बनाती हुई निरन्तर देदीप्यमान है। जो मानव इस बोधाग्नि से अपने घट-अन्तर को प्रकाशित करते है, इसके प्रकाश मे जीते हैं अर्थात् अपने योग तथा उपयोग के व्यापार का इसके प्रकाश मे विस्तार करते है वे कभी दीनता हीनता और तुच्छताओ को रोग शोक आदि दुर्गतियो को प्राप्त नही होते। इस अग्नि की हर चिनगारी मानव की आत्म शक्तियो को पुष्ट करती है उसे दुर्गतियो से बाहर निकालती है उसके दर्शन-ज्ञान तप की तथा बल वीर्य की अतुल वृद्धि करती है, उसे अन्तर्बाह्य आनन्दमय कर देती है।

यह बोधाग्नि मानव के स्व धातुओं का पोषण कर उसे दु ख-दुर्गतियो से हीनता-दीनताओ के कीचड से बाहर निकाल तेजोमय कर देती है, बलवीर्य की अतुल वृद्धि कर देती है, इसका उदाहरण स्वय जिनेन्द्र है। उन्होने इस ही बोधाग्नि के तेज से अपने समस्त दोषो और दुर्बलताओ को भस्म किया तथा शुद्ध, बुद्ध परमात्मा हो गये। यह कार्य उन्होने किसी भोजन वस्त्र औषध का भक्षण कर, किसी पैसे अथवा पद का अर्जन कर सम्पन्न नही किया। इनसे तो घर बार छोडने के साथ ही उन्होने मु ह मोड लिया था। जिनेन्द्र का सा बलवान इस जगत मे कौन है जो बिना कुछ खाये पीये बिना थके बिना पलक झपके बिना एक क्षण को भी नीद लिये अथवा आसन भी पलटे निरन्तर लोका लोक को ज्ञान मे समेटे हुए, ज्ञान क्रीडा करते हुए आत्मा के अनन्त सुख वैभव के रस भोग मे मग्न है ॥४ ५॥

६ हे देव! जो अनन्त बल से युक्त स्वभाव की भावना करते है तथा जिन्होंने जगत रूपी ग्रास को पचा लिया है, ऐसे आप एक ही दिखायी देते है।

७ जो विश्व को ग्रास बना लेने से आकांक्षा विहीन हो गये है, अक्षय तृप्ति को प्राप्त हो गये हैं, स्वभाव से परिपूर्ण हो गये है, ऐसे आप निरुत्सुक रूप से सुशोभित होते हैं।

८ आपकी परिणति में स्पष्ट प्रकट एक होते भी आप नाना रूप हो रहे अनन्त रूप उपयोग की विभिन्नता धारण करते हैं।

जिनेन्द्र का पथ अनन्त बलवीर्य के जागरण का पथ है। बल हीन मानव के सहस्रो ही दु ख है—वह रोग ग्रस्त होता है, अन्यो द्वारा द्वारा शोषित-उत्पीडित होता है निरन्तर भय-चिन्ता आदि से घिरा रहता है सुबह-शाम का भोजन जुटाने और थक कर सो जाने में ही उसके दिन पूरे

हो जाते है। दुर्बल मानव के दर्शन ज्ञान सुख, क्षमा मृदुता आदि सब ही आत्म गुण तुच्छ, अल्प ही होते है। दुर्बल होने से ही वह जन्म-मरण के चक्र म पडता है।

बल-वीर्य की वृद्धि तो सभी चाहते है पर जिनेन्द्र की बात भिन्न है। उपरोक्त सब दोष दूर करते हुए उन्होंने अपने बल से लोकालोक को त्रिकाल को एक ग्रास बना कर ज्ञान म समा लिया है, अब कुछ जानना बाकी नही रहने से अब विषय की ईहा म निवृत्त हो गये है, अभय रूप से तृप्त हो गये है किसी भी सम्बन्ध मे कोई विस्मय या उत्सुकता शेष नही रही है तथा सब मे परे एक अपनी आत्म-महिमा म सुस्थित हो गये हैं। ऐसा होते भी उन्होंने विश्व पदार्थों का ज्ञान में ग्रहण छोड़ा नही है। उस ज्ञान के द्वार से ही उनके बल-वीर्य की वृद्धि हुई थी और बल-वीर्य की वृद्धि हो पर सम्पूर्ण विश्व को उन्होंने ज्ञान म समेटा था। विश्व को निरन्तर जानना तो उनकी स्वमहिमा का ही अंग है ॥६ ८॥

९ *आपका उपयोग एक ही है। साकार और अनाकार के भेद से ज्ञान तथा दर्शन रूप मे वह द्विरूपता को धारण करता है।*

१० समस्त आवरण के उच्छेद से जो नित्य ही निरवधि रहते है ऐसे निर्मल दर्शन और ज्ञान आप में एक साथ वर्तते है।

११ दर्शन और ज्ञान का सहकारी अत्यन्त शक्ति सम्पन्न निर्विघ्न वह अनन्त वीर्य किंचित भी खण्डन सहन नही करता है।

दर्शनोपयोग अनाकार रूप है। इसमे पदार्थों का अभेद रूप म ग्रहण होता है। ज्ञानोपयोग साकार रूप है। यह पदार्थों को भिन्न भिन्न ग्रहण करता है। इनका सहकारी वीर्य है। जो जितना वीर्यवान है वह उतना ही एकाग्र हो दीर्घ काल तक दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग कर सकता है पर कोई छद्मस्थ दोनो उपयोगो को एक साथ नही कर सकता है। जब ज्ञानो योग की साकरता से अन्तर्मुहूर्त मे ही थकता है तो दर्शनोपयोग की अनाकारता मे वह विश्राम लेता है जब दर्शनोपयोग की अनाकारता से अल्पकाल मे ही ऊबता है तो ज्ञानोपयोग म साकार, सचेष्ट होता है। दोनो उपयोगो को एक साथ निरन्तर वहन करने जितना वीर्य किसी छद्मस्थ मे नही होता। थकने और ऊबने रूप मानव के खण्डन को असम्भव बनाने वाला वीर्य तो अर्हन्त परमात्मा मे ही होता है। वे दोनो उपयोगो का एक साथ निर्वाह करते है। इतना ही नही वीर्य के अनन्त हो जाने से जिनेन्द्र के कोई क्षुधादि परीषह तथा उपसर्गों द्वारा भी खण्डन सम्भव नही है ॥९ ११॥

१२ अखण्ड दर्शन और ज्ञान की सामर्थ्य से जिन्होंने सब को ग्रहण कर लिया है जो सदा निराकुल रूप से स्थित है ऐसे आप एकान्त रूप से सुखी है।

१३ जिनका अनन्तवीर्य निरन्तर व्यापारयुक्त है ऐसे आप सुखी होने से प्रमाद नही करते वरन स्वयं दर्शन-ज्ञान रूप होने से जानते है, देखते है।

१४ आपके दर्शन ज्ञान की नश्वरता किंचित मात्र भी नहीं है। आप वस्तु के दर्शन-ज्ञान की क्रिया मात्र रूप से स्वयं सत है।

जो स्व तथा पर पदार्थों का स्वरूप नहीं जानता वह तो सदव भ्रम में जीता हुआ आकुल ही रहता है। जो मोटे रूप से पदार्थों का स्वरूप तो जान गया है पर उन्हें समग्र रूप से नहीं जान पाता है, वह भी पूर्ण रूप से निराकुल नहीं होता ज्ञान के अल्प होने से उसका राग द्वेष रूप विपरिणमन पुन पुन होता रहता है। सर्वज्ञ ही पूर्ण रूप से निराकुल होते है अत सर्वथा सुखी है।

सर्वथा सुखी अर्हन्त परमात्मा के लोकालोक के पदार्थों को देखने जानने का न तो कोई बाह्य प्रयोजन है न ही कर्मावरण छेदने का आभ्यन्तर प्रयोजन शेष है तथापि जानना देखना स्वभाव होने से दर्शन-ज्ञान मे वे निरन्तर उत्पाद-व्यय कर रहे है, जगत के हर परिणमन को अपने दर्शन ज्ञान का विषय बनाये जा रहे है। जो स्वभाव भूत है उसमें बाह्य प्रयोजन साधने की बात आवश्यक नही है ॥१२-१४॥

१५ कर्त्ता आदि की अपेक्षा स उत्पन्न होने वाली अनित्यता आपके दर्शन-ज्ञान मे नहीं है, क्योंकि आप स्वयं ही छह कारक रूप सदव है।

१६ देखने जानने रूप क्रियाओं को करते हुए आपके इन दर्शन और ज्ञान मे व्यय और जय रूप बाह्य वस्तुओं का सान्निध्य कारण नहीं है।

१७. आपके द्वारा किये जाने वाले दर्शन और ज्ञान, स्वयं दर्शन और ज्ञान रूप होने वाले आपके कर्म कहे गये होने से आपसे कदाचित भिन्न नही है।

मानव चाहे छद्मस्थ हो चाहे सर्वज्ञ निश्चय की अपेक्षा से दर्शन और ज्ञान की क्रिया/व्यापार के कर्त्ता कर्म करण आदि षट कारक वे स्वयं ही है स्वयं दर्शन और ज्ञान रूप परिणमन करते है वे उन दोनो से अभिन्न है। इस प्रकार निश्चय में छद्मस्थ मानव और केवली परमात्मा दोनो की स्थिति एक समान है। व्यवहार मे दोनो में बड़ा अन्तर है। प्रथम मति-श्रुत ज्ञानी है, द्वितीय केवलज्ञानी है। प्रथम इन्द्रियाँ प्रकाश पदार्थ की निकटता आदि के अवलम्बन से जानता देखता है द्वितीय को इनकी कोई आवश्यकता नही है। अत केवली के दर्शन-ज्ञान मे अनित्यता नही है टूट नही है। पदार्थ चाहे निकट हो चाहे दूर, चाहे अभी हो चाहे अतीत मे अथवा भविष्य मे केवलज्ञानी के उनके जानने देखने में कोई बाधा नही है। छद्मस्थ मानव और केवली के व्यवहार स्तर के अन्तर का कारण उनके निश्चय स्तर का अन्तर है। छद्मस्थ मानव अशुद्ध आत्मा है और केवली परमात्मा शुद्धात्मा है ॥१५-१७॥

१८ क्रिया को अवरूपता प्राप्त करा के स्वयं दर्शन और ज्ञान रूप होते हुए आप जिसमें कारण भ लगू व है ऐसे दर्शन-ज्ञान मात्र भाव रूप हुए है।

१६ नित्य दर्शन-ज्ञान रूप होते हुए आपका होना क्रिया है। उस क्रिया के कर्त्तादिरूप से आप स्वय ही उल्लसित होते है।

२० आत्मा कर्त्ता होता है। वह ही दर्शन और ज्ञान रूप होता है, अत कर्म है। [इसी प्रकार] करण आदि रूप भी आप ही है।

२१ आप क्रिया और कारक सामग्री को ग्रास बनाने के आनन्द में निपुण है, आप दर्शन-ज्ञान मय भाव रूप है तथा भावना करने वालो को सुखदायक है।

२२ आप अनाकुल है, स्वय अन्तर्बाह्य अखण्ड ज्योति स्वरूप है वेदन द्वारा स्वसवेद्य है। हमें आप भाव रूप ही प्रतिभासित होते है।

जीव परिणमन स्वभावी है। दर्शन ज्ञान रूप उपयोग जीव का स्वलक्षण है। जीव निरन्तर देखने जानने रूप क्रिया कर रहा है। यह उसका स्वाभाविक क्रिया व्यापार है। ससार दशा मे वह उसे मलिन रूप से करता है और परिणाम स्वरूप वह रचना से बुद्धी खाना पीना कमाना आदि भाति भाति की औदयिक क्रियाये उसे अतिरिक्त करनी होती है। इन औदयिक क्रियाओ को करते हुए उसके दर्शन-ज्ञान की स्वभाव भूत क्रियायें भी असहज ईहापूर्वक होती है। औदयिक क्रियाये तो जीव के लिये प्रकट बन्धन स्वरूप बोझा होती ही हैं दर्शन ज्ञान की स्वभाव भूत क्रियाये भी उसे सब थकान का कारण होती है। औदयिक तो उसे यदाकदा करनी होती है पर उपयोग की देखने जानने रूप क्रिया से तो उसे कभी भी छुटकारा नही है। ऐसे मे निराकुल होने का एक ही उपाय है कि इन क्रियाओ को सहज भाव से वह करे। इस हेतु औदयिक को तो कमकृत स्वीकार कर यथासम्भव यह घटाने अल्प करने की चेष्टा करे गौण करे, तथा दर्शन-ज्ञान की क्षायोपशमिक स्वभाव भूत क्रियाओ का कर्त्ता कर्म करण आदि सब ही ज्योतिमय अपनी आत्मा को स्वीकार करे और इस प्रकार इनका भार आत्मा पर छोडे स्वीकार करे कि सब व्यवहार के भेद रूप षटकारक निश्चय षट्कारको के भाव रूप सहज वर्तन के पृष्ठ भाग मे अन्तर्गूढ है और आत्मा उन्हे ग्रहण कर अपने दर्शन-ज्ञान के क्रिया व्यापार के सहज आनन्द का विस्तार करती है। ज्योति स्वरूप आत्मा को इस प्रकार दर्शन-ज्ञान रूप अनाकुल वर्तन करता निरन्तर सहज स्वसवेद्य स्वीकार करना मानव को सब तनावमुक्त सुखी करता है। जो मानव अपनी आत्मा के वीर्यादि गुणो से युक्त सहज सवज्ञता मे श्रद्धा करता है, पुन पुन उसकी भावना करता है उस पर ज्ञानादि शक्तियो के महान जागरण रूप आत्मा की कृपा बरसती है ॥१८–२२॥

२३ जिस कारण 'वस्तु इसी प्रकार है' इस अवधारणा को आप कहीं भी प्राप्त नही होते, उस कारण आपके तत्त्व की अवधारणा करने वालों को यह ही अवधारणा है।

२४ जो तीक्ष्ण उपयोग की व्यग्रता रहित सुदृढ पकड से दृढतापूर्वक आहृत है ऐसे आप अनन्त शक्तियो द्वारा परिपूर्ण तथा स्पष्ट सुशोभित हो रहे है।

जीव अनेकान्त स्वरूप है, भागाभाग रूप है। यदि उसके भाव पक्ष की सहजता है तो एक भाग क्रिया पक्ष की चेष्टा का भी है। छद्मस्थ दशा मे तो यह भागाभाग प्रकट ही है। भाव पक्ष की सहजता का ही आग्रह लेकर यदि हम बठ जाय तो हम शिथिल चेष्टा विहीन हो जायगे। जीवन मे से दोषो को उखाडने हेतु अन्वेषण, चितन आदि सभी बौद्धिक पक्ष हमारे भीटे हो जायगे। यदि चेष्टा रूप क्रिया पक्ष का हम एकान्त ग्रहण कर लेंगे तो हम बहुत ही तनावग्रस्त नास्तिक हो जायगे। हम किस पक्ष को कितनी दूर तक स्वीकार या कितना वितना उसका मेल बठाय इसके निर्णय का आधार यह ही है कि हमारे योग तथा उपयोग व्यग्रता, तनाव रहित सहज हो साथ ही तीक्ष्ण भी हो। उपयोग की पकड शिथिल न हो सुदृढ हो तो अनन्त शक्ति पुज हमारा आत्मा अवश्य ही अधिक अधिक हमे चारो ओर अपने तेज मे व्याप्त कर देगा। दृढ निमग्न उपयोग का तेज पुज आत्मा से ऐसा ही सकारात्मक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के अक्षुण्ण निर्वाह हेतु केवली परमात्मा का उदाहरण हमारे सामने है। वे निमग्न हो उपयोग की तीक्ष्णता पूर्वक विश्वज्ञता मे/आत्मवेदन मे लीन है और परिणाम स्वरूप अनत आत्म शक्तियो के उल्लास से सुशोभित है ॥२३–२४॥

२५ हे विश्वात्मा ! दीपक की लौ से ग्रस्त वत्ती की भाति आपके भावो की भावना से व्याप्त यह मैं आपमय हो रहा हू इसमें सशय नही है।

जिनेन्द्र लोकालोक व्यापी अनन्त ज्ञानादि गुणों के पुज परमात्मा है। उनके/जिनेन्द्र समान अपनी आत्मा के गुण कीतन भक्ति मे तन्मय हुआ मानव अनायास ही स्वय तेजोमय हुआ जाता है। जैसे दीपक की लौ से जुडी वत्ती प्रज्वलित हो जाती है वसे ही हम जो कुछ भी रुचि पूर्वक भाते है/अनुमोदना करते है उस ही रूप स्वय परिणमन कर जाते है ॥२५॥

(१२)

१ जिन्होंने राग को जीत लिया है जो अनेकान्त से सुशोभित हो रहे है जिनका स्पष्ट आत्म तेज अनन्त चतन्य कला के स्फोट मे स्पृष्ट हो रहा है ऐसे जिनेन्द्र के लिये नमस्कार हो।

मानव ससार में दुःख दुर्गतियों मे उलझा हुआ जी रहा है। जो इन दुःख दुर्गतियो से बाहर निकल गये है उनको भाव पूवक नमस्कार करना उनकी भक्ति करना और इस प्रकार तद्रूप परिणमन करना दुःख दुर्गतियो से बाहर निकल आने का एक सरल मार्ग है। नमस्कार कोई साधारण बात नही है इससे तद्रूप परिणमन होता है। इसलिये अपात्र कुपात्र को नमस्कार करने से हमें बचना होगा अन्यथा हम वाछित फल प्राप्ति के स्थान पर अपनी दुःख दुर्गतियों की जड और गहरी कर लेंगे। जो दुःख दुर्गतियो के बाहर निकल गया है उस महापुरुष ने प्रथम तो आवश्यक रूप से यह जाना कि प्रत्येक वस्तु अपने गुण वैभव से पूर्ण है तथा अन्य के द्रव्य गुण पर्याय से शून्य है अर्थात् अनेकात स्वरूप है, अस्ति-नास्ति स्वरूप है। ऐसा जानकर फिर उस महापुरुष ने पर पदार्थों से राग का सम्पूर्ण त्याग कर दिया तथा वह निरन्तर अपने आत्मा की अनन्त चतन्य ज्योति के विलास मे मग्न हो गया। जो ऐसा हुआ वह अवश्य दुःख-दुर्गतियो से बाहर निकल गया। वह ही जिनेन्द्र है।

और हमारे नमस्कार/भक्ति का पात्र है। उसको नमस्कार करने से हमारा जीवन अवश्य कृतार्थ होगा।

२ यद्यपि आप अनेक रूप है तथापि म आपको एक अनाकुल ज्ञान रूप ही मानता हू। आप सवत्र, सवदा, साक्षात ज्ञानरूप ही भासित हो रहे है।

३ हे ईश! अतएव आकाश और काल, उनम रहने वाले द्रव्य और पर्याय आपके ज्ञान की ज्ञानता को नष्ट करने मे कोई समथ नही है।

४ आप स्वरूप और पररूप की अपेक्षा हो भी रहे हैं नही भी हो रहे है। भाव और अभाव को साक्षात जानने वाले आप सवज्ञ कहे जाते हू।

आत्मा अनेक ही गुणो के वभव से युक्त पदाथ है। इन गुणो मे ज्ञान को प्रधान स्वीकार किया गया है क्योकि स्व-पर पदार्थों के ज्ञान के आलोक म ही मानव के सुख वीर्यादि आत्म गुणो के वेदन/अनुभव के द्वार खुलते है। इस गुण वभव के वेदन सहित ही ज्ञान ज्ञान है और इस निराकुल ज्ञान की आराधना/अभ्यास से मानव सब दोषमुक्त परमात्मा बन जाता है।

ज्ञान स्व तथा पर जगत के सभी पदार्थों को अपना विषय बनाता है। केवल 'स्व' मात्र को अपना विषय बनाना ज्ञान को स्वीकार नही है। उसे जगत मे किसी पदाथ से हानि की सम्भावना भी नही है वह जल मे कमल की भाति उनसे अस्पृष्ट रह उन्हे जानता है। जो पदार्थों को स्पश करने को आतुर होता है वह तो राग है ज्ञान नही है। राग से ज्ञान की हानि हो जाती है इसीलिये मनीषी रागी को अज्ञानी कहते है। राग रहित शुद्ध ज्ञान की हानि कभी किसी पदाथ द्वारा नही होती इसीलिए ज्ञानीजन मुक्त भाव से ज्ञान की स्व रूप होकर पर रूप होकर नाना रूप होकर की जाने वाली क्रीडा मे मग्न होते हू। वे पदार्थों की भाव अभाव रूप प्रकृति को जानते है कि राग करने पर भी एक जीव अन्य जीव अथवा अजीव रूप नही हो जाता वह वह ही रहता है, अन्य अन्य ही रहता है।

ज्ञान नेत्र की भाँति ज्ञेय पदार्थों से सदा अस्पृष्ट रहता है। अत पर पदार्थों को जानते भी, पर रूप होते भी ज्ञाता वस्तुत पर रूप नही होता उनसे मुक्त ही रहता है। इस पर रूप होने और नही होने के रहस्य का भेदन सवज्ञ के अतिरिक्त कौन कर सकता है? छद्मस्थ मानव के लिये यह एक पहेली ही बनी रहती है।

५ 'यह ऐसा है' इस प्रकार सकल पदार्थों को अनन्त रूप से छेदते हुए आप स्वय ज्ञान रूप होकर एक तथा अनन्त रूप से परिणमन कर रहे है।

६ हे प्रभो! आप अनन्त विकल्पो से पुष्ट अखण्ड महिमा सम्पन्न अनाकुल एव शुद्ध ज्ञान के सागर रूप सुशोभित हो रहे है।

ज्ञान की नाना रूप क्रीडा मानव की आत्म शक्तियों के जागरण का उपाय है। ज्ञान की निर्मलता उसकी एक रूपता है और नाना पदार्थों के नाना पक्षों का विश्लेषण कर उन्हे नये नये रूपो मे जानना ज्ञान की नाना रूपता है। ज्ञान की यह एक रूपता तथा नाना रूपता ज्ञाता की भी एक रूपता तथा नाना रूपता है। ज्ञान की इस एकानेक रूपता से ज्ञाता की दु ख-दुर्गतियाँ रोग शोक नष्ट होकर वह निराकुल होता है तथा उसके सुख वीर्यादि गुण पुष्ट होते है उसकी महिमा मे अद्भुत वृद्धि होती है जड चेतन कोई भी अन्य पदार्थ उसका तिरस्कार करने मे समर्थ नही रह जाते और वह ज्ञानानन्द का सागर ही बन जाता है ॥५–६॥

७ क्रम का उल्लघन कर अक्रम रूप से पर और स्व को खीचती हुई भी आपकी यह अनन्त बोध धारा क्रम से खीची जा रही है।

जगत के जड चेतन सभी पदार्थ क्रम से परिणमन कर रहे है जगत का घटना प्रवाह क्रम से चल रहा है। ज्ञान उस प्रवाह के साथ बहे और क्रम से जाने यह आवश्यक नही है। केवलज्ञानी परमात्मा तो तीन काल और तीन लोक को एक साथ जानते ही है। क्षयोपशम विशेष के धारी छद्मस्थ जन भी देश-काल मे दूर के पदार्थों का ज्ञान मे मानों खीच कर निकट वर्तमानवत् जानने मे समर्थ हो जाते है। तथापि ज्ञान की अपनी पर्यायो की गति तो क्रम पूर्वक ही होती है, एक के बाद दूसरी के क्रम का वह अतिक्रमण नही कर सकती ॥७॥

८ आपके सहभावी और क्रमभावी अनन्त भाव सुशोभित हो रहे है, तथापि आप एक ही भाव रूप है अन्य भाव रूप नही है।

९. अनन्त तत्त्व जो हो गया अनन्त जो होगा, अनन्त जो हो रहा है तथा शक्तिशाली स्व को आप अकेले धारण करते है।

वीतरागी अनन्त वीर्यवान अर्हन्त परमात्मा समस्त द्रव्यो को उनकी तीन काल की पर्यायों सहित ज्ञान मे समेटे हुए अपने सुख वैभव मे मग्न रहते है। इस कार्य मे वे द्रव्येन्द्रियां प्रकाश असम्मति आदि किसी की अपेक्षा नही रखते किसी के सहयोग की उन्हे दरकार नही है। इस गुरुतम कार्य को वे अकेले ही निरन्तर सम्पन्न किये जा रहे है। ऐसा करते एक वीतराग, सहज आनन्दमयता से वे कभी च्युत नही होते कभी क्षुब्ध हो विपरिणमन नही करते। दूसरी ओर अल्पज्ञ ससारीजन अन्यो द्वारा सिखाये जाने पर भी थोडे से पदार्थो की स्थूल कुछ पर्यायो का ही जान पाते है। अन्य पदार्थों के अल्प ज्ञान की बात स्वय का भी उन्हे अल्प ही परिचय/अनुभव होता है। आशय यह है कि केवली भगवन्त के वहन से क्षुब्ध नही होते पर छद्मस्थ जन पदार्थों के अल्प ज्ञान के भार को भी शान्ति से वहन नही कर पाते क्षण मे तुष्ट क्षण मे रुष्ट होते है ॥८–९॥

१० यद्यपि आप स्वय को गभीर तल का स्पर्श करते हुए ऊपर उठाते हैं तथापि हमारे लिये आप गभीर एव अतल स्पर्श ही हैं।

लब्धि की गहराईयों के अज्ञात लोकों से बोध मणियां एवं निर्मल आनन्द की धारा उपयोग के स्तर पर उभर कर वेदन/अनुभव के विषय बनते हैं। छद्मस्थ जन स्वयं की ही क्षायोपशमिक लब्धि की गहराईयों को नापने में समर्थ नहीं हैं, परमात्मा की क्षायिक लब्धि की गहराई को नापने का तो प्रश्न ही नहीं उनके उपयोग के स्तर पर उभरे वैभव को भी समझने में वे समर्थ नहीं हैं। सर्वज्ञ परमात्मा तो स्वयं के पार पूरा देखते जानते हैं ही ॥१०॥

११ अनन्त वीर्य के व्यापार से जिनकी धीरदृष्टि उत्कृष्ट रूप से विकसित हो रही है ऐसे आपका अन्तरंग और बहिरंग दृष्टिमात्र होता हुआ सुशोभित हो रहा है।

१२ हे प्रभो! आक्षेप (विधि) और परिहार (निषेध) द्वारा अनन्त बार व्याप्त आप पद पद पर हटने और पुनर्स्थापन को प्राप्त हो रहे हैं।

१३ अपने तत्-अतत रूप स्वभाव को धारण करने वाले आपके द्वारा विरुद्ध धर्मों के महान समूह का अनुभव किया जाता है।

१४ स्वरूप सत्ता के आलम्बन से जिनकी अखिल व्याप्ति खंडित हो गई है ऐसे साधारण धर्म आपमें असाधारणता को प्राप्त होते हैं।

दृष्टि (दर्शन) अनाकार तत्त्व है। अर्हन्त परमात्मा की दृष्टि अनन्त वीर्य की तीक्ष्णता धारण किये अन्तरंग और बहिरंग का अविचलित हो अवलोकन कर रही है। वह परमात्मा में एक पर्याय की विधि और अन्य का निषेध उनका एक पर्याय से हटना अन्य में स्थापित होना देख रही है वह परमात्मा को नित्य परमात्मा देख रही है तो पर्यायों की क्षणिकता वाला क्षणिक परमात्मा भी देख रही है वह अपने प्रदेशों में बद्ध अर्हन्त परमात्मा को जगत के अनन्त पदार्थों के बीच समुद्र की एक बूंद देख रही है तो वह परमात्मा के ज्ञान-दर्शन के समुद्र में सम्पूर्ण जगत को एक बूंद भी देख रही है।

दर्शन गुण सब जीवों का एक साधारण गुण है। जब हमारे में दर्शन गुण कार्य करता है तो भेदों के नानापन की अनुभूति गायब हो जाती है उस काल में भेदों का ग्राहक ज्ञान गुण कार्य नहीं करता। अनन्त वीर्यवान अर्हन्त परमात्मा में दर्शन और ज्ञान दोनों गुणों की सक्रियता को झेलने की सामर्थ्य है, अतः उनकी दृष्टि में भेदों के दर्शन की असाधारणता उत्पन्न हो गई है। अर्हन्त के स्तर पर दर्शन गुण ही नहीं वरन् ज्ञान वीर्य आनन्द, दान, लाभ आदि सभी असाधारण हो जाते हैं और छद्मस्थ उन्हें समझने में असमर्थ रहता है ॥११-१४॥

१५ अनन्त धर्मों के समूह से परिपूर्ण आत्मा के इस एक पद में सब ओर से आप ज्ञान शक्ति के बल से प्रवेश करते हैं।

१६ अन्वय व्यतिरेकों में तथा व्यतिरेक अन्वयों में निमग्न होते हुए आप में निमग्न हो रहे है और आप उनमें निमग्न हो रहे है।

१७ प्रागभाव आदि चार अभाव आप में भावरूपता को प्राप्त होते है और आप भाव रूप होते भी उनमें अभावरूपता को प्राप्त होते है।

१८ अनेक आपको प्राप्त कर एकत्व को प्राप्त होते है और आप एक भी अनेक को प्राप्त कर अनेकता को प्राप्त होते है।

१९ *साक्षात् अनित्य भी आपको प्राप्त कर नित्यता को प्राप्त हो जाता है* और आप नित्य होकर भी अनित्यों का प्राप्त कर अनित्यत्व को ग्रहण करते है।

विश्व का ज्ञाता आत्मा अनन्त धर्मात्मक है। विश्व के पदार्थों को जानने के द्वार से मानव को अपने आत्मा के अनन्त धर्मों से प्रवेश मिलता है, अनुभूति मे आते है। स्व-पर के ज्ञाता आत्मा को ज्ञान के बिना अपने-नाना रूपो का स्पर्श नही प्राप्त होता। यथा (क) सामान्य विशेष रूप जगत के पदार्थ आत्मा के ज्ञेय बनते है और आत्मा उनका ज्ञाता। यह सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट है। जगत के पदार्थ ज्ञान मे *निमग्न न हो तो वे प्रमेय नही पदार्थ नही तथा यदि ज्ञान निमग्न न करे तो वह ज्ञान* नहीं और आत्मा ज्ञाता नही। ज्ञान के द्वार से आत्मा के इस विश्व रूप मे मानव को प्रवेश मिलता है।

(ख) आत्मा भावाभावात्मक है। अपने भाव पक्ष के बल से वह जगत के अभावो को दूर कर देता है और जगत के अभावो के आलम्बन से अपनी अभावरूपता का स्पर्श करता है। ज्ञान का सचार/गति काल की सीमा को स्वीकार नही करता। वह अतीत को प्रत्यक्षवत् देखकर अथवा स्मरण कर प्रध्वंसाभाव को दूर कर देता है और भविष्य में झाँक कर प्रागभाव को दूर कर देता है। एक मे दूसरे की स्थापना के बल से वह अत्यन्ताभाव को दूर कर देता है तथा एक गुण को जानकर पदार्थ के अन्य गुणो को जान लेने से अन्योन्याभाव को दूर कर देता है। जब ऐसा न कर काल की सीमाओ में वर्तन करता है तो पदार्थ के प्रध्वंस के साथ उनकी अनुभूति के अभाव को प्राप्त होता है पदार्थ के प्रागभाव के साथ स्वयं भी उस अनुभूति के *प्रागभाव को प्राप्त होता है। जब स्थापना नही* करता तो ज्ञाता एक के ज्ञान मे अन्य के अनुभव के अभाव को प्राप्त होता है। उसका रूप को जानना रस के स्वाद मे रिक्त रहता है, इस प्रकार रूप रस आदि के अन्योन्याभाव से इसके ज्ञान मे भी अन्योन्याभाव उत्पन्न होता है। इस भाँति आत्मा अपनी ज्ञान शक्ति के बल से जगत के अभावो का वेदन करता है, तथा जब सब ओर से ज्ञान मुँह मोड़ लेता है तो शुद्ध शून्य का अनुभव करता है।

(ग) आत्मा एकानेक रूप है। ज्ञान ही आत्मा के एक रूप तथा अनेक रूप का वेदन कराता है। सब कुछ को जानता हुआ आत्मा मात्र ज्ञान का अनुभव करता है तो सब कुछ ज्ञान मय एक रूप हो जाता है नानापन गौण हो जाता है। जगत के अनेक पदार्थों को ज्ञेय बना कर ज्ञान आत्मा को अनेक रूपता देता ही है।

(घ) आत्मा नित्यानित्यात्मक है। ज्ञान उसके इस स्वरूप का वेदन कराता है। आत्मा अविनाशी नित्य द्रव्य है। उसके ज्ञान स्वभाव मे त्रिकाल तथा त्रिलोक नित्य अवस्थित है। इस प्रकार आत्मा की नित्यता परिवर्तनशील जगत के अनित्य रूपों को शाश्वतता प्रदान कर देती है (छद्मस्थ के स्तर पर स्मृति अनित्य घटनाओं को कुछ कुछ नित्यता प्रदान कर देती है) तथा अनित्य पदार्थों को जानता हुआ ज्ञान आत्मा को अनित्यता का अनुभव कराता है।

सक्षेप मे स्व पर प्रकाशक ज्ञान के द्वारा आत्मा की अनन्त धर्मात्मकता मे मानव को प्रवेश मिलता है। जब मानव चारो ओर अभावो से ग्रस्त होता है तो ज्ञान ही स्व-पर की भावमयता का पक्ष उजागर करता है जब चारो ओर पर्यायो की अनित्यता देख मानव नाश को प्राप्त होने लगता है तो ज्ञान ही द्रव्य की नित्यता का दर्शन करा उसे थामता है जब द्रव्यो तथा पर्यायो की अनेकता से त्रस्त हो मानव खण्ड खण्ड हुआ जाता है तो ज्ञान ही उसे अन्तर्बाह्य की एकता, अखण्डता के वेदन का अमृत पिलाता है। इस प्रकार ज्ञान भिन्न भिन्न परस्पर विपरीत अनुभूतियो के सुमेल से मानव को पुष्टि तुष्टि प्रदान करता है ॥१५–१६॥

२० जो आप अस्त को प्राप्त होते है वह ही स्वय उदय को प्राप्त होते हैं, तथा जो आप अस्तउदय को प्राप्त होते है वह ही ध्रुवता को धारण करते हैं।

२१ हे भगवान ! आप भाव को अभावता प्राप्त कराते है और अभाव को भावता प्राप्त करते है। उन दोनो को इस प्रकार परिवर्तन कराते हुए आप भावरूप ही सुशोभित होते हैं।

२२ आप पूर्ण कारण है तथा पूर्ण कार्य है। आप एक होते भी अनादि अनन्त है तथा जैसे पहले थे वैसे ही आगे हैं।

२३ आप न कार्य रूप प्रतिभासित होते हैं, न कारण रूप ही। आप तो एक चैतन्य रस से भरे हुए अखण्ड पिण्ड स्वरूप है।

२४ आप भरे हुए भी रिक्तता को प्राप्त होते हैं रिक्त होकर भी परिपूर्णता को प्राप्त होते है पूर्ण होकर भी कुछ रिक्त होते है और कुछ रिक्त होकर भी वृद्धि को प्राप्त होते है।

आत्मा एक परिणमनशील पदार्थ है। वह एक पर्याय छोड अन्य पर्याय धारण करता है। पर्याय दो प्रकार की है (१) अर्थ पर्याय (२) व्यजन पर्याय। गुणो की अवस्था अर्थ पर्याय है तथा ससार दशा मे मानव पशु आदि रूप विजातीय पर्यायें तथा सिद्ध अवस्था मे अरूपी स्वभाव पर्याय व्यजन पर्याय है। व्यजन पर्यायें ससार दशा मे जन्म के साथ उदित होती है और आयु की समाप्ति पर अस्त हो जाती है तथा नई आयु के उदय के साथ नई पर्याय उदित होती हैं। अर्हन्त परमात्मा की आयु समाप्त होने पर वे अरूपी सिद्ध परमात्मा बन जाते है और लोकाग्र मे अनन्त काल तक उस ही रूप मे वहाँ विराजते हैं।

संसारी और सिद्ध दोनों की अर्थ पर्यायें स्व तथा पर प्रत्यय से उत्पन्न तथा व्यय हो रही हैं भाव अभाव रूप हो रही हैं। सिद्धों की अर्थ पर्याय शुद्ध है, संसारी प्राणियों की शुद्ध-अशुद्ध है।

व्यंजन पर्यायों के उदय तथा अस्त के साथ आत्मा उदय तथा अस्त को प्राप्त नहीं होती। वह ध्रुव तत्त्व है और एक पर्याय को छोड़कर अन्य को ग्रहण कर लेता है। ऐसे ही अर्थ पर्यायों के भाव तथा अभाव के साथ वह भाव तथा अभाव रूप ही नहीं हो जाता है। वह तो सदा भाव रूप ही रहता है मात्र एक अर्थ पर्याय को छोड़कर अन्य को धारण करता है। इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व कभी लुप्त नहीं होता उसके स्वरूप में कभी टूट नहीं आती।

जीव की इन अर्थ और व्यंजन पर्यायों के परिवर्तन चक्र का कारण जीव के सिवा अन्य कोई नहीं है। वह स्वयं ही इनका पूर्ण कारण है एवं पूर्ण कार्य है। संसार दशा में जीव कर्मनोकर्म लपेटे विकारी अज्ञानी अल्प शक्तियुक्त पर्याय/कार्य रूप वर्तन कर पाता है। इस संसार दशा में वह बहुत पराश्रय रूप कारण होता है और इसलिए बहुत खतरों से घिरा कार्य बन पाता है। अर्हन्त महापुरुषों ने पराश्रय छोड़ आत्मा को ही पूर्ण कारण और पूर्ण कार्य रूप स्वीकार किया है जो घातिया कर्म नष्ट होकर पूर्ण कारण और पूर्ण कार्य रूप से वे वर्तन कर रहे हैं। अब उन्हें जगत को जानने देखने के व्यापार में किसी प्रकाश पुस्तक गुरु की आवश्यकता नहीं है तथा देह को कोई कवलाहार का पराश्रय नहीं है। परीषह उपसर्ग आदि सबसे रहित निर्दोष पूर्ण कार्य रूप में वर्तन कर रहे हैं। आयु कर्म के साथ सब अघातिया कर्म क्लेश का छूट जाना उनके पूर्ण कारण रूपता को सिद्ध करता है और वे अरूपी सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं। ऐसे पूर्ण कारण और पूर्ण कार्य सिद्ध परमात्मा समान आत्मा अनादि से अकारण है। जीव उसके इस पूर्ण रूप को नहीं समझ कर अधूरा कारण और कार्य बना जीता है। जब सिद्ध समान कारण-कार्य उभय रूप अपनी अद्वितीयता को जानकर जीव उस रूप जीता है तो उसका मूल रूप व्यक्त हो जाता है। यह शुद्ध मूल रूप उसका अनादि से ही था कोई नया नहीं बना है।

जीव एक चेतन पदार्थ है। उसकी चेतना की निर्मल अथवा मलिन परिणतियों से कारण कार्य चक्र स्व-पर प्रत्यय पूर्वक स्वतः घूम जाता है। राग-द्वेष चिन्ता भय आदि अज्ञानपूर्ण परिणतियों से स्वतः ही दुःख-अनुभूतियाँ मानव के अन्तर्बाह्य में उत्पन्न हो जाती हैं तथा जब स्व-पर सब ही जीवों के कल्याण की भावना से वह युक्त होता है जगत व्यापी ज्ञान-दर्शन के तेज से युक्त होता है तब अन्तर्बाह्य चारों ओर आनन्द के फूल खिल जाते हैं। चेतना की निर्मलताओं से बड़ा जगत में कुछ भी नहीं है तथा चेतना की मलिनताओं से खराब भी कुछ नहीं है। जो जन चेतना की महान निर्मलताओं को प्राप्त हो जाते हैं वे परिणमन की उस सहज अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जहाँ उन्हें कारक सामग्री को मिला कर कुछ सिद्ध नहीं करना है सब स्वतः घटित होना चलता है। चेतना के अज्ञान कषाय दीर्घसूत्रता आदि से मलिन रहते तो जीव रात दिन भाग दौड़ करते भी अपने कार्य सिद्ध नहीं कर पाता।

जीव चाहे संसारी हो चाहे सिद्ध वह कूटस्थ होकर स्थित नहीं हो सकता। ज्वार भाटे की तरह एक पर्याय से वह पूरित होता है तो तुरन्त ही वह उससे रिक्त हो जाता है और तब दूसरा

पर्याय प्रवाह उमडता है। इस प्रकार जीव मे पूर्णता और रिक्तता का भ्रम चलता रहता है। पर्यायो का यह ऐसा प्रवाह है कि जब हम कहें कि यह पर्याय विशेष रूप से पूर्ण है तब ही रिक्तता का दौर भी आरम्भ हो चुका है तथा जब कहें कि यह पर्याय विशेष मे रिक्त हो रही है तो रिक्त होने के पूर्व ही पूरित होने का नया दौर आरम्भ हो चुका होता है। इस प्रकार ससारी तथा सिद्ध सभी जीव सभी जड-चेतन द्रव्य पर्यायो की अद्भुत ही क्रीडा स्थली बन हुए हैं ।।२०-२४।।

२५ विज्ञानघन से विन्यस्त/सज्जित आपमे नित्य प्रयत्नशील मुझमे ये आर्द्र आर्द्र (रसपूर्ण/नवीन) अनुभूतियाँ निरन्तर है।

आत्मा अनन्त चतुष्टय सम्पन्न केवलज्ञानमयी महा पदार्थ है। हम उसे नित्य नये नये रूपो मे अनुभव लेने का प्रयत्न करें और महान आनन्द रस मे मज्जन करें इसके सिवा मानव जीवन की कोई सार्थकता नही है। जो जन नवीन नवीन अनुभूतियो से कतरा कर कुछ रूढ मार्ग चिन्तन से ही आत्म-स्पर्श करना चाहते है वे अनेक विध अनुभूति रस से वंचित होकर रह जाते है ।।२५।।

(१३)

१ जिसके सहज और स्वच्छ चैतन्य में समस्त पदार्थो का समूह प्रतिभासित हो रहा है, जो स्व और पर के प्रकाश समूह की भावना मे तन्मय है तथा जो अकृत्रिम है ऐसा आपका यह कोई [ज्ञान] शरीर सुशोभित हो रहा है।

२ हे जिनेन्द्र! प्रारम्भ और अन्त से रहित क्रम से होने वाले भाव (पर्याय) समूह की माला रूप से विस्तार को प्राप्त हो रहा आपका यह नित्य अचल और सब ओर छलकता हुआ चैतन्य का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है।

३ हे देव! यह चैतन्य चमत्कार ही इससे भिन्नाभिन्न सुख, वीर्य, वैभव आदि आत्म शक्तियो के एक साथ वेदन होने से आपके साथ-साथ रहने वाले अनन्त आत्म धर्मो के समूह को प्रकट करता है।

४ यह आप अनन्त धर्मो के समूह से युक्त होते हुए भी एक उपयोग रूप लक्षण के द्वारा सुशोभित हो रहे हैं। इसका यह अर्थ नही है कि आप उपयोग मात्र ही है क्योंकि निराश्रय गुणो की प्रसिद्धि नही है।

आत्मा एक ओर जहा असख्यात प्रदेशो की काय धारण करता है वहां दूसरी ओर वह निरन्तर स्व पर प्रकाशी चेतन होने से चेतना लोक मे नित्य निवास करने से चेतना रूप काय का भी धारी है।

यह चेतना अकारण/अकृत्रिम है। इसकी कभी उत्पत्ति नही हुई न विनष्ट होगी। इस अर्थ मे यह अचल अविनाशी है। ससारी जीव अज्ञान जनित राग-द्वेष, चिन्ता भय आदि भावो से

मलिन कर इसकी स्व-पर प्रकाशकता को मद तथा विकृत किये हुए है। परिणामत न यह आत्मा का पूरा प्रकाशन कर पाती है न जगत का। राग-द्वेष, चिन्ता भय आदि अज्ञानजनित विकारो का जब मानव क्षय कर देता है तो चेतना निर्मल होकर समस्त स्व (आत्मा) तथा पर (जगत) को प्रकाशित कर देती है।

चेतना दर्शन-ज्ञान के प्रकाश रूप है। यह आत्मा की सुख, वीर्य आदि समस्त शक्तियों को प्रकाशित करती उनके साथ तन्मय है। दर्शन ज्ञान गुण उपयोग रूप से काय करते है। यह उपयोग जीव का स्व लक्षण है। उसका अपने से अपनी सब शक्तियों से परिचय, अनुभव का यह उपयोग ही द्वार है। यदि इस द्वार से मानव अपनी आत्म शक्तियो को अनुभव मे न ला सके, उनमे प्रवेश न कर सके तो उपयोग द्वार नकारा अशुद्ध मला है। जो अपने को उपयोग जितना ही मानने का भ्रम पालते है और आगम अनुभव और युक्ति के प्रकाश मे अपनी अकारण अनन्त आत्मशक्तियो को स्वीकार नही कर पाते वे ही ससारी तुच्छ होने का त्रास सहते है। जो समझ लेते है कि उपयोग की ऊष्मा बता रही है कि पृष्ठ भूमि मे सुख, वीर्यादि अनन्त आत्म गुणो के अगारे धधक रहे है, वे जन अपनी आत्मशक्तियो के पुष्कल अनुभव से कृतकृत्य हो जाते है ॥१–४॥

५ जडता का अभाव चेतना कहा जाता है। स्वय चेतना 'पर' से जडता प्राप्त नहीं करती। 'पर' पदाथ वस्तु की शक्ति हरण करने मे समर्थ नही है। अत आपका स्व पर प्रकाशन अबाधित है।

६ इस प्रकार आप सामर्थ्यवान प्रबुद्ध ज्ञाता के रहते हुए स्व-पर का जानना अबाधित है। जो पर को नहीं जानता वह जड से पृथक नही होता। पर का जानना जड रूप होने का अग्र कारण नहीं है।

७ जड का जानना जड से उत्पन्न नहीं होता यदि वह चेतन से भी उत्पन्न नही होता है तो जड का ज्ञान ध्रुव रूप से अस्त को प्राप्त हो जाता है। जड का ज्ञान समाप्त होने पर फिर ज्ञान ही कहा है ?

८ पर के ज्ञान के अभाव में सदा अपने द्वारा अपने मे अपना ज्ञान सिद्ध नही होता है। पर को न जानने वाला अधबुद्धि पर की आकृति के बिना स्व की अनुभूति कसे कर सकता है ?

९. हे जिनेन्द्र! पर के ज्ञान के बिना कभी भी निज का ज्ञान मानव को नही होता है। चेतन की उपासना मे मोहित अज्ञानी पर को जानने की शक्ति से रहित हुआ नेत्र बन्द किये हुए हाथी के समान पतित होता है।

१० हे देव! यदि सब ओर पर पदार्थो के ज्ञान के अस्त होने से सकोच को

प्राप्त हुआ कोई गुण अवभासित होता है तो वह दर्शन ही है। वह ही "मात्र पर के ज्ञान के अभ्युदय से अत्यन्त दूर निश्चय से रहता है।

११ मुक्त आत्मा के सहकारी कारणों के अभाव होने से पर का ज्ञान किसी भी तरह दूर नही किया जा सकता। निज और पर का जानना ज्ञान का स्वभाव ही है। यदि वह अभी स्थगित होता है तो वह इन्द्रियों की अपेक्षा रखता है।

ज्ञान भेद का आलम्बन लेकर स्व तथा पर पदार्थों का प्रकाशन करता है। दर्शन मे स्व तथा पर का भेद नही है। वह अभेद मूलक है।

स्व-पर के ज्ञायक केवली परमात्मा स्वय के पूर्ण ज्ञान के साथ निरन्तर लोकालोक के भी पूर्ण ज्ञाता है। इससे प्रकट है कि परस्पर विरुद्ध पदार्थों को जानना ज्ञान का स्वभाव है और वह किसी भी प्रकार आत्मा के लिये अहितकर नही है। ज्ञान स्व को जानेगा तो पर को भी जानेगा पर के साथ स्व को भी जानेगा। भेद के आधार पर उसका व्यापार चलता है। यदि उसका पर का जानना हम व्यर्थ या हानिकारक कह।कमजोर करते हैं तो उसका स्व बोध भी दुर्बल ओैटा हो जायेगा और तब हमारी दशा आख मीचे हाथी की सी हो जायेगी और हम अज्ञान के अन्ध कूपो मे अवश हो गिर जायेगे। पर पदार्थों के ज्ञान रूप आत्मा की सम्पत्ति से आत्मा की हानि कसे हो सकती है? हाँ ज्ञान के नाम पर हम पर पदार्थों के राग मे पड जाते हैं तो हानि अवश्यभावी है। राग अज्ञान मूलक है, ज्ञानमूलक नही है।

पर पदार्थों का ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। केवली को वह निरन्तर हो रहा है। हमारा ज्ञान इन्द्रियो और मन के अवलम्बन से व्यापार करता है। अत हम ज्ञान को किन्ही पदार्थों को जानने से रोक सकते हैं। पर इससे पर पदार्थ मात्र के ज्ञान को हानिकारक अथवा व्यर्थ मानने का कोई कारण नही है, क्योकि हम सब पदार्थों से मु ह मोड सदा 'अपने से अपने मे अपना ज्ञान नही कर सकते। पर पदार्थों का प्रकाशित करने का ज्ञान का स्वभाव पुन पुन कार्य करेगा ही और हम कब तक अपने ही स्वभाव से लडते रहगे कब तक स्व तथा पर दो पखो से उडने वाले ज्ञान के पक्षी को एक ही पख फडफडाने की जिद लेकर हम उसका उडना बन्द कर उसे कमजोर करते रहेगे? हम क्यो भूल जाते है कि आत्मा की प्रमुख शक्ति ज्ञान को इस प्रकार कमजोर करके हम आत्मा की सब शक्तियो को कमजोर कर देंगे और तब राग द्वेष चिन्ता भय सुस्तता दीनता आदि दुष्टताओ का हम अपनी आत्मा को निर्बाध क्रीडा स्थल बना देंगे। और यह सब हम उसी चेतना की उपासना मे मोहित होकर करेंगे जो स्व के साथ समान रूप से पर को भी प्रकाशित करती है अथवा पर के प्रकाशन के करते हुए स्व के प्रकाशन करने के स्वभाव वाली है। हर पथ के साथ विपथ के खतरे तो होते ही हैं जिनसे बचत हुए हमे चलना होता है। यदि पर पदार्थ के ज्ञान करते हुए हमे राग मे पड जाने का भय है तो पर पदार्थों के ज्ञान की शक्ति से रिक्त हो स्व' की बात करना तो अवस्तुभूत शून ही हमे कर देगा।

ज्ञान का विषय 'स्व' पदार्थ तो हमारी चेतन आत्मा है और 'पर' जगत के जड़ तथा चेतन पदार्थ है। जगत के ससारी तथा मुक्त चेतन पदार्थों को हमारे सक्षम होने से ज्ञान का विषय बनाना प्रकारान्तर से हमारा अपने को ही विषय बनाना है। अत: ज्ञान के इस व्यापार से तो हमारा अपने से ही परिचय प्रगाढ़ होगा और हानि की शका निर्मूल है। पर, जड़ पदार्थों को चेतना से विपरीत स्वभाव वाला होने से व्यर्थ अथवा हानिकारक हम मान और ज्ञान का विषय न बनावे या बावे मन से बनाए तो हम अपने मे अज्ञान की ही वृद्धि करेगे और ज्ञान स्वभाव का ह्रास करेगे।

धर्म अधर्म, आकाश काल और पुद्गल—इन पाँच पदार्थों के जीव पर भारी उपकार है। इनके बिना ससार दशा में तो उसका अस्तित्व सभव ही नहीं सिद्ध परमात्मा भी इनसे उपकृत है। जड को समझ न पायें तो ससारी प्रकट भी ही नही सकता मोक्ष तक की राह पार करने की बात तो दूर रही। जड पदार्थ के ज्ञान का यह मात्र औदयिक मूल्य ही नही है, पारमार्थिक रूप से भी जड पदार्थ का ज्ञान जीव का स्वभाव का अग होने से जीव की तेजस्विता मे वृद्धि करने वाला ही है। जीव का अरूपी होने से धम आदि चार अरूपी पदार्थों के साथ तथा सत् होने से रूपी पुद्गल के साथ भारी साम्य है पर उनका चाहना भी उसका अपना चाहना बन जाता है उसे अपने अरूपी और सत् स्वभाव का गहरा स्पश करता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण ही जड-चेतन रूप जगत 'पर' कह कर ज्ञान मे उपेक्षित करने की वस्तु नही है। वस्तुत: यह तो हमारी आत्मा की किताब के क्रमश: खुलते जा रहे पृष्ठ है। जो जगत के पदार्थों को उनके स्वरूप को गहराई से नही समझते उन्होंने आत्मा की किताब कभी खोली ही नही आत्मा की किताब बन्द रख कर उसके प्रति 'आत्मा की बात' की धूप अगरबत्ती आदि से मात्र औपचारिकता का निर्वाह कर रहे है। जो जगत को पढने मे लगे है पर दृष्टि मे इसे आत्मा की किताब का पृष्ठ नही स्वीकार कर रहे है, उन्हे भी आत्म लाभ सम्भव नही है। स्व की समझ के लिए ही तो पर की समझ के लाभ है। जो शुद्ध आत्मा के स्पर्श को लक्ष्य बना कर जीते है ज्ञान की क्रीड़ा स्थली बनता हुआ जड-चेतन रूप सम्पूर्ण जगत उनको उस ही शुद्ध आत्मा के स्पश का द्वार बन जाता है, वे स्रोतो मे शास्त्र और पत्थरो मे उपदेश (books in the brooks and sermons in the stones) प्राप्त करते है सब कुछ उनके आत्म स्पश मे आलम्बन बन जाता है बाह्य से प्राप्त हर अवकाश उन्हे अपना वीतराग आनन्द रस पीने हेतु पात्र बन जाता है। रागी जन उन्ही मे राग का विष पीते है। बाह्य जगत तो पक्षी का कलरव है, कोई उनमे 'राम का नाम' सुनता है तो कोई उसमें 'मरा' शब्द सुनता है। यह अपनी अपनी उपादान की पात्रता है ॥५ ११॥

१२ पर के अवमश के रसिक होते हुए आप अभ्युदय को प्राप्त नही हो रहे है, पर का आश्रय लेते हुए आप अपनी ही कलाओ को प्राप्त होते है/भोगते है। यह ही वास्तविक स्थिति है। आत्मघाती पशु पर स्पश करते है।

१३ हे वीर। रागी विषय का स्पश करता है, वीतरागी विषयी को देखता है। दोनों का सदा एक साथ होने वाले वेदन में किसी के उपद्रव होता है किसी के उपद्रव का अभाव है।

ज्ञान के प्रत्येक व्यापार में विषयी (ज्ञाता/आत्मा) और विषय (ज्ञेय पदार्थ) दोनो का एक साथ वेदन होता है। इन दोनो के वेदन के बीच हम किसी एक को साध्य रूप मे अन्य को साधन रूप मे ग्रहण करते है। इन और ऐसे ही अन्य सम्बन्धो का अनुभव करते हुए यदि अपनी आत्म महिमा विस्मृत कर हम राग-द्वेष का, पदार्थों के परीग्रह से छोटे बड़े होने का और अन्य कषाय भावो का वेदन करते हैं तो हम विषयी का स्पर्श न कर विषयो का स्पर्श करते है और भाति भाँति से उपद्रव ग्रस्त होते है। तथा यदि हम मे कषाय भाव उपशमित हो आत्म गुणो की उद्भावना होती है तो हमे विषय का नही विषयी का स्पर्श होता है और विषय उसमे आलम्बन होते है। ऐसी अवस्था मे स्व-पर के ज्ञान का हमारा सम्पूर्ण व्यापार हमारे लिये मोक्ष कारक/मोक्ष स्वरूप होता है ॥१२-१३॥

१४ हे देव ! यदि लोक स्वय ही प्रकाशित होता है तो हो, इसमे सूर्य की क्या हानि है ? सहज प्रकाश समूह से परिपूर्ण सूर्य तो लोक को प्रकाशित करने की इच्छा से प्रकाशित नही होता है।

१५ हे देव ! यदि लोक स्वय ही प्रमेयता को प्राप्त होता है तो हो, इसमे पुरुष की क्या हानि है ? सहज ज्ञान से परिपूर्ण पुरुष तो लोक को जानने की इच्छा से प्रकाशित नही होता है।

१६ यदि उदित होता हुआ सूर्य जगत को प्रकाशित करने की बुद्धि बिना ही जगत को प्रकाशित करता है तो तीव्र मोह से ग्रस्त हृदय वाला अज्ञानी प्राणी पर पदार्थ को प्रकाशित करने के व्यसन (कष्ट) को क्यो प्राप्त हो रहा है ?

१७ जिनकी दीप्ति का समूह बाहर तथा भीतर अप्रतिहत है, निज और पर को प्रकाशित करने का जिनका गुण है ऐसे आप स्वभाव से एक चैतन्य मे नियत है, किन्तु पर पदार्थो को प्रकाशित करने के सन्मुख अन्य जन भ्रम को प्राप्त होते है।

जगत का ज्ञाता पुरुष सूर्य के समान स्व-पर प्रकाशन करता है। दोनो का यह स्वभाव है, तथा जगत के पदार्थों का सूर्य द्वारा प्रकाशित होना और ज्ञाता पुरुष का प्रमेय बनना स्वभाव है। प्रकाशक प्रकाश्य के सम्बन्ध बहुत सहज है। सूर्य को तथा ज्ञाता को पदार्थों का प्रकाशित करने का बोझा ढोने की कोई आवश्यकता नही है। (वे यदि न भी प्रकाशित हो तो सूर्य का और ज्ञाता का क्या बिगड़ने वाला है, तथा उनके प्रकाशित होने से अज्ञानी ही अपने को गौरवान्वित समझता है ज्ञानी को स्व प्रकाशन की ही महिमा होती है।) यदि प्रकाशक प्रकाश्य सम्बन्ध सहज स्वभावभूत न हो तो कोई सूर्य पदार्थो को प्रकाशित नही कर सकता और ज्ञाता जान नही सकता। ऐसी स्थिति मे सूर्य के अपने प्रकाश स्वभाव से नियत रहने की भाति ज्ञाता भी अपने चैतन्य स्वभाव मे नियत रहता शोभा पाता है। उस स्थिति से उतर कर पदार्थों को प्रकाशित करने के भाव को ढोने का भार वहन तो संक्लेष है और कर्म बन्ध का कारण है। अज्ञानी जन अपनी सामर्थ्य से अपरिचित होने से व्यर्थ ही असहज हो भ्रम मे पड़ते है।

मिथ्यात्व कर्म की विचित्र ही सामर्थ्य है कि कोई सहज हो रही पर प्रकाशन की क्रीडा को भी बुद्धि का व्यभिचार मान उसका निषेध करने लगते हैं, तो कोई दूसरी भ्रांति की ओर बढ जाते है और असहज/बनावपूर्ण हो पर प्रकाशन का क्लेश भोगते है ॥१४-१७॥

१८ जो वस्तु आपके लिये अत्यन्त स्पष्ट हो रही है वह भी कारकों के समूह को अपने अनुरूप करती है। क्योंकि इस लोक में निश्चय और व्यवहार की सहति (समुदाय) रूप जगत की स्थिति किसी भी तरह हानि को प्राप्त नहीं होती है।

१९ इस लोक मे परिणमनशील आपकी शुद्ध चेतना सदा सहज रूप से स्फुरित हो रही है तथा उसकी विभक्ति (नानाकारता) पर से उत्पन्न है। मोह की कलुषता से रहित आपके बाहर रहने वाले वे पर पदार्थ विभक्ति (राग-द्वेष आदि) के कारण नही है।

निश्चय नय के अनुसार प्रत्येक पदाथ अपना कर्त्ता कर्म, करण आदि षट कारक स्वय है। यह उसका एक पक्ष है। दूसरा पक्ष व्यवहार का है कि वह प्राप्त बाह्य आलम्बनो के अनुसार परिणमन करता है। ज्ञान के परिणमन में निश्चय रूप से कर्त्ता कम आदि स्वय ज्ञाता है तथा व्यवहार रूप आलम्बन बाह्य पदाथ और उनका परिणमन है। इस ही प्रकार पदार्थों के परिणमन मे निश्चय रूप कर्त्ता कम आदि कारक स्वय पदाथ है, तथा ज्ञाता के ज्ञान मे उनका स्पष्ट ग्रहण उनके परिणमन मे कु भकार के हाथों की भाति आलम्बन है। ज्ञाता के ज्ञान मे पदाथ के जिस रूप का स्पष्ट ग्रहण होता है पदाथ का कारक चक्र तदनुरूप स्वत घूम जाता है। विश्व के सभी प्राणियो को अपने समान देखने वाले अहिंसा मूर्ति मुनिराजो के सम्मुख खू खार सिंह भी शान्त होकर चरणो में बठ जाता है पूर्व के शत्रु भी भक्त बन जाते है। देह को क्षुधा तृषा रोग उपसग परीषह आदि से रहित स्पष्ट देखने वाले ज्ञानीजनो की देह क्रमश सब दोषो से रहित हो जाती है। महामुनियो के मुह से निकला शब्द साकार होकर ही रहता है। स्वय आत्मा का परमात्मा बनना मानव का अहन्त बन जाना ज्ञान मे स्वय को स्पष्टत अर्हन्त रूप मे ग्रहण करने का ध्यान करने का ही क्रमश प्रकट होने वाला फल है।

जब मानव का यह ज्ञान अज्ञान रूप में परिणमन करने लग जाता है और वह भांति भाति से स्वय को दु खी अनुभव करता है/मानता है भयभीत रहता है चिन्ताप करता है तो उसकी इस प्रकार की चित्त दशा से भीतर बाहर उसके चारो ओर दु ख दुर्गतियो की रचना हो जाती है। इस प्रकार ज्ञान मे हम स्वय को, अपनी देह को अन्यो को जसे स्पष्ट ग्रहण करते है हम प्राय उन्हे वसा ही पाते है।

जसे हमारे ज्ञान मे स्पष्ट ग्रहण का पदार्थों के परिणमन मे व्यवहारिक महत्व है वैसे ही पदार्थों का हमारे ज्ञान के परिणमन मे महत्व है। जो मोह के कालुष्य से सहित है उन अज्ञानीजनो मे बाह्य पदार्थों के परिणमन से, बाह्य मे घटती घटनाओ से भाँति भाति के राग-द्वष चिन्ता [illegible]

द्वेष विवाद आदि अनेकविध कालुष्य उत्पन्न हो जाता है। जो मोह कालुष्य से रहित वीतरागी पुरुष है उनके चित्त मे बाह्य के जड अथवा चेतन कोई भी पदार्थ राग-द्वेषादि कालुष्य उत्पन्न करने मे समर्थ नही है। उनमे तो नानाविध निर्मल चेतना के स्फुरण मे ही वे आलम्बन बनते है ॥१८–१९॥

२० ज्ञान शक्ति एकता से नही हटती है विभक्तिया (विभेद) भी अनेकता को नही छोडती है। अत एक और अनेक रूप आपका जो चैतन्य शरीर है वह समान रूप से निज और पर को प्रकाशित करता है।

२१ अनन्त बलवीर्य द्वारा जिनका उदय वद्धि को प्राप्त हुआ है, जो निरन्तर निरावरण बोध से दुर्धर है, अविचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न है, निष्पक्ष है ऐसे आप पदार्थो के हृदय चीरते हुए प्रतिभासित हो रहे है।

२२ हे जिनेन्द्र! वहिरग कारणो की नियत व्यवस्था के कारण अन्य को निमित्त मात्रता प्राप्त कराते हुए भी स्वय ही केवल अपने द्वारा अत्यधिक विभेदो से परिपूर्ण परिणमन को आप प्राप्त होते है।

२३ पर कारण से होने वाले भेदो (राग द्वेष आदि) से रहित अकेले ही परिणमन करता हुआ आपका ज्ञान तेज विश्व को निर्बाध रूप से व्यापता हुआ भेदो द्वारा विश्व-रूपता को प्राप्त कर रहा है।

जगत के सभी पदार्थों की भाति ज्ञान भी परिणमन स्वभावी है। उसका यह स्वभाव अन्य कृत नही है, उसकी निरन्तर परिणमनशीलता अन्य से निरपेक्ष स्वत ही है। परिणमनशीलता की भाति ही अपने तेज से विश्व को व्यापना भी ज्ञान का निरपेक्ष स्वभाव है। वह निरन्तर जगत को व्यापता हुआ परिणमनशील है। ज्ञान शक्ति एक है स्व-पर रूप सम्पूर्ण जगत को व्यापते हुए वह कभी अपनी एकता नही छोडती। तथा जगत के नाना द्रव्य उनके नाना गुण और नाना पर्यायो को व्यापने से बनने वाले नाना ज्ञयाकारो के भेद भी इस एकता के रहते बने रहते है वे भी नही हटते।

मानव का जितना आत्मवीय जागा है और ज्ञान पर से आवरण हटे है रागद्वेषादि का शमन/क्षपण हुआ है वह जगत को ज्ञान मे उतना ही व्याप पाता है पदार्थों के स्वरूप मे प्रवेश कर पाता है उनका विश्लेषण कर पाता है। बल वीय से समर्थ ज्ञान सब ही पदार्थो पर यह क्रिया समान रूप से करता है उसे न किसी से झिझक होती है तथा न ही किसी से पक्षपात। पदार्थो मे यह निशक निष्पक्ष प्रवेश उनका विश्लेषण उन्हे चीरना ज्ञान की सामर्थ्य का प्रकाशन है उसकी शोभा है ज्ञाता की महिमा है। ज्ञान के स्व और पर के प्रकाशन स्वभाव से विश्व को प्रकाशित करता हुआ विश्व रूप हुआ मानव स्वय को चैतन्य शरीरी अनुभव करता है। चैतन्य शरीरी रूप मे वह स्वय को कितना मटमैला या तेजोमय अनुभव करता है, यह उसके ज्ञान की निरावरणता की मात्रा एव बल वीर्य की हीनाधिकता पर निर्भर करता है ॥२०–२३॥

२४ हे जिनेन्द्र ! समस्त स्व-पर रूप वस्तु वैभव अनन्त होने पर भी सदा निराकुलता पूर्वक केवल ज्ञान की एक कला द्वारा अनुभूति को प्राप्त कराया जाता है। यह अनुभूति मात्रता आपका तत्त्व है।

२५ आकुलता पूर्ण प्रलाप करने से रुको। इस जगत में आत्मा का तत्त्व द्वितय स्वभाव वाला निश्चित हो गया। यह निर्बाध अनुभूति ही अपने वैभव से अन्य समस्त मान्यताओं को नष्ट करते हुए जयवन्त प्रवर्ते।

जगत का जड चेतन प्रत्येक पदार्थ गुण और पर्यायो के अनन्त वैभव का धारक है। केवलज्ञानी परमात्मा अपने ज्ञान की एक एक पर्याय मे उस समस्त वैभव का अनुभव करते है। स्व तथा पर समस्त पदार्थों के वैभव का अनुभवन ही केवलज्ञानी परमात्मा का तात्त्विक रूप है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा स्व तथा पर समस्त पदार्थों के वैभव को अनुभव करने के स्वभाव वाला है। ये इसके दो पक्ष है। जिस मानव का स्व के वैभव के अनुभव का पक्ष अधूरा है उसे पर पदार्थों के गुण वैभव का अधूरा ही अनुभव होता है, तथा जिसके पर पदार्थों के गुण वैभव का अनुभव अधूरा है उसके स्व के गुण वैभव का भी पूरा अनुभव सम्भव नहीं है।

जो मानव आत्मा को स्व पर वस्तु वैभव को अनुभूति में लेने वाला द्वितय स्वभाव का धारी मान कर दोनो रूपो मे अपनी सामर्थ्य की वृद्धि में यत्नशील रहते है वे एक ही दिशा मे चेष्टा करने वालो को अपने अद्भुत तेज से हतप्रभ कर देते है। जो जन आत्म वैभव से अपरिचित रह पर पदार्थों के वैभव को ही अनुभव मे लेने मे लगे रहते है वे राग द्वेष आदि कषायो के क्लेश मे पड जाते है पराश्रय के लोक में दीन बन कर जीते है। जो जन पर पदार्थों को 'पर' मान उनके वैभव से अनभिज्ञ रहते हुए आत्म वैभव मात्र को ही अनुभव मे लाने उसकी वृद्धि करने मे सचेष्ट रहते है, आत्मा के द्वितय-स्वभाव से अपरिचित वे लोग पर शक्ति से रिक्त होने के साथ साथ स्व शक्ति से भी रिक्त रहते हुए तुच्छ ना-कुछ होकर जीते है। दोनो ही प्रकार के मानव ससार मे अपने अपने ढग से उलझे हुए है। मुक्त, तेजोमय बन कर वे जी रहे है जो स्व तथा पर समस्त वस्तु वैभव को अपनी अनुभूति का विषय बनाने में यत्नवान है ॥२४-२५॥

(१४)

१ अखण्डित और खण्ड खण्ड शक्ति के भार से प्रतपनशील, दर्शन ज्ञानमय अरूपी, अनन्त तेजयुक्त, चैतन्यमात्र आपके इस रूप की मैं क्रम और अक्रम से स्तुति करता हू।

२ हे जिनेन्द्र ! अनेक चैतन्य रूप ज्योति समूह की कान्ति से जो स्वय को दैदीप्यमान कर रहे है ऐसे आप थोडी विभूति के धारक चारों ओर देखने वाले मनुष्य के भी दृष्टि के विषय नहीं बन रहे है, यह आश्चर्य की बात है।

३ विरोधी धर्मों के अविरुद्ध समूह में अनवस्थित रूप से स्थित रहने वाले यह आप आत्म वभव को देखने हेतु सतृष्णा दृष्टि वाले मनुष्यों के लिये अनवस्थित रूप से स्थिति की प्ररूपणा करते है।

४ हे स्व-पर के विभाग के विस्तार को जानने वाले विभो! आपका व्यक्त, अव्यक्त गुण वभव समूह सबल शक्ति के चमत्कार से युक्त जनों द्वारा नियम से अनुभूत हो रहा है।

स्व तथा पर का समस्त लोकालोक का ज्ञाता दृष्टा आत्मा अखण्ड चत न्य से युक्त है। नाना नयो को जानता एव नाना गुण और पर्यायो के भेद से वह खण्ड खण्ड वभव से युक्त भी है। उपयोग के रूप मे आत्मा का यह खण्ड खण्ड और अखण्ड वभव निर तर परिणमन करता है। कम नोकम से लिप्त आत्मा वस्तुत अरूपी है, यह तथ्य उसका उपयोग निरन्तर प्रकट कर रहा है। अत आत्मा अरूपी होने से वस्तुत न पानी से गीला होता है न आग से जलता है न गोली से छिदता है और न वम विस्फोट से छिन्न भिन्न होता है। इस आत्मा का अनन्त गुण वभव घातिया कर्म क्षय करने वाले जिनेन्द्र परमात्मा मे व्यक्त होता है। अन्य मानव मे इसका एक अल्प भाग ही व्यक्त होता है और बहु भाग अव्यक्त रहता है।

अल्प ज्ञान एव वीय शक्ति के धारक सामान्य मानव के लिये जिनेन्द्र को एव जिनेन्द्र स्वरूप अपनी आत्मा को पहचान पाना कठिन बात है। परिग्रह मे ही अपना सुख सुरक्षा एव सम्पन्नता मानने वाला और उस हेतु रात दिन भाग दौड करने वाला मानव देह मात्र परिग्रह क धारी अह त के और देह रहित सिद्ध परमात्मा के अनन्त अतीन्द्रिय सुख को कसे समझ सकता है? यह बड़ा ही खद की बात है कि अहन्त सिद्ध समान तीन लोक के स्वामी अपने ही आत्मा के अरूपी वभव से परिचित रह अन्य जड तथा चेतन पदार्थों से सुख प्राप्ति का अभिलाषी बन उनकी सेवा करता दीन हीन, तुच्छ जीवन जीता है।

आत्म दशन/स्पश/अनुभव हेतु दो बात आवश्यक है। प्रथम तो मानव आत्मा का अनेका तात्मक स्वरूप समझ। वह यह बात जान कि आत्मा विरुद्ध धर्मो मे अनवस्थित है नाना पक्ष वाला है वह एक प्रकार ही नही है अन्य प्रकार भी है। वह प्रदेशो की अपेक्षा देह प्रमाण है तो ज्ञान मे लोकालोक को व्यापता विश्व रूप भी है वह द्रव्य रूप से नित्य है तो पर्याय रूप से अनित्य है, स्वरूप मे वह यदि अन्यो म निरपेक्ष है तो व्यवहार मे सापेक्ष है। आत्मा की अनेकान्तात्मकता समझने के साथ ही यह आवश्यक है कि मानव मे वीय शक्ति का जागरण हुआ हो, ज्ञान शक्ति तीक्ष्ण हो, कषाय कालुष्य घुलकर चित्त निमल हुआ हो वह इन्द्रिय विषय वासना से पराङ्मुख हुआ हो। ऐसा सबल मानव ही जिनेन्द्र तथा जिनेन्द्र समान अपने आत्मा के वभव को जितना वह व्यक्त हुआ है समझ पाता है तथा बहुभाग अव्यक्त का भी उसे अहसास, प्रतीति/विश्वास होता है। उसकी हर सास जिनेन्द्र दशन/आत्म दशन से उसे गद्गद करती है। दुबल मानव तो कषाय कालुष्य भाति भाति की भ्रान्तियो तथा भीतियो का शिकार बना अपने आत्मा की झलक भी प्राप्त नही कर पाता ॥१-४॥

५ निश्चय से इस जगत में एक अनेक रूप से घटित नही होता है और अनेक एकपने को प्राप्त नही होते है। आप अन्य ही उभयात्मक समान तेज स्वरूप है। आप समुदाय रूप भी है और अवयव रूप भी।

६ क्षणभग से रहित चतन्य कलिकाओ के समूह स्वरूप आपके सनातनता है तथापि चतन्य के एक रस प्रसार से भीगी हुई चतन्य कणिकाओ से युक्त आपके क्षणिक पना भी है।

७ हे जिनेन्द्र ! महिमाशाली आप मे जो ज्ञान उत्पन्न हुआ था वह ही इस समय उदित हो रहा है और जो उदित हो रहा है वह ही पुन उदित होगा। इस काल से कल्कित कला से युक्त होने पर भी आप निष्कल चतन्य के सागर है।

८ आप चतन्य के अनन्त उद्गारो के समूह मे एकरूपता को कभी नही छोडते हुए सुशोभित होते है। पिघले और नही पिघले बफ के ख ड में पानी के कण समान होते है।

९ हे ईश ! आप सब ओर से घटित होते हुए भी/उत्पाद को प्राप्त होते हुए भी हानि को/व्यय को प्राप्त होते है तथा सब ओर से व्यय को प्राप्त होते हुए उत्पाद को प्राप्त होते है। अथवा न आप उत्पाद को प्राप्त होते है न व्यय को प्राप्त होते है। हे जिनेन्द्र ! इस प्रकार आप मेरे मन को जजर करते हुए सुशोभित हो रहे है।

१० आपकी प्रकृति परिणाममयी है। प्रकृति के सम्बन्ध मे तक करना वृथा है। आप इस प्रकृति को समान तथा असमान भाव से परिपूण अखण्ड धारा के समान धारण करते है।

एक अनेक मे विरोध है। एक को यदि अनेक कर दिया जाये तो एकता खण्डित होती है, बिखरती है तथा अनेक को एक कर दिया जाये तो अनेकता का लोप होता है। ऐसा परस्पर विरोध होते भी जगत और उसके पदार्थों के समान आत्मा की जटिल सरचना भी दोनो को आत्मसात् करती हुई उभयात्मक है। उसे केवल एक रूप ही देखना वाला उसके अनेक रूप वभव के स्पश से वचित रह जाता है तथा अनेक रूपो मे एकता को विस्मृत कर देने वाले को कही आत्मा नजर ही नही आती। आत्मा का एकानेक रूप के कुछ उदाहरण निम्न है—

(क) आत्मा समुदाय और अवयव दोनो रूप है। आत्मा चक्षु अचक्षु आदि दशन मति श्रुतादि ज्ञान तथा वीर्यादि गुण असख्यात प्रदेश और अनन्त पर्यायो का समुदाय है। यह स्वरूप स है। व्यवहार मे ये अवयव ही पूरी आत्मा की भांति कार्य करते है। जब दशन काय करता है तो

आत्मा दर्शनोपयोग है और ज्ञान कार्य करता है तो ज्ञानोपयोग। मति ज्ञान कार्य करता है तो आत्मा मति ज्ञान है और श्रुत ज्ञान कार्य करता है तो श्रुतज्ञान। इस प्रकार व्यवहार मे वह अवयव ही पूरे रूप मे व्यक्त होता है। यदि हम व्यवहार म भी समुदाय का आग्रह रखेंगे तो व्यवहार गडबडा जायेगा। आत्मा अनन्त वीर्य का पुञ्ज है पर व्यापार विशेष मे जितने वीर्यांश आवश्यक होते हैं उतने ही उपयुक्त होते है, शेष अव्यक्त रहते ह। इसी प्रकार आत्मा अतीत अनागत और वर्तमान पर्यायो का समुच्चय है, तथापि वर्तमान मे वह जिस पर्याय से वर्तन करता है तब वह उस पर्याय रूप ही है अन्य रूप नही। यदि मानव शाश्वत के आग्रह मे क्षणिक वर्तमान पर्याय का अनादर, उपेक्षा करेगा तो सम्पूर्ण ही आत्मा के कोप का भागी बन उसे दुखियां सहनी होगी। पुन आत्मा ज्ञान मे त्रिकाल-त्रिलोक के समस्त पदार्थों के समुदाय रूप है और अनन्त पदार्थों के समूह रूप जगत के अवयव रूप एक पदार्थ भी वह है। यदि वह जगत के अवयव रूप एक इकाई की बात भूलता है तो बाह्य मे व्यवहार असभव होता है और यदि वह समस्त के समुदाय रूप ज्ञान म अपने अवयवी स्वरूप से च्युत होता है तो तुच्छता उत्पन्न होती है। इन तथा अन्य भी प्रकार आत्मा समुदाय और अवयव दोनो रूप से है। उसके अवयवो के पुष्ट होने मे समुदाय रूप की पुष्टता है तथा समुदाय रूप की पुष्टि के बिना अवयव सतेज हो ही नही सकते।

(ख) आत्मा परिणमन स्वभावी है। उसकी एक पर्याय का उत्पाद होता है तो अन्य का व्यय होता है पर उसके गुणो मे इससे हीनाधिकता नही हो जाती वे उतने के उतने ही सदा रहते हैं। जसे बर्फ घन रूप रहे या पिघल कर पानी हो जावे पानी के कण उसमे उतने ही रहते है, वे घट या बढ नही जाते। काल के प्रवाह मे आत्मा का गुण वैभव एक अखण्ड धारा के रूप मे अनुभव मे आता है जो एक समान होती है साथ ही क्षण-क्षण भिन्न भी होती है।

आत्मा का उत्पाद-व्यय उसकी परिणमनशीलता उसका एक पक्ष है। इसको लेकर चिन्तनशील मानव इसके अतीत और भावी मे झांकने का प्रयत्न करता है और उसे अनादि और अनन्त पाता है। छद्मस्थ मानव के लिये तो यह एक पहेली ही होता है जिसे अतीन्द्रिय अवधिज्ञान थोडी दूर तक सुलझा पाता है उसके आगे सर्वज्ञ के ही वश की बात है। उत्पाद-व्यय के पक्ष को गौण करे तो हमे आत्मा अनुत्पन्न-अविनष्ट एक रूप नित्य प्रकट अनुभव मे आता है। जहाँ तक इस नित्य पक्ष का प्रश्न है हमने आज तक कोई उत्पाद-व्यय किये ही नही हम तो बस 'हैं' क्यों से मलिन अथवा निर्मल वैसे भी ह हम है ॥५-१ ॥

११ हे विभो! पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से होता है, आपमे वह प्रत्यक्षतया सुशोभित होता है। तथापि प्रत्यक्ष वभव से भरे हुए आप मोह से हत पशु की प्रतीति मे नही आते।

गुरु पुस्तक इन्द्रियो की सहायता आदि से होने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। इन सहायकों के बिना ही सीधे आत्मा द्वारा ही पदार्थों का ज्ञात हो जाना प्रत्यक्ष ज्ञान है। ज्ञान शक्ति पर आवरण सहित दुर्बल मानव पदार्थों को स्वतन्त्र रूप से जानने मे स्वय को असमर्थ पाता है। जब

उसके आवरण हटते है और वीर्य वृद्धि होती है तो देश-काल मे दूर और सूक्ष्म पदार्थों को सीधे आत्मा से ही वह जानने लग जाता है। इसम आश्चय कुछ भी नही है। गुरु की वाणी पुस्तक पुद्गल रचित द्रव्य इन्द्रियाँ तो सब ज्ञान शून्य जड पदाथ है। इनमे ज्ञाता तो एक मात्र उसकी आत्मा ही है और यदि जड सहायको के सानिध्य की उसे अपनी दुबलता से आवश्यकता होती है तो वह अपनी सामर्थ्य मे श्रद्धा और चारित्र बल मे वृद्धि करे सहायक अनावश्यक हो जायगे। इस सीधी सी बात को आत्मा की त्रिकाल त्रिलोक के ज्ञान की सहज सामर्थ्य को अपनी कुशिक्षा और प्रमाद से जो न समझ पाये वह मानव देहधारी व्यक्ति तो वस्तुत पशु ही है।

स्वतन्त्रता की जो बात अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्बन्ध मे सत्य है वह ही आत्मा के वीय आनन्द आदि अन्य सभी आत्म गुणो के सम्बन्ध मे सत्य है। जसे सहायको से निरालम्ब प्रत्यक्ष ज्ञान मे आत्मा की महिमा महानता प्रकट होती ह वसे ही अन्न जल आदि रूप कवलाहार के ग्रहण बिना ही योग तथा उपयोग का अनन्त बल प्रकाशन आत्मा के लिये सहज स्वभावभूत है और सहज स्वभावभूत है योग-उपयोग के प्रत्येक व्यापार मे निरन्तर ही आनन्द की अनुभूति होना। ज्ञान वीय आनन्द आदि आत्म गुणो के स्वतन्त्र वतन की दिशा भूल बहुभाग अनावश्यक बाह्य आलम्बनो के उपार्जन सग्रह रक्षण मे क्लेश भोगता मानव वस्तुत अज्ञानी ही है ॥११॥

१२ स्व और पर की आकृति के सकलन से आकुलित परदृष्टि (मिथ्यात्वी) मनुष्य की दृष्टि स्वय को छोडकर पर पदार्थो मे जा पडती है। आपकी दृष्टि पर को अभिभूत कर निराकुल रूप से अपनी महिमा में ही उच्छलित हो रही है।

१३ हे ईश्वर! दृष्टि मे सब ओर से स्व तथा पर पदाथ दशन का विषय होन से परस्पर प्रविष्ठ होते है। इसलिये आपके द्वारा विवेक हेतु विधि और निषध की पद्धति का निणय किया गया है।

१४ यदि दृश्य (बाह्य पदार्थ) के निमित्त स होने वाला यह विषयो का समूह दृष्टि मे अन्वय को प्राप्त होता है तो एक दशन ही अत्यन्त प्रतिभासित हो दशन को हरने वाले दृश्य पदार्थो के समूह स क्या प्रयोजन है?

१५ जिस कारण यह दशन वचनो का विषय-अविषय है उस कारण समस्त दृश्य भी वचनों का विषय-अविषय है। अथवा, हे जिनेन्द्र! अचल चतन्य के समूह म स्थिर होने के कारण आप दृश्य पदार्थो स विरक्त विभूति वाले है।

१६ हे जिनेन्द्र! महान आत्म विकास के बल स आपकी य अतिशय रूप स स्फुट हुई चतन्य कलिकायें हठपूवक समस्त विश्व को आत्ममयता प्राप्त कराती हुई की भाति प्रकट करती है।

१७ समस्त विश्व को प्रकाशित करती हुई जो उच्छलित हो रही हैं, जो विस्तृत द्युति वाली है ऐसी आपकी चैतन्य रूप बिजलियां अचल आत्मा के चमत्कार रूप चन्द्रमा की कान्ति द्वारा निरन्तर मानो चदोवा ही रच रही है।

१८ जो स्पष्ट अनुभव दे रहा है तथा जो अनेक पदार्थ समूह की सत्ता रूप रस से अतिशय युक्त है ऐसा यह सम्पूर्ण जगत आज आपके ज्ञान रूपी मुख मे ग्रास के रूप मे परिवर्तन को प्राप्त हो रहा है।

१९ नाना रूप चेतना की परिणतियो के कारण आपकी देह की प्रतिमा की कथा करना व्यर्थ ही है। युगपत अनुभूति को प्राप्त होने वाला समस्त विश्व भी वास्तव मे आपकी प्रतिमा है।

२० जिस कारण ज्ञाता विषयों से हरा जाता है उस कारण स्वय को विषय करे। विषयो द्वारा हरे जाने पर ज्ञाता स्वयं विषय बन जाता है तथा नही हरे जाने पर वह विषय नही बनता, विषयी रहता है।

२१ दर्शन और ज्ञान मे निश्चल वृत्ति रूप आपकी शक्तियो का समूह ससार बीज को नष्ट करने वाला है। विविक्त मति मानव क्रिया में रमण नही करते/क्रिया द्वारा सतुष्ट नही होते वरन् क्रिया द्वारा तो वे कुपथ से निवृत होते है।

२२ क्रिया द्वारा पुदगल कर्म निरस्त किये जाने पर पुरुष चित्त में अकम्प पाक को प्राप्त होता है। चित्त के परिपक्व हो जाने पर ससार के कारणो को बलपूर्वक नष्ट कर देने से नियत रूप से उससे मुक्ति होती है।

२३ हे जिनेन्द्र! मानव यदि स्पष्ट ज्ञान युक्त हो अज्ञान से अचचल अदूषित बोध को सदा धारण करता है तो वह कर्तृ भाव से आकुलित हो मत्स्यावतार के समान अपने स्थान से पतित हो विवर्त को प्राप्त नही होता।

ससारी जन कर्म मलीन आत्मा है। जीव का कर्मोदय का पक्ष उसका अनात्म पक्ष है। इस अनात्म पक्ष को जो अपना स्वरूप मानकर जीते है, वे अज्ञानी है और निरन्तर कर्म रचना की ही वृद्धि कर अपने लिए तथा अन्यो के लिए नये-नये दु खो को मूर्त रूप देते रहते है। कर्मोदय से अनात्मा होकर जीने वाला मानव मिथ्यात्वी अज्ञानी कषाय युक्त तथा हिंसादि पापारत करने वाला असयमी होता है। जो जन इस अनात्म कर्म-कलेप से मुक्त निराकुल सुख के लोक मे जीना चाहते है व हिंसादि पाप प्रवृत्तियां छोड सयमी बन जाते है। सयम से चित्त पाप प्रवृत्तियो की चचलता से भाग दौड़ से मुक्त हो स्थिरता को प्राप्त हो जाता है देह भी कष्ट सहिष्णु कठोर हो

जाती है तथा रोग बाह्य झगड टन्टे आदि रूप मे उडन वाली कर्मों की आँधियाँ शान्त हो जाने स मानव को निश्चिन्त होकर मिथ्यात्व अज्ञान कषाय आदि दु खो क कारणो का नष्ट करन का अवसर प्राप्त होता है। ज्ञानी विवेकी जन सयम धारण मात्र मे सन्तुष्ट न हो सयम धारण स मिलन वाले अवसर का लाभ उठा दु ख रचना के उक्त कारणा को नष्ट करन हेतु कमर कसते है।

मानव विषयी/ज्ञाता है और जगत के पदार्थ उसके ज्ञेय/विषय हे। विषयी तथा विषय क परस्पर सम्यक सम्बन्धो से मानव मुक्त परमात्मा बनता है और मिथ्या विपरीत सम्बन्धो से नानाविध दु खो के गर्त मे पडता है। मानव विषयी बना रहे तो ज्ञान, बोध आनन्द आदि रूप उसकी आत्म शक्तियाँ पुष्ट विकसित होती है तथा यदि वह स्वय विषयो का विषय बन जाता है अर्थात् उनके आगे स्वय को तुच्छ अनुभव करता है उन पर स्वय को निर्भर अनुभव करता है उनमे किसी को अनुकूल तथा किसी को प्रतिकूल मान रागद्वेष करता है तो भाति भाति के कषाय रूप म भाग दौड म पड दु ख दुर्गतियाँ सहन करता है। जन्म मरण के ससार चक्र म पड मानव अथवा अन्य प्राणी इसीलिए ससारी है कि वे ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थों क बीच अनादि म चल रही रस्साकसी मे विषयी के पद से च्युत हो निरन्तर विषय के निम्न स्तर पर जाते ह विषयी क महिमामयी पद पर स्वय को सुस्थित नही करते। विषयी बनकर जीने हेतु हम कुछ विधि निषेधो का पालन करना होगा। सबसे प्रथम हम यह स्वीकारना होगा कि दर्शन ज्ञान म निश्चल वृत्ति स हम आनन्द वीर्य आदि आत्म गुणो का स्पर्श प्राप्त होता है वे पुष्ट होते ह तथा कषाय जनित आकुलता नष्ट होकर जीवन मे अन्तर्बाह्य चारो ओर शान्ति सुख का वितान होता है। हम मानना होगा कि अब तक के भोगे गये सारे दु ख क्लेश दर्शन ज्ञान म निश्चल वृत्ति न रहने के ही परिणाम थे अन्य कोई उनका मूलभूत कारण नही था।

दर्शन, ज्ञान में निश्चल वृत्ति बनाने में निम्न प्रकार क कुछ नियम, अनुभूतियाँ लाभदायी होगी—

समुद्र आकाश पहाड हवा अग्नि आदि पदार्थों में हम हमारे आत्म गुणों का तेज गहराई विशालता ऊचाई निस्पृहता ज्योतिर्मयता आदि का अनुभव होता है। जो मानव अपने आत्म गुणों से परिचित है उनके स्मरण का प्यासा है उसे जगत के सभी जड तथा चेतन पदार्थ आत्मा की पवित्र प्रतिमा बने उसे उसकी आत्मा का स्पर्श कराने लगते है।

(घ) आत्मा एक चन्द्रमा है। उसकी चारो ओर छिटकती चैतन्य चांदनी के चदोवें के नीचे सारा जगत स्थित है जिसे ज्ञान-दर्शन की किरणें बांध बांध कर हमारा दृश्य और ज्ञेय बनाती है और आत्मा रूप चदोवे के विशाल वैभव म परिचित कराती है।

(ङ) ज्ञान के विशाल मुख मे सम्पूर्ण पदार्थों सहित जगत एक ग्रास की भांति परिवर्तन करता है। जसे अन्नादि का ग्रास हजम होकर मानव की देह की पुष्टि करता है जगत को ज्ञान म इस प्रकार ग्रास के रूप म ग्रहण स मानव के आत्म गुण पुष्ट होते है। ऐसी प्रतीति होते जगत के पदार्थों को ज्ञान मे ग्रास की भांति ग्रहण करना किसे दूभर लग सकता है तथा वह कसे मानव के लिए अहितकर हो सकता है ?

इस प्रकार के चिन्तन अनुभव म यही देखना है कि किसी प्रकार हमारे पदार्थों के प्रति राग-द्वेष समाप्त हो हम विषय के निम्न स्तर से उठकर विषयी/ज्ञाता के उच्च स्तर पर आरोहण कर सक और वहा सुस्थित हो सकें। हम कदापि भी विषयो द्वारा हरा जाकर उनके प्रति पराश्रय बुद्धि हीनता-दीनता का भाव अन्य किसी प्रकार के कषाय-क्लेश को चित्त मे प्रविष्ट नही होने देना चाहिए कि वे हमारे म दुर्गतियो के बीज डाल हमारे दुखो का विस्तार कर दें। ऐसे अवसर जब उपस्थित हो और उन विषयो का विषयी बन रहना हम रे लिए सभव न हो तो हम उनसे उपयोग हटा ले और उसे आत्म स्वरूप की ओर अभिमुख कर ले या अन्यत्र कही टिकायें जहा हम विषयी बने रह सके तथा विषय बनने की दीनता क्षोभ से बच सक।

निरन्तर विषयी के उच्चासन पर विराजमान तो वीतराग अनन्तवीर्यवान सर्वज्ञ परमात्मा ही रह सकते है। छद्मस्थ जनो का निरतर इस अवस्था म टिकना सभव नही है। उन्हें क्षुधादि परीषह विचलित करते है। अन्यो के भी कष्टो मे उन्हें विष्णु के मत्स्यावतार की भांति अपनी सामर्थ्य मुताबिक उपकारार्थ प्रवृत्ति करनी होती है। लेकिन जब कोई मानव ज्ञान-ध्यान मे निरपेक्ष विषयी बन जीने मे उत्साह सहित नियम पूर्वक प्रवृत्त हुआ हो तब न तो उसे अपने क्षुधादि परीषहो की चिन्ता होनी चाहिए न ही अन्यो के कष्टो से विचलित हो उनकी रक्षा करने या अन्य उपकार करने मे प्रवृत्त होना चाहिए। शुभ अथवा अशुभ किसी प्रकार के कार्य मे प्रवृत्त होने पर हम शुद्ध ज्ञाता/विषयी की उच्च स्थिति से नीचे उतर आते है और स्व-पर कल्याणकारी उस लाभ से वचित हो जाते है जो इस स्थिति म दृढता से टिकने पर होता है। वीतराग ज्ञानी जनो की उपस्थिति मात्र से उनके चारो ओर मानव एव अन्य प्राणियो की दुखो से बिना उनके कोई चेष्टा या मन म विकल्प किये स्वत ही निवृत्ति हो जाती है। सूर्य को जसे अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने का विकल्प करने की आवश्यकता नही है वे स्वत प्रकाशित हो जाते है वसे ही

विषयों के उच्च स्तर पर स्थित जनों के अपने आत्म कल्याण के साथ अन्यों के भी कष्ट निवारण स्वत हो जाते है ॥१२-२३॥

२४ हे जिनेन्द्र ! आपके समागम को ही सुख कहते है तथा आपके वियोग को दुःख कहते है । वे कृतिजन निश्चय से निरन्तर सुखी है जिनके आप सदा निकट है ।

२५ हे देव ! समस्त केवली भगवन्त आपको निश्चय से अनन्त कलाओ से सहित सकल परमात्मा कहते है । आपके चित्त रूपी आँचल मे लगे हुए मुझे कषाय मल नष्ट नही कर सकता ।

जिनेन्द्र की भक्ति गुण चिन्तन ध्यान जिनवाणी का अध्ययन मनन जगत के जड-चेतन पदार्थों के जिनेन्द्र प्रणीत स्वरूप का अवलोकन/ज्ञान एव जिनेन्द्र समान अपने आत्म गुण वैभव की स्वीकृति अनुभव आचरण जिनेन्द्र का समागम है। यह समागम सुखमय है इसके रहते मानव दुखी हो ही नही सकता । ऐसे मानव की पर्व सचित असाताय एव अन्य पाप कर्म लता और दारु रूप केवल द्विस्थानीय रह जाते है तथा साता आदि पुण्य प्रकृतियाँ अमृत रूप चतु स्थानाम हो जाती है और चारो ओर सहज ही उसे अनुकूलताय प्राप्त हो जाती है। इसके विपरीत जो जन जिनेन्द्र से जिनेन्द्र समान अपनी आत्मा के स्वरूप से पराङ मुख है जगत के पदार्थों का जिनेन्द्र प्रणीत अनेकान्तात्मक स्वरूप स्वीकार न कर विपरीत एकान्त आदि रूप असत् मान्यताय रखते है और इसीलिए अज्ञान तथा तीव्र कषाय मे जीते हैं उनके साता आदि पुण्य प्रकृतियाँ तो गुड खाण्ड रूप द्विस्थनीय हो जाती है और असातादि पाप प्रकृतियाँ हलाहल रूप चतु स्थानीय हो जाती है । इस प्रकार जिनेन्द्र का समागम आवश्यक रूप स सुख का तथा वियोग दुख का ही कारण बनता है ।

जो जन जिनेन्द्र के उपरोक्त समागम मे जीते है वे निरन्तर सुख का अनुभव करते हैं। उन्हे अपने देह रूपी मन्दिर मे विराजे हुए केवल ज्ञानियो द्वारा वर्णित सकल कलाओ विभवो के स्वामी आत्मदेव का दर्शन/अनुभव होता है । उसके निर्मल लोकालोकव्यापी ज्ञान-दर्शन के प्रकाश मे वे अधिकाधिक जीना चाहते है उसके रस मे मग्न रहना चाहते है । वे जानत है कि दर्शन ज्ञान म निश्चल वृत्ति रखने पर, निरन्तर आत्मानुभव की निर्मलताओ मे जीने पर अन्तर्बाह्य रूप स कषाय मल स्वत निःशेष हो जाता है और वह उन्हे चतुर्गति रूप ससार मे परिभ्रमण करान की सामर्थ्य नही रखता ॥२४-२५॥

(१५)

१ हे जिनेन्द्र ! कषाय कर्मों के उदय को प्राप्त स्पर्धको को अभिभूत कर अभ्युदय को प्राप्त केवली भगवान ही आपके अद्‌भुत पद के अवलोकन में समर्थ हैं ।

२ गन्ने की गडेरी का स्वाद लेने वाले बालक के समान अत्यधिक मधुरता से हरे गये हृदय वाला यह मानव दिन रात आपकी ज्ञान की कला का रस लेता हुआ तृप्ति को प्राप्त नहीं होता।

३ हे ईश ! स्वयं आपके द्वारा आपका यह ज्ञानास्त्र अनन्त बार तीक्ष्ण किया गया है इसलिये वह पदार्थों के समूह पर पडता हुआ कहीं भी कुंठता को प्राप्त नहीं होता है।

४ हे देव ! इस लोक मे हठपूर्वक समस्त पदार्थों का अनन्त बार खण्डन करता हुआ आपका यह दमन रूपी अस्त्र एक साथ विश्वव्यापी पराक्रम वाला दिखायी देता है।

५ हे देव ! पर्याय के बिना द्रव्य उदित नहीं होता। द्रव्य के बिना पर्याय भी उदित नहीं होती। अतः आपकी प्रकृति सदैव उन दोनो का अवलम्बन लेने वाली है।

६ निश्चय से आश्रयी के बिना आश्रय नहीं होता और आश्रय के बिना आश्रयी नहीं होता। आश्रयी और आश्रय मे सूर्य और उसके आतप तथा प्रकाश के समान परस्पर हेतुता है।

आत्मा/परमात्मा के असंख्यात प्रदेश और ज्ञान-दर्शन-वीर्यादि अनन्त गुण वैभव का अवलोकन/अनुभव केवल ज्ञानी महापुरुष ही कर सकते है। मानव के ज्ञान की इस महासामर्थ्य को कषाय प्रकट नहीं होने देते। जो वीर्यवान पुरुष कषाय नष्ट कर अन्तर्बाह्य से शुद्ध बन पाते हैं, वे ही इस सामर्थ्य से सम्पन्न हो आत्मा के आनन्दमय स्वरूप का अवलोकन कर पाते है। छद्मस्थ जन तो अधिक से अधिक गन्ने की गंडेरी की मधुरता को ही चूसने मे लगे बालक के समान जिनेन्द्र प्रणीत वस्तु स्वरूप के थोडे स्वाद का जिनवाणी के पद विशेष के चिन्तन-मनन का ही आस्वादन कर पाते है। वे आत्मा के सम्पूर्ण गुण वैभव के अवलोकन/अनुभव से तृप्त होने मे समर्थ नहीं है।

जिनेन्द्र स्वयं एक दिन छद्मस्थ थे। तब उनके ज्ञान मे वह तीक्ष्णता नहीं थी कि वे अपनी आत्मा के सम्पूर्ण वैभव का स्पर्श/वेदन कर सके। पुनः पुनः उन्होंने उसे जगत् के पदार्थों के स्वरूप बोध के द्वारा तीक्ष्ण किया। अब वह कहीं भी कुंठित स्खलित नहीं होता। इसी प्रकार दर्शन अस्त्र को भी जगत खण्डो को पुन पुन व्याप कर तीक्ष्ण किया कि वह सम्पूर्ण जगत के एक साथ व्यापने के पराक्रम वाला हो गया। 'करत करत अभ्यास के जडमति होत सुजान' की कहावत लौकिक मे ही मानव को सफलता का सूत्र प्रस्तुत नहीं करती वरन् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बनने के पारलौकिक पुरुषार्थ की सफलता की भी यही कुंजी है।

छद्मस्थ का आत्मा कर्म-मलीन अशुद्ध है, देह भी तदनुसार रोगयुक्त, अशुचि परीषहों से घिरी हुई दुर्बल है। द्रव्य से ऐसी आत्मा के दर्शन ज्ञान आदि गुणों की पर्याय भी अशुद्ध दुर्बल अविपद और अल्पग्राही है। छद्मस्थ मानव केवली बन स्व-पर रूप सम्पूर्ण जगत को ज्ञान-दर्शन की एक पर्याय का विषय बनाना चाहता है अर्थात् वर्तमान मति-श्रुत रूप पर्याय के स्थान पर वह केवल ज्ञान उत्पन्न करना चाहता है तो उसे द्रव्य रूप से शुद्ध होना होगा। द्रव्य रूप से अशुद्ध रहते तो अविपद परोक्ष मति-श्रुत ज्ञान की पर्याय का ही वह स्वामी रह सकता है। द्रव्य रूप से शुद्ध होने का अर्थ है उसे हिंसादि पापारम्भ छोड़ने होंगे क्षुधादि परीषह जीतने होंगे कवलाहार-नीहार रहित होना होगा। देह भी इतनी शुद्ध होना आवश्यक है कि उसमें निगोदिया राशि किंचित न रहे, उसका रक्त दुग्धवर्ण हो। निर्वस्त्र निष्परीग्रही, अनन्त वीर्यवान् मानव ही सर्वकषाय-क्षयी हो ज्ञान की कैवल्य पर्याय धारण करने का पात्र बनता है। तथा द्रव्य रूप से ऐसी शुद्धि भी मानव तब ही प्राप्त कर पाता है जबकि ज्ञान-दर्शन को निरन्तर पठन-मनन लेखन अध्ययन आदि उपायों से तीक्ष्ण कर कैवल्य की सामर्थ्य उत्पन्न करने में वह यत्नशील हो। इस प्रकार द्रव्य और गुणों की पर्याय समानान्तर रूप से शुद्ध होती है। अशुद्ध द्रव्य रहते शुद्ध पर्याय संभव नहीं है और अशुद्ध हीन पर्याय रहते द्रव्य को शुद्ध बनाने के बाह्य यत्न कभी सफल नहीं हो पाते।

जैसे द्रव्य और द्रव्य की पर्याय में अन्योन्याश्रय है वैसे ही द्रव्य और गुणों में परस्पर अन्योन्याश्रय है। जैसे सूर्य ही अपने तीक्ष्ण ताप और प्रकाश का आश्रय है अन्य कौन उस ताप और प्रकाश को धारण करने में समर्थ है उसी प्रकार शुद्ध आत्मा ही अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि गुणों को धारण करने में समर्थ है अन्य कौन कषाय मलीन परीग्रही दुर्बल जन उस महातेज को धारण कर सकता है ॥१–६॥

7 यह विधि निषेध द्वारा बाधित है तथा निषेध विधि द्वारा बाधित है। पर, दोनों समता को प्राप्त होकर साथ-साथ अर्थ सिद्धि के लिए यत्न करते हैं।

८ हे जिनेन्द्र! क्योंकि पदार्थ तथारूप होते हुए अन्यथा नहीं है इस कारण निषेध तथा विधि साथ-साथ एक काल रहते हैं।

९. आपका यह द्वयात्मक माहात्म्य न वाच्य रूप ही है और न अवाच्य रूप ही है। दोनों में से मात्र एक का कथन करने वाली हमारी जिह्वा के शत खण्ड हो जाय।

१० द्वयात्मकता क्रम से वाच्यता को प्राप्त होती है और एक साथ अवाच्य हो जाती है। वाणी की यह प्रकृति ही है कि वह शक्ति वाली है भी और नहीं भी है।

अस्ति के साथ नास्ति सिक्के के दो पहलुओं की भांति प्रत्येक पदार्थ के आवश्यक अंग हैं। जीव एक चेतन द्रव्य है जड़ द्रव्य नहीं है संसारी है मुक्त नहीं है अथवा मुक्त है तो संसारी नहीं है। निषेध रूप कथन के बिना किये भी वह मात्र विधि के कथन में गर्भित रूप में बाल गोपाल को ग्रहण हो जाता है और वे जानते हैं कि पदार्थ तथारूप है तो अन्यथा रूप नहीं है। पदार्थ के

अस्ति तथा नास्ति दोनो पक्षो का ज्ञान मे ग्रहण एक साथ होता है, अन्यथा वस्तु का ज्ञान ही नही माना जायेगा। (छद्मस्थ मानव को वस्तु के नास्ति पक्ष का सम्पूर्ण ज्ञान नही होता अत ही तो वह सर्वज्ञ नही है और वह वस्तु के अस्ति पक्ष का भी पूरा नही जानता।) पर कथन मे विधि तथा निषेध हम क्रम से ही आगे पीछे ही कर सकते है। उन्हे एक साथ जान सकते है पर एक साथ कह नही सकते।

पदार्थ कैसा है इस सम्बन्ध म दार्शनिको मे मतभेद सभव है अर्थात् उसके 'तथारूप' क सम्बन्ध मे मतभेद सभव है। पर, जो जिस रूप मानता है वह उसे अन्य रूप नही मानता इस सम्बन्ध मे सभी दार्शनिकों की स्थिति एक है। हाथी को स्पर्श कर जानने वाले अधों मे भी तथा रूप की विधि और अन्यथा रूप के निषेध के सम्बन्ध म कोई मतभेद नहीं था नही हो सकता था। अधो की भाँति छद्मस्थ मानव भी इन्द्रिय और बुद्धि के स्तर पर वस्तु का पूरा निर्णय नही कर पाता और उनमे परस्पर मतभेद हो जाते है। सही निर्णय हेतु आगम का मानव सहारा लेता है, पर वे भी परस्पर विरोधी अनेक है। अत सत्य के निर्णय का प्रश्न पूर्ववत् बना रहता है। ऐसी स्थिति मे एक मात्र इष्ट प्रयोजन की निर्बाध सिद्धि हेतु सफल अर्थ क्रिया ही मानव के पास सत्य निर्णय का आधार है। यह अर्थ सिद्धि विधि तथा निषेध के समतामूलक मेल से ही सभव है।

विधि तथा निषेध परस्पर विरोधी है। जब विधि अपनी मर्यादा का उल्लघन करती है तो वस्तु का स्वरूप नही बनता। जीव स्वरूप से चेतन के साथ जड भी हो जाय जड को भी स्वरूप म स्वीकार कर ले तो उसका स्वरूप कुछ रहेगा ही नही। इसी प्रकार जब नास्ति पक्ष विधि का अतिक्रमण करेगा तो जडता की नास्ति की भाँति चेतना की नास्ति जीव को जड ही बना देगी। दोनो के अपनी अपनी सीमा मे रहने मे ही वस्तु की सुरक्षा है और वह अर्थ क्रियाकारी होती है मानव की प्रयोजन सिद्धि का आधार बनती है। जीवन मे छोटी से छोटी बात मे अस्ति नास्ति के सुमेल से कार्य बनते है। उचित मात्रा मे किया गया भोजन स्वास्थ्य कारक होता है अति मात्रा वाला अजीर्ण करता है अल्प मात्रा वाला पोषण नही कर पाता—साधारण मानव का अज्ञान कितना घना है कि वह इन छोटी छोटी बातो मे भी विधि निषेध का सुमेल नही समझ पाता और कष्ट भोगता रहता है। अपना और जगत के पदार्थों के वस्तु स्वरूप के विधि निषेध का निर्णय तो प्रकट ही एक कठिन बात है।।७–१०।।

११ आपका जो यह तत्त्व है वह एक होकर भी अनक है तथा अ यो के तर्क के योग्य नही है। यह विचार गोचर होन पर अथ गौरव को प्राप्त होता है।

१२ निश्चय से वस्तु न एक रूप ही है न अनक रूप ही है, किन्तु समुदाय और अवयव दोनो रूप है। समुदाय और अवयव दोनो को छोडकर वस्तु की गति नहीं है।

जगत का प्रत्येक पदार्थ एक रूप ही न होकर अनेक रूप है। आकाश से गिरने वाली जल की बूद सीप के मुँह मे गिरकर मोती बनती है सर्प के मुह मे गिरकर विष बनती है, अगारे पर गिरती है तो उष्ण होकर भाप बन जाती है। जल जिस पेड द्वारा ग्रहण होता है उसी के फल का खट्टा मीठा रस बन जाता है। इस प्रकार जल मे कितने रूप से परिणमन करने की योग्यताय है

इसके कितने रूप हैं ? प्रत्येक पदाथ ही इस प्रकार नानापन को अपने म समेटे हुए है। एक ही जीव अनादि से चौरासी लाख योनियों मे भ्रमण करता हुआ कितने कितने रूप होता जा रहा ह ? कौन मानव इस नानापन को अपने तक का विषय बना कर खण्डन या मण्डन कर सकता ह ? इस नानापन का पार पा जाना केवलज्ञानियो के ही वश का है। जो मानव पदार्थों के इस नानापन को अपने अनुभव के आधार पर थोडा समझ पाते ह उन्हे जगत का क्षण क्षण नानारूपता का एक विश्व अपने म समेटे अद्भुत लगता है। जो पदार्थों को एक वर्तमान रूप म ही जानते देखते ह व उनके सम्बन्ध म और इसलिए अपने सम्बन्ध म भी बहुभाग अज्ञान म जाते ह।

यह एकता-अनेकता समुदाय-अवयव रूप होती है अन्यथा नही होता। पुद्गल रूप रस गन्ध स्पश आदि का समुदाय है यह समुदाय या इसके अवयव जीव म नही पाये जाते। ऐसा नही हो सकता कि समुदाय विशेष का एक अवयव तो पदाथ म पाया जाये और अन्य अवयव शक्ति या व्यक्ति रूप से न पाये जाये अथवा क्रम म न आयें। उदाहरण के लिए इन्द्रिय सुख और दु ख का एक ऐसा समुदाय है जो क्रम से जीव को प्राप्त होता है। जो इन्द्रिय सुख म मग्न होते ह उन्हे दु ख एक दिन अवश्य आ जाता है। आत्मानन्द ऐसे समुदाय का अवयव नही है जिसका दु ख भी अवयव हो। अत आत्मानन्द / ज्ञानानन्द के लोक मे जीने वाले साधुगण दु ख को नष्ट करने हेतु इन्द्रिय सुख के भोग से भी पूणतया विरत हो जाते ह। ज्ञानानन्द और इन्द्रिय सुख भोग भिन्न भिन्न समुदाय के अवयव है उनमे मेल नही है एक दूसरे के घातक ह। जो ज्ञानानन्द म लीन होता है उसे इन्द्रिय-सुख भोग के अथ ही गायब हो जाते है। तथा जो इन्द्रिय सुख भोग म प्रवृत्ति बनाये रखते हैं उन्हे ज्ञानानन्द अनुभव म नही आता। ज्ञानानन्द म जाने वाले एक दिन पूर्ण ज्ञानानन्दी हो जाते है।

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण कर्ता कम आदि कारकों का है। कर्त्ता कम करण सम्प्रदान अपादान और अधिकरण—इन छह कारको का एक समुदाय ह। यदि निश्चय म जीव अपने स्वभाव का कर्त्ता है तो फिर वह कम करण आदि सब रूप भी ह। यदि एक भी कारक को निश्चय म हम स्वीकार नही करेगे तो शेष को भी हम जीव के सम्बन्ध म स्वीकार न कर सकेंगे। ऐसी स्थिति म जीव की अपने सम्बन्ध म कोइ जिम्मेदारी नही होगी यह षट्कारक की अवस्था आ [illegible] बाह्य म भी उसके कोई कारक सम्भव नही होगे। बाह्य की [illegible] [illegible] षट्कारकरूपता के होते ही सभव है। निश्चय बिना भी व्यवहार [illegible] की भांति आकाश का भी उबाल सकेगी।

के था अन्य समय कर्म आदि थी है। सुकुमाल ने पूर्व भव में भौजाई के ठोकर मारी थी भौजाई ने भुगासी की पर्याय में उनकी टाग भी खाई। इस जगत में देने का लेना है। कोई भी जीव यहां अन्य/अन्यो को ठोकर मारने मात्र का अधिकार नहीं रख सकता। यदि उसे ठोकर खाने से बचना है तो अन्यो को ठोकर मारना भी उसे छोड़ना होगा। राजा ऋषभदेव ने तो जनता के हित मे बैलों का मुंह बांध देने की शिक्षा दी थी कि वे फसल न खा सकें तो भी उन्हें स्वय को छह माह निराहार रहते भिक्षार्थ भ्रमण करना पड़ा।

इस प्रकार हम देखते है कि व्यवहार मे कारको का अपना-अपना समुदाय है। यदि उनमे एक अवयव उपस्थित है तो अन्य भी या तो अभी ही उपस्थित हो जाता है या कालान्तर मे उपस्थित हो जाता है, अच्छाई या बुराई की हुई अवश्य नियमपूर्वक अपना फल लाती है।

जैसे व्यवहार अथवा निश्चय कारको के अपने-अपने अवयवो मे तालमेल होता है और एक व्यवस्थित समुदाय रचना होती है, उसी प्रकार का तालमेल निश्चय और व्यवहार कारकों के बीच होता है। केवल ज्ञानी यदि आत्मा के परम उत्कर्ष को प्राप्त हुए है तो देह भी परमोदारिक ही होगी और चारो ओर वातावरण मे सुख शान्ति होगी। यह नहीं हो सकता कि आत्मा तो सुख हो केवल ज्ञान का स्वामी हुआ हो और देह रुग्ण हो क्षुधादि से पीड़ित हो।

जो जन जीव के तथा अन्य पदार्थों के समुदाय और अवयव रूप को नहीं समझ पाते वे स्वय को दुःख के कीचड़ से बाहर नहीं निकाल सकते न ही अन्यो के निकालने मे मदद कर सकते है। वे नहीं जानते कि 'चक्की अथवा चूहे द्वारा काटी हुई साड़ी पहनने से दुर्भाग्य आता है और रात्रि भोजन से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है' ॥११ १२॥

१३. हे जिनेन्द्र ! आप अनित्य रूप से अवभासित होते हैं और निश्चय ही नित्य भी अवभासित होते है। आपकी यह द्वितयी शक्ति निश्चय ही अनाकुल रूप से कार्य कारिता की रचना करती है।

१४ हे भगवन् ! क्या अनित्यता बिना क्रम होता है, और क्या उस पर आक्रमण किये बिना नित्यता होती है ? आप स्वय क्रम अक्रम की रचना करते हुए क्या द्वयात्मकता को छोड़ते है ?

१५ इस लोक में स्व ही एक कारण नहीं है तथा न पर ही उस रूप होता हुआ एक कारण है। स्व तथा पर का अवलम्बन लेकर उद्यम करने वाले आपके अनुसार कार्य की सिद्धि मे कारण द्वितय रूप है।

१६ निश्चय से आपकी बोधमयता पर से नहीं है तथा विज्ञान में विभाव स्वयं से नहीं है। इस प्रकार हे देव ! आपके केवल ज्ञान में दो प्रकार का कारण प्रकट उपस्थित होता है।

१७ आपका स्व तथा पर दोनों को प्रकाशित करने वाले उपयोग का वैभव दो दिशाओं को जाता है। वहिर्मु ख और अन्तर्मु ख उल्लास के विक्रम से वह वसा ही अनुभव मे आता है।

१८ हे भगवन ! द्वयात्मक ज्ञान और दर्शन से युक्त आप चारो ओर पदार्थों का तथा स्वय का स्पष्ट अवभासन करते हुए मणिदीप के समान प्रतीत होते है।

१६ पर का अवभासन करते हुए आप वस्तु के गौरव के कारण परता को प्राप्त नही हो पाते है। जो पर का अवभासन है वह पर का अवलम्बन लेकर आत्मा का ही अवभासन है।

२० व्यवहार दृष्टि से देखने वालो को आप पराश्रयी और परमार्थ दृष्टि से देखने वालों को आप सदा आत्माश्रयी एक साथ प्रतिभासित होते है। आपकी इस द्वितयी गति की सामर्थ्य भिन्न ही है।

२१ यदि आप सर्वगत भी प्रतिभासित होते हैं तो अपनी सीमा मे अत्यन्त नियत भी प्रतिभासित होते है। अत द्वयात्मक रूप से प्रतिभासित होते हुए आपकी स्वपराश्रयता विरुद्ध नही है।

जगत के जीवादि पदार्थ द्वितीय रूप है। वे नित्य है साथ ही परिणमन स्वभावी होने से अनित्य है। उनका परिणमन पुन स्व तथा पर पदार्थो का अवलम्बन लेता हुआ द्वितीय रूप से कार्य करता है। इस दोहरी द्वितयता मे प्रत्येक वस्तु व्यवस्थित है। यह उनके अस्तित्व का प्रारूप है और इसका उल्लघन सभव नही है। मानव को यदि आत्मसिद्धि करनी है तो उसे अपनी नित्यानित्यात्मकता और स्वपरावलम्बन पूर्वक व्यवहार की परिपाटी को समझना होगा।

मानव को समझना होगा कि वह अनन्त गुण वैभव से अकारण निरय युक्त एक चेतन द्रव्य है। यह अकारण है अर्थात् यह न उसके द्वारा कृत है, न अन्यकृत है न इसे कम किया जा सकता तथा न ही बढाया जा सकता है। अत किसी के द्वारा इसकी हानि या लाभ का कोई भय या प्रलोभन व्यर्थ है। यह स्वय तो काल से अतीत अक्रमभूत है पर इसकी अभिव्यक्ति मानव को इसकी अनुभूति इसका परिणमन काल के क्रम मे स्व-परावलम्बन पूर्वक अनित्य रूप से होता है।

मानव का आत्म वभव नित्य अक्रमभूत है और इसकी अभिव्यक्ति क्रमनियत अनित्य है। यह नित्य वभव सवगत है विश्वमय है। अत इसकी अभिव्यक्ति मे बाह्य पदार्थ प्रसग परिस्थिति अवलम्बन सदर्भ बन जाते है। ज्ञानादि गुणो की अभिव्यक्ति प्रसगोचित रूप से होती है। अर्था-

नित्यानित्यात्मकता की द्वितयता के साथ म पुन अभिव्यक्ति के स्तर पर स्व पराश्रयता की द्वितयता जुड जाती है। परिणमनशील विश्व पदार्थों के बीच मानव में ज्ञानादि गुण भी उनके समानान्तर परिणमन करते हुए ही व्यक्त होते है अन्यथा ज्ञान ज्ञान ज्ञान-दर्शन ही नही रहगे।

क्रमिक रूप से हो रही इस स्व-पर प्रकाशकता मे पर कारण रूप स प्रवेश करते है। आत्मा की विश्वबोधमयता म ये कारण बनते है। उनके अनुरूप ज्ञान म नानापन की अभिव्यक्ति उनके अवलम्बन से है। केवल ज्ञान ही नही दर्शन और चारित्र की भी अभिव्यक्ति इस ही प्रकार स्वपरावलम्बी है। अत आत्मसिद्धि के मार्ग पर चलने वाला साधक स्व तथा पर दोनो का अवलम्बन लेता हुआ ही अपने उद्देश्य पूर्ति म प्रवृत्त होता है। वस्तुत चाहे सरागी सामान्य मानव हो अथवा मुमुक्ष हो इष्ट सिद्धि का मार्ग तो स्व परावलम्बन से ही तय होता है। इतना ही नही जिन्होने आत्मा सिद्ध कर लिया है व अर्हन्त तथा सिद्ध भी स्व-परावभासन रूप द्वितयता को छोडते नही है क्योकि यह स्वभावभूत है।

नित्यानित्यता स्व-परावभासन और स्व-परावलम्बन की द्वितयताय एक साथ मानव के अनुभव का विषय बन रहे हैं। इनम नित्य स्वावभासन तथा स्वावलम्बन तो निर्विवादत श्रेय रूप है ही। अनित्यता परावभासन और परावलम्बन प्राय मानव की दुर्बलता से सक्लेष के कारण बन जाते है और मुमुक्ष मानव द्वितयता का उल्लघन कर अनित्यता रहित नित्य की परावभासन से रिक्त स्वावभासन की ओर परावलम्बन मे शून्य स्वावलम्बन मात्र की कभी कभी आकाक्षा करते ह। पर अनित्यता तो परिणमन शील स्वभाव की अगभूत होने मे अपरिहार्य ह हम उस अधिक से अधिक दृष्टि मे गौण रखें या उसे नित्य की क्रीडा मान नित्य का ही अगभूत स्वीकार कर निश्चिन्त हो। परावभासन से दुर्बल रागी मानव कम मल सचित कर ससार चक्र मे पडता हो तो वह भय करे मुमुक्षु ज्ञानी जनो के तो यह विश्वमय आत्मा का अपना ही अवभासन होने से कोई कम सचय और ससार की दीर्घता का कारण बनता नही। इसी प्रकार परावलम्बन से जब आत्म वैभव का ही मानव को स्पर्श मिलता है तो उसम दोष क्या है ? उसे छोडने के चक्कर मे आत्म गुणो का स्पर्श जो छूट जायेगा तो अवश्य महान ही दोष हो जायेगा भयकर कर्म बध हो जायगे और ससार अति दीर्घ हो जायेगा। नित्य स्वावभासन तथा स्वावलम्बन विपक्षी अनित्य परावभासन तथा परावलम्बन बिना उपलब्ध न होने स हमे इनसे अज्ञान पूर्वक होने वाले सक्लेश और रागद्वेषादि से बचकर इनके बीच चलना सीखना ही होगा। अथवा यह कहे कि जसे अनित्य नित्य का व्यवहारिक रूप होने से नित्य का ही स्पर्श है वसे ही व्यवहार से जो परावभासन तथा परावलम्बन है वह निश्चय म देख तो, सब षटकारक आत्मा म ही घटित होने से स्वावभासन और स्वावलम्बन ही है। जो वस्तु म निश्चय से नही है उसका व्यवहार भी कभी बनता नही है। अत किसी व्यवहार से हमे सक्लेष है तो अपने निश्चय पक्ष को ठीक करे अज्ञान और रागद्वेषादि दोषो से अपन को मुक्त कर। श्वान की वृत्ति अपना कर बाह्य मे व्यवहार से झगडा न कर सिंह की वृत्ति धारण कर मूल को समाल अपन विकारो/दोषो को नष्ट करे।

२२ हे देव ! अपवाद पदों के द्वारा आपकी उत्सग रूप महिमा के चारो ओर मे खण्डित हो जाने पर देखन वाले को आपकी महिमा तत-अतत रूप ही प्रतिभासित होती है।

२३ हे देव ! इस प्रकार अनवस्थिति का आश्रय लेती हुई मानव के जीवन म जो व्यवस्थिति कर रही है एसी आपकी महिमा अत्यन्त विघट्टित होने पर भी किंचित नही कापती है।

जैन दशन मानव को जीवन म अनेकात की प्रतिष्ठा कर अपने समग्र आत्म वभव को उपलब्ध होने की प्ररणा करता है। जैसे साध्य की सिद्धि साधना द्वारा होती है उत्सग को भी अपवाद सहायक रूप मे आवश्यक है। मानव उत्सग और अपवाद के बीच जीता ह तथा इनके सम्यक् ताल मेल पर उसकी सुख शान्ति निभर करती है। उत्सग स्वरूप उसका नित्य अकारण आत्म गुणो का वभव है उसका अपने ही अवलम्बन से अवभासन है। इस उत्सग के साथ अपवाद खडा हुआ है। प्रतिपक्ष से रहित जगत मे कुछ भी नही है। यदि गुण वभव नित्य अक्रम रूप ह तो उसकी पर्याय रूप अभिव्यक्ति अनित्य क्रमिक रूप से होती है। विश्व के ज्ञाता आत्मा का यदि स्वय का अवभासन प्रकाशन उत्सर्ग है तो अपवाद रूप से पर पदार्थों का भी अवभासन करता है। इसी प्रकार स्व तथा पर के ज्ञायक आत्मा के ज्ञानादि गुण जहा स्वय क अवलम्बन स उत्सग रूप मे वतन करते है वहा ही वे पर पदार्थों के अनुरूप वतन करन म परावलम्बन का भी अपवाद रूप स स्वीकार करते है। उत्सग और अपवाद दोनो इस प्रकार जीवादि पदार्थों को निश्चय और व्यवहार की समग्रता प्रदान करत है। उत्सग पदाथ का निश्चय रूप है और अपवाद व्यवहार रूप ह।

अनित्यता परावभासन और परावलम्बन क अपवाद जीव को भांति भांति म नदित कर रह ह। (१) आत्मा के नित्य वभव की आशिक अभिव्यक्ति करती अनित्य पर्याया का उत्पाद-व्यय मानव को थका देता है। उसे लगता हे कि वह क्रम को पूरा करना हुआ क्रम के अन्त को प्राप्त कर रहा है, रिक्त हो रहा है। (२) जगत के एक के बाद दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करना हुआ मानव प्राय विडम्बित हो जाता है उनमे उलझ जाता है। उसे लगता है परिवतनशील [illegible] म उसका कही कोई आश्रय स्थान नही है। (३) परावलम्बन पूवक हो रह [illegible] पर्याया क उत्पाद व्यय म मानव दासता का अनुभव करता है स्वतन्त्रता खोयी हुई सी लगती है।

सका ? स्वावभासन जिन अर्हन्तो ने सम्पूर्ण रूप से किया उन्होंने परावभासन भी सम्पूर्ण रूप से ही किया। यह ही कथा स्वावलम्बन परावलम्बन की है। केवल ज्ञानी सम्पूर्णतया स्वावलम्बी हुए है तो ज्ञान मे सम्पूर्ण लोकालोक का परावलम्बन भी उनका उत्कृष्ट है। इस प्रकार अपवाद पदो को सम्पूर्ण रूप से स्वीकार करने पर भी उनकी महिमा किंचित भी कम नही हुई है, वरन् वे निश्चय (उत्सर्ग) और व्यवहार (अपवाद) के परस्पर सुमेल से कृतकृत्य प्रभु पद को प्राप्त हुए है। अज्ञानी रागी जन उत्सर्ग की महिमा को जानते ही नही अत वे अपवाद के द्वारा खडित ही खडित होते है उनका लाभ वे नही ले पाते। जिनेन्द्र के मार्ग मे अपवादो के बीच उत्सर्ग का निष्कप विधान किया जाता है। जो अवस्थित (एक रूप) के पक्षधर है वे उत्सर्ग और अपवाद मे अनवस्थित (अनेक रूप) इस जगत मे ठगाये जाते है। यहाँ प्रसग के मुताबिक जो प्रयोजनभूत (तद्रूप) है वह प्रसग बदलने के साथ अप्रयोजनभूत (अतद्रूप) हो जाता है। इस प्रकार की अनवस्थिति ही जब इस जगत के पदार्थों का यथार्थ है तो इस यथार्थ के परिप्रक्ष्य मे ही मानव को उत्सर्ग की महिमा की प्रतिष्ठा करने का प्रयास करना होगा ॥२२ २३॥

२४ आपकी हठपूर्वक की गई इस विवेचना से अत्यन्त पेले गये गन्ने से निकलते हुए रस प्रवाह के समान यह स्वरस का पूर छलकता हुआ मुझे सब ओर से निमग्न कर देगा।

२५ हे भगवन् ! आपके चरणो को प्राप्त मेरी मोह रात्रि व्यतीत हो गई है तथा मैं जागृत हो गया हू । कृपया मुझ भक्त को उठा कर अपनी गोद मे ले लीजिए।

शुद्ध आत्मा की नित्यानित्यता स्वपरावभासनता स्वपरावलम्बनता आदि उत्सर्ग और अपवाद का सग्रह करती तत्-अतत् रूपताओ उसकी द्वयात्मकताओ के चिंतन-मनन से तथा अन्य भी अनेक विध उसके स्वरूप चिंतन से मानव के अज्ञान अधेरे मिटते है ज्ञान के उजाले प्रकट होते है आनन्द के पूर उमडते हैं, शक्ति के स्रोत फूटते है और वह अन्दर बाहर चारो ओर से नया ही जीवन प्राप्त कर लेता है। शुद्ध आत्म स्वरूप की तथा उसकी प्राप्ति के मार्ग की चर्चा चिंतन के समान जगत मे कुछ भी शुभतर नही है, अत मानव को पूरी दृढता से उसमे सलग्न होना चाहिए। जब तक मोह रात्रि के अधेरे मानव के चित्त पर छाये रहते है वह आरम्भ-परिग्रह और रागद्वेष की क्षुद्रताओ मे रस लेता है। जब मोह भग होकर मानव को आत्म स्वरूप का भान होता है और उसमे रस आता है तब वह चाहता है कि इस स्वरूप के स्पर्श मे वह डूबा रह जाये कही अन्यत्र तुच्छ व्यर्थ की बातो मे अपना समय और शक्ति जाया न करे ॥२४ २५॥

१६

१ जिसमें अनन्त बोध शक्ति उदित हो रही है जो त्रिकालवर्ती के समग्र विश्व को सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करने वाला है जो परम उत्कृष्ट रुचि को धारण करने वाला है, जो स्वतृप्त है एसा आपका स्वभाव स्पष्ट अनुभव में आ रहा है।

२ हे जिनवर ! चारों ओर से पीडयमान होते आप कदाचित थोड भी नीरस नही होते है वरन निरन्तर अधिक-अधिक निस्सीम ज्ञान का अमृत रस निरन्तर प्रदान करते है।

३ शान्त रस के कलश समूह के क्रमश विस्तार को प्राप्त हुए प्रवाह द्वारा जो सब ओर से घुला है ऐसा असीम पर्यायो से लगा हुआ कषाय रग किसी तरह गल गया।

४ हे आत्मवान। अच्छी तरह आधारित ज्ञान रूपी तीक्ष्ण अस्त्र के पात से तड-तडकर टूटते हुए इस कषाय के द्वारा आपका स्वभाव अत्यन्त भार से भरी, उछलती हुई आत्मशक्तियो के समूह के विकास को प्राप्त कराया गया है।

५ अनन्त भव भूमियो के निम्न गर्तो से वड वेग सहित बहुत भारी प्रवाह रूप से उछलता हुआ, अत्यन्त विस्तृत आपका यह निमल बोध का स्वरस समूह समग्र पूर को करता है।

६ हे विभो ! आप सीमा रहित निम्न भाव धारण करते है और सीमा रहित विशुद्ध बोध से स्वय को भरते है। आप सीमा रहित ऊचाई धारण करते है और आप में सीमा रहित बोध सुशोभित होता है।

७ हे विभो ! यह आप निस्सीम बोध से भरे हुए निस्सीम ही प्रतीत होते है। स्वय परिमित प्रदेशी होते हुए भी आप बलपूवक एकत्रित किये गये बोध के वभव स युक्त है।

८ समग्र कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए गुण सहज रूप से आश्रय लेने से निश्चय से कभी नष्ट नही होते। इसी कारण अनन्त वीय से सुरक्षित आपका अनन्त वोध शोभा पा रहा है।

आत्मा मे कपाय और ज्ञान एक-दूसरे के विरोधी है। यदि मानव को ज्ञान के स्वरस/अमृत रस मे स्नान करना है तो उसे कपाय से स्वय को मुक्त करना होगा। कपाय आत्मा को अशुद्ध क्षीण करता है ज्ञान कपाय को नष्ट कर आत्मा को ऊचाई देता है। कपायी मानव झूठे ही ऊँचा होना चाहता है। ज्ञानी मृदु होता है वह सवत्र से ज्ञान ग्रहण करने को तत्पर रहता है और स्व परिमित प्रदशी होते भी ज्ञान उसे निस्सीम बना देता है। कपाय ज्ञान पर आवरण डालता है, ज्ञान चिरकाल के वर आदि कपाय को गला देता है। कपाय कम वध करता है तथा ज्ञान

वीर्य आदि सभी गुणों को क्षीण करता है। ज्ञानास्त्र से कषाय के तड-तडकर टूट जाने पर कर्म वध टिक नही पाते अनन्त वीर्य जाग जाता है और तब ज्ञान सहज सुरक्षित हो जाता है।

मानव को प्राय ज्ञान और कषाय में भेद करना कठिन होता है और वह रागी होते भी स्वय को ज्ञानी मान लेता है। ज्ञान और राग के अन्तर की कसौटी है—(१) ज्ञान पदार्थ देशकाल विशेष की सीमा मे नही बधता। इसे तो अवसरोचित प्रत्येक ही ज्ञय इसका विषय बन कर तृप्त करता है। राग पदार्थ देश और काल विशेष मे बद्ध होता है। उसे अन्य मे अरुचि ही नही द्वष तक होता है। (२) ज्ञान पदार्थ ग्रहण करता सदैव अमृत रस प्रदान करता है क्योंकि वह उनके अवलम्बन से आत्मावभासन करता है। रागी थोड ही काल मे अपने विषयभूत पदार्थों से थक जाता है क्योकि वह पदार्थों के अवलम्बन से रति कषाय कर्म की वर्गणाओ के उदय का स्पर्श करता है जो अन्तमु हूर्त मे चुक जाने और अरति की वगणाओ के उदय मे आ जाने से उसे उन्ही पदार्थों से अरुचि ग्लानि उत्पन्न हो जाती है। (३) रागी की रुचि तो वाह्य अनुकूलताओ मे ही काम करती है प्रतिकूलताओ मे भाग जाती है पर ज्ञानी की स्व पर प्रकाशन मे रुचि गीला-सूखा नगर-जगल देश विदेश यह काल-वह काल जाति-सम्प्रदाय आदि किसी का भेद नही करती सर्वत्र उत्कृष्ट रूप से निर्बाध सचार करती है। इस प्रकार ज्ञानी निरन्तर रुचिवान उत्साहयुक्त और स्वतृप्त रहता है। (४) राग कर्मोदय जनित होने से कर्म लेप मे ही वृद्धि कर अपने मूलाधार ज्ञान वीर्यादि आत्मगुणो को क्षीण करता हुआ स्वय क्षीण हो जाता है। शान्त रस रूप ज्ञान कषायो को गलाता हुआ तोडता हुआ कर्म लेप नष्ट कर वीर्यादि सर्व आत्म गुणो के साथ-साथ स्वय को तीक्ष्ण करता हुआ त्रिलोक तथा त्रिकाल व्यापी हो जाता है। (५) ज्ञानी और रागी दोनो ही आत्म प्रदेशो से बाहर अपने प्रसार क्षत्र मे वृद्धि करना चाहते है क्योंकि आत्मा की ज्ञान मे विश्वव्यापकता को सीमा मे बाँधना स्वीकार नही है। ज्ञानी के तो अन्तराय नष्ट होकर अनन्तवीर्य के जागने से भूत उसकी स्वभाव अभीप्सा की पूर्ति हो जाती है और वह त्रिकाल-त्रिलोक का सहज ज्ञाता बन जाता है। रागी अपने प्रयास को जितना उग्र करता है, आरम्भ-परिग्रह विषय भोग बैर-विरोध मे जितनी प्रवृत्ति करता है, उतना ही शीघ्र अन्तर्बाह्य विपरीतताओ से घिर कर नष्ट हो जाता है। (६) ज्ञानी विनयवान होता है। उसे पदार्थों को जानने की स्वाभाविक रूप से उत्सुकता होती है। वह उन्हे जानकर अपनी निस्सीमता के वेदन से तृप्ति का अनुभव करता है। ज्ञान शक्ति का यह विकास जीव अनेक जन्मो म कर पाता है। राग द्वष के चक्कर मे पडा मानव ज्ञान की वह दुलभता और तृप्तिकारकता समझ नही पाता। जो राग द्वष छोड आत्मा की बात करते है वे भी प्राय प्रदेश प्रमाणता के एकान्त मे फँस जाते है और ज्ञान मे विश्व व्यापन को मूल्य न देकर थोथे रह जाते है ॥१—८॥

९ दर्शन तथा ज्ञान से गम्भीर आपके आत्मतत्त्व की अचल विहार सीमा अवगाह हीन रूप स प्रवेश कर रहे निस्सीम महिमा वाले पदाथ समूह द्वारा अन्य द्रव्यो स भिन्न की जाती हैं।

१० हे देव! आपके निस्सीम बोध सागर के मध्य में चारों ओर से तरता

विश्व समुद्र में मगरमच्छों के समूह समान अपने गात्र से सन्निवेश की रेखाओं को रचता सा जान पड़ता है।

११ इस प्रकार पद पद पर भुवन भर का महान विकल्प वाली अपनी अनन्त स्व-शक्ति को प्रकट कर रहा है। वह आपके ज्ञान की अनन्त गरिमा में उदय को प्राप्त हो रहा है।

१२. जो विधि और निषेध सहित अद्भुत स्वभाव से स्व और पर के विभाग को मजबूती से पकड़े हुए हैं ऐसे आप निस्सीम महिमा से विश्व को अभिभूत करने वाले ज्ञान को धारण करते हुए एकपने को प्राप्त नहीं होते है।

१३ समान भाव की अपेक्षा भेद उदित नही होता और विशेष की अपेक्षा सब ओर से भेद ही होता है। आपका आत्म वस्तु भाव इन दोनो का अतिगाढ़ रूप से अवलम्बन लेकर प्रत्यक्ष रूप से परिणमन कर रहा है।

१४ हे विभो! इस एक अनन्त शक्ति चक्र का एक साथ अवगाहन करते हुए आप सदा ही एक अनेक और उभय रूप से सिद्ध इस स्वभाव का अनुभव करते है।

१५ हे वरद! इस लोक मे घटित हो रही निस्सीम भाव धारा के रूप मे अक्रमवर्ती अनन्त शक्तियाँ परिणमित होती है। क्योंकि यह आत्मा का स्पष्ट अनुभव है अत आत्मा भी अनन्त है।

१६ आपका वह आत्म वैभव स्व तथा पर के निमित्तवश प्रति समय सुशोभित विभूतिपूर्ण अनन्त भाव रूप अपनी स्वभाव शक्ति से परिणमन करता हुआ इस लोक में प्रत्यक्ष स्फुरित हो रहा है।

१७ आपका चैतन्य धातु इस अचल अनादि अनन्त एक समस्त गुण-पर्यायों से पूर्ण अपने अन्वय (द्रव्य) का स्वय अनुसरण करता हुआ समस्त पर अन्वयों को पीता-सा जान पड़ता है।

आत्मा एक चैतन्य धातु है। वह अचल है क्योंकि कभी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता अनादि है क्योंकि कभी इसका आरम्भ नहीं हुआ है, अनन्त है क्योंकि कभी नष्ट नहीं होता एक है क्योंकि अनेकों का समूह नहीं है साथ ही अनन्त गुण-पर्यायों का पुंज है। अपने ही गुण-पर्यायों

के स्पर्श हेतु यह निरंतर परिणमनशील है। दर्शन ज्ञान गुण सम्पन्न होने से यह अपना अनुसरण/स्पर्श करने के साथ-साथ लगता है मानो—(१) यह त्रिलोक तथा त्रिकाल के पदार्थों को पी रहा है तथा सारा जगत और कुछ नही मात्र ज्ञाता आत्मा का पेय पदार्थ है। (२) सब पदार्थ अपने प्रदेशो को बाहर ही छोडकर आत्मा की विहार सीमा मे प्रवेश कर रहे है अत यह सबसे निराला है। (३) प्रवेश करते हुए जगत के पदार्थ आत्मा के ज्ञान समुद्र मे मगरमच्छो की भांति अपने पीछे रेखाये आनन्द तरग छोडे जा रहे है।

नाना शक्तियो से सम्पन्न जगत के पदार्थों का अदभुत विकल्प जाल ज्ञाता के ज्ञान मे एक साथ उदय को प्राप्त होकर न तो ज्ञाता से तथा न परस्पर मे मिश्रित होकर अपने नानापन को छोडते है। ज्ञाता अपने अद्भुत विधि तथा निषेध स्वभाव से उन्हे मजबूती से ग्रहण करता है जो जिस प्रकार है उस प्रकार उसको विधि तथा अन्य प्रकार निषेध करता है। वे ज्ञान की निस्सीम महिमा मे सहज ही अभिभूत/अनुशासित रहते है कोई भ्रम उत्पन्न नही करते।

ज्ञान के लोक म ज्ञाता आत्मा और ज्ञेय पदार्थों का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सही है कि ज्ञान मे नाना रूप से ज्ञेयो के ग्रहण मे ज्ञेय पदार्थ निमित्त ह तथापि उनका ग्रहण तो ज्ञाता की अपनी सामर्थ्य से ही होता है। इस सामर्थ्य के बल पर जगत के पदार्थों को ज्ञेय बनाता हुआ ज्ञाता नाना विध गहन अनुभूतियो मे प्रवेश करता है। जगत के अनन्त पदार्थों को ज्ञान मे ग्रहण कर वह अनन्तता का स्व त देह प्रमाण होते भी अनुभव करता है। इन्ही के ग्रहण से वह एक होते भी अनेकता का एकानेकता का अनुभव करता है। जो समान है उनसे अभेद अनुभव के द्वारा आत्म स्पर्श करता है तथा जो भिन्न है उनसे भेद रूप अपना स्पर्श करता है। इस प्रकार ज्ञाता जगत के पदार्थों को ज्ञेय बनाता हुआ नानाविध आत्मानभूति को विस्तृत गहन स्पष्ट तीक्ष्ण करता है। ज्यो-ज्यो मानव की इस प्रकार आत्मानुभूति का विस्तार होता जाता है उसके दोष दुर्बलताये नष्ट होते जाते है॥ ६–१७॥

१८ जो इस जगत को उसकी अखण्ड मूल सत्ता स लकर अन्तिम भेद तक निरन्तर पद पद पर अत्यन्त विदीर्ण करता है एसा आपका यह अत्यन्त तीक्ष्ण ज्ञान रूपी अस्त्र उदित हुआ है।

१९ एक ही काल मे विघटित हो रहे और सयुक्त हो रहे समस्त पदार्थ मण्डल को जानते हुए आपकी अवयव और समुदाय को जानन वाली ज्ञान लक्ष्मी एक साथ सुशोभित हो रही है।

समस्त पदार्थों के समुदाय का नाम जगत है। यह तो एक ही काल म नाना रूप अपने अवयवो मे विभाजित हो रहा है एव अवयव नाना समुदायो की रचना मे सयुक्त हो रहे है। विभाजन एव सयोग की यह प्रक्रिया छोटे-बडे पैमाने पर जगत मे चारो ओर चल रही है। इस प्रक्रिया से ही जगत की हलचल रोजमर्रा के व्यापार सचालित होते है इतिहास बनता है।

अखण्ड रूप से सत्' ही विश्व का मूल है। सब ही पदार्थ सत् रूप होने से इसमे गर्भित होते है और उसमे जीव अजीव का भेद गौण है। भेद प्रमुख होते है तो सत् जीव तथा अजीव मे जीव मनुष्य देव, तिर्यंच तथा नारकी में मनुष्य भोगभूमिज तथा कर्मभूमिज मे कर्मभूमिज आर्य और म्लेच्छ मे आर्य भारतीय तथा अभारतीय म विभाजित होते है। आगे इसी प्रकार प्रदेश नगर मोहल्ला परिवार के स्तर से बढता हुआ विभाजन अविभाज्य एक मानव पर आकर रुकता है। जिन बातो मे मानव स्वय ही पर्याप्त है वह अकेला ही अपने कार्य सम्पन्न करता है तथा आवश्यकतानुसार वह छोटे-बडे समुदाय का अग बनकर जीता है। इस प्रकार यह विभाजन और सयोग की प्रक्रिया जगत मे निरन्तर चल रही है। तीक्ष्ण ज्ञान इसे समझ लेता है और सहजभाव से स्वीकार कर स्वय की समृद्धि का विस्तार करता है। कषाय कही आवश्यक विभाजन के प्रति मृदु नही होती कही उचित सयोग के प्रति कठोर होती है या भय खाती है और कही अनावश्यक ही विभाजन या सयोग की जिद करती है॥ १८–१९ ॥

२० आप अपने शुद्ध ज्ञान तेज के द्वारा जड तथा चेतन पदार्थों को एक चेतन भाव प्राप्त कराते है। किन्तु आपका ही ज्ञान तेज इस लोक मे इनके बहुत भारी अन्तर को प्रकट करता है।

२१ हे वरद ! स्वभाव से अविभामय विश्व आपकी सहज विभा के समूह से सुशोभित हो रहा है। सूर्य के तेज से नहलाये जाने पर भी आपके अभाव मे यह जगत किंचित भी सुशोभित नही होता।

२२ हे वरद् ! विश्व को अपनी पूरी सामर्थ्य से स्पर्श करता हुआ भी आपका ज्ञान तेज पर पदार्थों का नही बन जाता। उज्ज्वल धारा से युक्त चूने का पानी भवन को धवल करता हुआ भी धवल गृह का स्वभाव नही हो जाता।

२३ हे जिनेन्द्र ! जिसकी सकल आत्मशक्तियों का सार परिणित हुआ तथा जो तीन जगत के स्वरूप रस से सीचा गया है वह आपका पुराना उपयोग रूपी कन्द एक साथ भिन्न-भिन्न रसों को ग्रहण करता है।

२४ यह परमागम रूप प्रकाश जिसकी महिमा एकदम स्पष्ट है तथा जो त्रिकाल जगत का अद्वितीय दीपक है यह भी आपके ज्ञान के एक कोने मे दिन मे जुगनु की लीला को प्राप्त हो रहा है।

२५ निरन्तर विलसित होने वाली सकल कलाओं से सुशोभित हे वरदायक केवल ज्ञानी ! आप मेरे ज्ञान की उस चिनगारी मे जो अपनी गरिमा के निरन्तर दबाव से बलपूर्वक होने वाले विकास से विशाल है शीघ्र ही क्रम से प्रवेश करे।

आत्मा एक चेतन धातु है। जगत के जड तथा चेतन पदार्थ इसके ज्ञान लोक म प्रवश कर चिन्मय हो जाते है। अत उनको जानना देखना इसका अपनी ही चेतना का विस्तार होता है अपना ही स्पश होता है। यह जड पदार्थों को जड जानता भी अपनी चिन्मयता का स्पश तो करता ही है। जगत मे मानव की चेतना स अधिक सुन्दर कुछ भी नही है। इसकी विभा/प्रभा अद्भुत है। जगत म सूय का प्रकाश रत्नो की कान्ति भौतिक साधना का अबार-सब कुछ होने पर भी यदि मानव की चेतना रुग्ण है अज्ञान स धूमिल है तो बाह्य इन सब के क्या अथ है? मानव की निमल तेजस्वी चेतना मे उजाले होते तो दिगम्बर सन्त मे चारो ओर की श्मशान भूमि के सन्नाटे यहा तक कि श्यालनी द्वारा उनके शववत् निश्चेष्ट तन का नोचे जाना भी विभामय हो जाता है और उन्हे कममुक्त करने म सहायक हो जाता है। जैसे चूने की सफेदी गारे पत्थरो को दबा कर भवन को धवल कर देती है पर स्वय भवन नही हो जाती उसी प्रकार जगत के प्रत्येक पदाथ को चैतन्य दीप्ति अपनी विभा से सुशोभित करती हुई स्वय निर्लिप्त रहती है अपनापन नही छोडती।

एक ओर चैतन्य दीप्ति जगत के पदार्थों को ग्रहण कर उन्ह विभामय करती है दूसरी ओर जगत के पदार्थों का स्वरूप रस ग्रहण कर मानव की सकल आत्मशक्तियाँ शुद्ध सार रूप मे वतन करने लगती है तथा उसका उपयोग कन्द अनुभव-पुष्ट प्रौढ बन जाता है उसकी सामर्थ्य मे वृद्धि हो जाती है और वह जगत के समस्त पदार्थों प्रसगों के स्वरूप रसो को एक साथ ग्रहण करने की सामर्थ्य से सम्पन्न हो जाता है अर्थात् मानव केवल ज्ञानी हो जाता है। कवल ज्ञान सर्य के उदित होते ही उस महापुरुष के लिए आग—पय का/परमागम का ज्ञान जो छद्मस्थ काल मे उसके अज्ञान अँधेरे मिटा लोकालोक के पदार्थों को दीपक के समान प्रकाशित करता था दिन म जुगनु की स्थिति को प्राप्त हो जाता है। दिन मे चारो ओर फैले प्रकाश के बीच जुगनु का प्रकाश जैसे एक कोने को ही प्रकाशित करता है उसी प्रकार परमागम का स्पष्ट प्रकाश भी शुद्ध ज्ञान सर्य के प्रकाश की तुलना मे बहुत अल्प ही होता है। कवल ज्ञानी परमात्मा बनने पर वह मानव ज्ञान ध्यान तप मे लीन साधु जनो के द्वारा प्रार्थना उपासना किये जाने का पात्र बन जाता है वे भी उसे अपने चित्त के आसन पर विराजमान कर स्वय को पवित्र अनुभव करते है॥ २०–२५॥

१७

१ हे वरद्! शक्ति सम्पन्न शब्द वस्तु के विधि और निषध दोनो स्वभाव रूप होने से एक अश मे स्खलित होत हुए आपके अनुग्रह से स्याद्वाद के प्रबल समथन के द्वारा तत्त्वार्थ को कहते है।

२ अनिवार्य रूप स आत्मा ही जिसका वाच्य है ऐसा 'आत्मा' यह शब्द शुद्ध आत्म प्रकृति (स्वभाव) के कहने मे तत्पर हुआ प्रत्यक्ष रूप से स्फुरित होने वाले ऊँचे-नीचे इस त्रिलोक को अस्त कराकर अपने द्वारा ही अस्त को प्राप्त होता है।

३ उसके अस्त होने की नही इच्छा करने वाले आपके द्वारा ही स्यात्कार के आश्रय स समुत्पन्न गुण स अपेक्षा सहित विधि शक्ति को करते हुए यह निषध शक्ति दी गई है जो स्वरस से भरी हुई इस जगत मे गतिशील है।

४ उस निषेध पक्ष के योग से ये (शब्द) विधि के मधुर अक्षर कहते हुए भी स्वय के नष्ट होने के भय से चुपचाप ही अपनी चेष्टा मात्र से उच्च घोषणा करते हुए निषेध को कटुक कठोर रूप से रटते है।

५ त्रिलोक की विधिमयता को प्राप्त कराने वाला यह (त्रिलोक) शब्द भी इस जगत मे अथ को स्वय ही ग्रहण नही कर लेता है। यदि एसा हो तो निस्सीम वाच्य और वाचकों की देखी हुई यह भिन्नता विलय को प्राप्त हो जाती है।

६ शब्दों को स्वय अथ मान लिये जाने पर वाच्य-वाचकपना भ्रम माना जायेगा। किन्तु इस नियम के अभाव मे घट पदाथ ओर घट' शब्द का अथवा घट और पट शब्द का यह देखा जा रहा भेद कभी सिद्ध नही हो सकता।

७ इस जगत में 'सत् यह शब्द सकल पदार्थो का भासी होता हुआ भी सब पदार्थो को सकल रूप से सत नही कर देता है। वह पर रूप से स्वय असत् रहने वाले पदार्थो के रहते असत शब्द की नियम से अपेक्षा करता है।

८ सब ओर से अस्ति इस प्रकार का विकल्प प्रस्तुत होने पर स्वय उल्लसित हुई यह स्पष्ट अनुभूति जहाँ इस चेतन तत्त्व को उच्च स्वर से स्व अपेक्षा है' कहती है वहाँ उसे पर रूप स 'नही है' भी कहती है।

९ सब ओर से नास्ति इस प्रकार का विकल्प स्फुरित होने पर स्वय उल्लसित होती होती हुई यह स्पष्ट अनुभूति जहाँ चेतन तत्त्व को पर की अपेक्षा यक्त रूप से 'नही है' कहती है, वहाँ उस स्व की अपेक्षा उच्च स्वर स है' कहती है।

१० स्व और पर के भेद को जब कि यह विश्व प्राप्त है तो वह शब्द 'है' या 'नही है के अद्वत से क्या कह सकता है ? यदि केवल है कहता है तो भेद लुप्त होते है और यदि 'नही है' कहता है तो विश्व ही लुप्त होता है।

११ 'सत इस प्रकार का वचन एकान्त स विस्तृत विश्व का स्पश करके भी स्पष्ट रूप स निषेध पक्ष का अवगाहन करता है क्योकि सत पदार्थ एक-दूसरे का निषेध न करने से सहज प्रकट पृथकता को प्राप्त न हो सकगे।

१२ 'असत' शब्द एकान्त रूप से समस्त जगत को स्पर्श करके भी सामने स्फुरित होने वाली विधि का आश्रय लेता है, क्योंकि परस्पर असत होते भी विधि के अभाव मे यह अनन्त जगत स्वय उठने मे समर्थ नही है।

जगत और जगत के पदार्थ अनेकात स्वरूप है अर्थात् वे अस्ति-नास्ति रूप है। शब्द अस्ति पक्ष का विधि रूप कथन करता है नास्ति पक्ष का निषेध रूप कथन करता है। जब वह अस्ति पक्ष का विधि रूप कथन करता है तो नास्ति पक्ष का निषेध उसमे गर्भित होता है वह अस्ति पक्ष की विधि करता हुआ नास्ति पक्ष के निषेध को भी साथ ही इगित कर रहा है। शब्द की यह प्रकृति हमे स्वीकार होनी चाहिए। इस स्वीकृति का नाम ही स्याद्वाद है। यदि हमे शब्द के कथन मे स्वपक्ष की मात्र विधि ही सुनायी पडती है और पर पक्ष का निषेध ग्रहण नही होता है तो वस्तु का स्वपक्ष अपनी मर्यादा छोडकर पर पक्ष का लोप करता हुआ स्वय का भी लोप कर देगा। यह ही एकात है। जगत मे एकात रूप कुछ है ही नही, अर्थात् जगत मे कुछ भी ऐसा नही है जो अस्ति रूप तो हो पर उसका कोई नास्ति रूप न हो अथवा जो नास्ति रूप तो हो पर किसी 'अस्ति' के अन्य द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव रूप से नास्तित्व का सूचन न कर रहा हो। ऐसा होते शब्द प्रयोग से एकात रूप अर्थ ग्रहण अनर्थकारी ही होगा अवस्तभूत एकात का ग्रहण मानव मति को अवस्तु भूत कर देगा।

पदार्थो के अस्ति-नास्ति रूप और शब्द द्वारा उनके विधि निषेध के निम्न कुछ उदाहरणो से अनेकात और स्याद्वाद का महत्व हमे प्रकट हो जायेगा—

(क) आत्मा—प्रत्येक पदार्थ का/जीव का 'स्व' उसकी आत्मा है और सब ही पर पदार्थ अनात्मा है। यदि हम 'आत्मा' शब्द का विधि रूप ही स्वीकार कर तो इसका अर्थ होगा कि जगत मे आत्मा के अतिरिक्त जीव पुद्गल आदि कोई अन्य द्रव्य नही है लोक अलोक कुछ भी नही है। ऐसा होने पर ज्ञेय पदार्थो बिना आत्मा के ज्ञाता रूप का क्या होगा आकाश और काल बिना वह अवगाहन और वर्तन कैसे करेगा? आत्मा है तो आवश्यक रूप से वह अन्य पदार्थो के अवलम्बन सहित है और इसलिये आत्मा का विधि रूप कथन उन अनात्म पदार्थो के निषेधपूर्वक ही है। यह निषिद्ध अनात्म पक्ष आत्मा तो नही है, पर आत्मा के अवलम्बन रूप से अथवा सामान्य रूप से अवश्य है। जो पूर्णतया असम्बद्ध है उसको निषेध मे शामिल नही किया जाता। जो अन्य विवक्षा से आत्मा के अस्ति रूप मे स्वीकृत हो सकता है उसी का विवक्षा विशेष मे निषेध किया जाता है।

(ख) 'त्रिलोक' शब्द लोक के समस्त पदार्थो को समूह रूप से ग्रहण करने वाला है। कोई भी पदार्थ समूह विशेष का अवयव जितना ही नही है। उसके अन्य अनेक पक्ष है जिनके निषेध पूर्वक त्रिलोक का विधान हुआ है। अन्य वाचक जब उन पक्षो का विधान करेगे तो त्रिलोक के अवयव पक्ष के निषेध पूर्वक ही गौण करके ही हो सकेगा।

(ग) सत एव असत्— सत् शब्द जड चेतन सभी पदार्थों को निर्भेद रूप से अपना विषय बनाता है। वह भेदो को मात्र गौण करता है लोप नही करता। असत् शब्द भेदो की विवक्षा से किसी को भी अन्य रूप न पाकर सब को असत् घोषित करता है। सत् एव असत् दोनो ही पदार्थों के प्रकट रूप से पक्ष है। किसकी सामर्थ्य है जो इनमे किसी एक का भी लोप कर सके। असत् का लोप करें तो निर्विशेष सत् के कोई अर्थ नही रहेगे सत् का लोप कर तो असत् कहना भी कठिन होगा। (घ) अन्त मे शब्द स्वय अस्ति नास्ति स्वभाव से युक्त है। 'घट शब्द अपना ही वाचक बनता हुआ अन्य बाह्य घट पदार्थ का निषेध करता है तथा बाह्य 'घट का वाचक बनता हुआ स्वय अपना वाच्य नही रहता। यदि हम घट' शब्द को एकात से स्वय का ही वाचक मान कर बठ जाये तो बाह्य पदार्थ भेद स होने वाले घट आदि नाना शब्द प्रयोगो का कोई औचित्य नही रहेगा ॥१–१२॥

१३ लोक में भाव अथवा अभाव जगत के पदार्थ समूह से भिन्न नही हैं क्योकि वे दोनों स्वगत और परगत अपेक्षा स होते है। इस प्रकार एक अर्थ मे प्रवृत्त होने वाले शब्दों की द्विरूप शक्ति किसी अपेक्षा होती ही है।

१४ 'अस्ति' यह ध्वनि अनिवार्य रूप से 'नास्ति' को शान्त कर विश्व को विषमय नही कर देती है। वह अपने अर्थ को परगमन से दूर करने वाले निषेध का निश्चय से साक्षात स्पर्श करती ही है।

१५ नास्ति यह शब्द स्वच्छन्द गति स विश्व को शीघ्र ही शून्य रूप नही कर देता है क्योकि वह नास्ति' शब्द स्वय आत्म भूमि मे नियम स 'अस्ति' इस शब्द की अपेक्षा करता है।

पदार्थ का अपने रूप होना उसका भाव है अन्य रूप न होना उसका अभाव है। पदार्थ से रहित न कही भाव विद्यमान है और न ही अभाव। अस्ति शब्द पदार्थ के भाव पक्ष को कहता है और नास्ति शब्द उसके अभाव पक्ष को कहता है। यदि हम अस्ति पक्ष के साथ उसके अभाव रूप नास्ति पक्ष को न समझे तो उस रूप मे भी उस पदार्थ को प्राप्त करने की चेष्टा कर या तो हम पदार्थ का स्वरूप विकृत कर देगे अथवा उसे प्राप्त ही नही कर सकेंगे। रत्नत्रय के 'अस्ति पक्ष को मिथ्या दर्शन ज्ञान-चरित्र की दृढतापूर्वक नास्ति कर सुरक्षित नही किया गया तो रत्नत्रय मलिन हो जायेगा। इसी प्रकार मिथ्या दर्शन ज्ञान-चारित्र के नास्ति रूप मात्र मे हम मोक्ष की बात नही कर सकते मोक्ष का कोई अस्ति रूप तो हमे स्वीकारना ही होगा। इस प्रकार हम जगत का कोई पदार्थ ल उसके अस्ति तथा नास्ति पक्ष परस्पर अविनाभावी है। जसे पदार्थ अस्ति-नास्ति द्विरूप है वसे ही उसका वाचक भी द्विरूप है अर्थात् वह पदार्थ के अस्ति अथवा नास्ति पक्ष को व्यक्त करता हुआ दूसरे पक्ष को भी इगित कर रहा है व्यजित पक्ष की सीमा सूचित करता हुआ सार्थक हो रहा है।

शून्यवादी नास्ति' का विस्तार कर जगत के समस्त पदार्थों के साथ आत्मा की भी नास्ति करना चाहता है। पर यह घटित नही होता। अन्यो को नास्ति कहते हुए स्वय नास्ति' शब्द को टिकने के लिये तो भूमि चाहिए ही। जब मानव शून्य का वेदन करता है तो वेदन/चितना/अनुभूति का अस्तित्व विषद रूप से प्रकट होता है। इस प्रकार नास्ति कही टिक कर ही अन्य का निषेध कर सकता है।

१६ यदि विधि सापेक्ष स्वीकार नही की जाती है तो निश्चय से वह विधि रूप मे अथ को नही कहती है क्योकि निश्चय से वह विधि अपन नियत अथ को पर स निषिद्ध स्वय कहती है।

१७ स्यात्कार शब्द की उभयात्मक स्वशक्ति को करता है, सो क्या वह विद्यमान स्वशक्ति को करता है या अविद्यमान को ? यदि वह स्वभाव स ही विद्यमान है तो उसने क्या किया यदि नही है तो बलपूवक उसे करना युक्त नही है।

१८ शब्दो की उभयात्मक शक्ति स्वय है। उस शक्ति को अन्य असत् करने मे समथ नही है। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति स्याद्वाद मित्र के बिना कभी भी नही होती है।

१९ इस जगत मे एक ही वचन से दो अर्थो की सिद्धि होन पर दूसरे वचन का प्रयोग निष्फल क्यो नही होगा ? यदि फिर दूसरे शब्द का प्रयोग भी सफलता को प्राप्त होता है तो स्वय यह शब्दो की दोनो अर्थो के प्रतिपादन की योग्यता क्लेषदायक क्यो है ?

पदाथ अपने नियत अथ मे है भिन्न अथ मे नही। उसका विधि रूप कथन भी उसे नियत अथ मे ही स्वीकार करता है भिन्न अथ मे नही। पदाथ की उभयात्मक शक्ति (नियत रूप मे होना भिन्न रूप मे नही होना) को अभिव्यक्त करता हुआ शब्द भी उभयात्मक शक्ति वाला है। मानव अपनी विवक्षा अनुसार कभी विधि रूप एव कभी निषेध रूप कथन जब काम मे ले रहा है और वस्तु मे भी वह दोनो पक्ष प्रकट देख रहा है तो उसे विधि के शब्दो मे निषेध एव निषेध रूप कथनो मे विधि रूप कथन गर्भित लगना स्वाभाविक है। यदि ऐसा न होकर उसे विधि के कथन मे केवल विधि और निषेध के कथन मे केवल निषेध का ही ग्रहण होता है शब्द एकात्मक शक्ति वाला ही उसे ग्रहण होता है तो इसका कारण केवल स्याद्वाद मित्र की अनुपस्थिति है। स्याद्वाद सिद्धान्त को जो मानव नही समझ पाये है जो उसे स्वीकार नही कर पाते ह उनके सम्मुख शब्द की उभयात्मक शक्ति अभिव्यक्त नही हो पाती उनकी एकात मति गर्भित पक्ष को ग्रहण नही कर पाती ॥१६-१९॥

२० जो विधि और निषध इन दो से कहा गया है वह मुख्य है। जो स्याद्वाद के आश्रय रूप गुण से कहा जाता है वह गौण है। इस जगत मे विधि तथा निषध दोनो

का कहन वाले एक शब्द मे निदिष्ट से उन दोनो का प्रयोग होने से दोनो की मुख्यता होती है।

२१ जो साक्षात् विवक्षित है उसके मुख्यपना होता है जो विवक्षित नही होता है वह गौणपने को प्राप्त होता है। इसलिये इस जगत मे एक के विवक्षित होने पर दूसरा गौणपन को धारण करता हुआ मुख्य के सखापन को प्राप्त होता है।

२२ असीम भार से प्रवृत्त होन वाले पदार्थो के बहुत भारी सघट्ट के रहते हुए यदि विधि और निषेध के शब्द निरन्तर स्व तथा पर की सीमा को स्पर्श नही करते है तो वे स्याद्वाद के आश्रय बिना विसवाद/विरोध को प्राप्त होन लगते ह।

२४ यह विधि निषेध के साथ मित्रता को अधिक धारण करती है और निषध का वचन विधि को आकाक्षा सहित धारण करता है। इस प्रकार स्यात्कार के आश्रय से समर्थित आत्मवीय वाले विधि और निषेध अपन अथ को कहते है।

२५ 'स्व द्रव्य की अपेक्षा यह विधि है और अन्य द्रव्य की अपेक्षा निषध है। निश्चय से निज और पर क्षत्रादि की अपेक्षा भी यह क्रम है—इस प्रकार जगत मे पहले जोर से डका पीटकर शब्द अपन विषय मे निर्बाध विचरण कर।

वस्तु भाव तथा अभाव रूप ह। वह सदा नाना पक्ष सहित है। एक पक्ष अपनी अपेक्षा अस्ति रूप है अन्य की अपेक्षा नास्ति रूप है। जिस पक्ष को वक्ता कहना चाहता है वह उसकी विवक्षा है। यदि वह पक्ष भाव रूप होता है तो वक्ता का कथन विधि रूप होता है तथा यदि पक्ष अभाव रूप होता है तो कथन निषेध रूप होता है। वस्तु एक पक्ष जितनी ही नही होती है अत विधि रूप या निषेध रूप कोई भी कथन वस्तु को समग्र रूप से श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत नही करता है। यह बात वक्ता और श्रोता दोनो को ही समझने की है कि जो पक्ष प्रस्तुत किया गया है वह मुख्य है तथा अन्य अप्रस्तुत उसके सखा रूप से वस्तु मे मौजूद है कथन म गौण हुआ है। यदि वक्ता और श्रोता वस्तु की तथा कथन की इस प्रकृति को भूलते ह और विधि का निषध की सीमा म अति प्रसार करते है अथवा निषेध का विधि के क्षत्र मे प्रवेश करत है तो यह बात वस्तु स्वभाव को स्वीकार न होने से विसवाद/विरोध/झगडो को जन्म देगी। मानव शब्द का प्रयोग जीवन म शान्ति हेतु समस्याओ के समाधान हेतु करता है अशान्ति और व्यथ की समस्यायें पदा करने हेतु नही करता। अत वह जब भी शब्द का प्रयोग करे उसे ग्रहण करे तो उसके पूव वह स्याद्वाद क मत्र का स्मरण करले कि वस्तु अपने द्रव्य क्षत्र काल और भाव की सीमाओ म ही प्राप्त होती है पर द्रव्य क्षत्र काल और भाव मे नही तथा वस्तु के इस विधान पर किसी का मनमानापन नही चलता। वक्ता यदि विधि रूप कथन करता है तो निषेध रूप कथन को उस मित्रवत् बरतना चाहिए तथा यदि वह निषेध रूप कथन करता ह तो उसे आकाक्षा करनी चाहिए कि वह या अन्य

कोई विधि रूप कथन कर वस्तु का भाव पक्ष भी श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत कर दे और इस प्रकार उसके आंशिक कथन को समग्रता प्रदान करदे। विश्व मे परस्पर मैत्री और एक दूसरे से सहयोग भाव प्रधान अहिंसक लोक का निर्माणकारी सत्य है। वाणी के लोक म स्याद्वाद इसी सत्य की अभिव्यक्त करता है। ॥२०-२५॥

१६

१ उस आद्य ज्योति को जो द्वयात्मक ढग से अदभुत स्वरूप वाली है, जो कर्म और ज्ञान से उत्तेजित योग और उपयोग/ज्ञान द्वारा सिद्ध होती है, मैं निदयतापूवक अ तरग को चीरकर मोह तिमिर का नाश करता हुआ अत्यन्त अन्तहीन रूप से देखता हू।

२ अनक पर्यायो की महिमा मे व्यक्त [साथ ही] एकत्व से परिपूण आपका यह एक भाव सुशोभित होता है। जो नाना पर्यायों मे निष्णातमति है उन्ही को आपका यह एक भाव ग्रहण होता है।

३ अपन विशेषो के बिना सामान्य प्रतिभासित नही होता तथा विशेष भी सामान्य के बिना कभी नही होते। इस लोक मे जो सामान्य प्रतिभासित होता है वह ही विशेष है। सामा य तथा विशेष को स्वीकार करने वाले आप वस्तु रूप है।

४ हे ईश! आप द्र य रूप से सब ओर से नित्य एक है। हे देव! पर्याय रूप से आप अनक प्रतिभासित होते है। वस्तुत द्र य और पर्याय समूह से त मय आप एकानक प्रतिभासित होते है।

५ कोई एक अनक के विना कहाँ देखा गया है [तथा] जो अनेक है वह भी एक के बिना सिद्ध नही होता है। समुदाय रूप से पदाथ एक है। हे देव! वह ही अवयवी की अपेक्षा अनक प्रतिभासित होता है।

6 जो परस्पर मे विरुद्ध है और भिन्न भाग मे रहते है वे दोनो एक और अनेक आप में एक साथ सगत होत हैं। निश्चय से द्रव्य एक है और व्यतिरेक (पर्याय) अनक है। उभयात्मा आप न्याय से एकानक है।

७ जो द्रव्य है वह अनन्त नित्यत्व की रक्षा करता है और जो पर्याय है वह क्षण-क्षण मे नश्वरता की रचना करती है। आपके मत मे नित्य द्र य और अनित्य विशेष (पर्याय) सब ओर से एकमय होने के कारण वस्तु नित्यानित्य रूप से उदित होती है।

८ निश्चय स नित्य क्या क्षण विनाशी से भिन्न है, तथा क्षण क्षण विनाशी नित्य से पृथक है ? नित्यता अपन क्षणिक अशों के विना नहीं हो सकती और वे क्षणिक अश नित्यता विना नहीं हो सकत।

९ परस्पर विरुद्ध और भिन्न मार्ग मे प्रवृत्त होन वाले नित्य तथा अनित्य दोनों आप में एक साथ सगत होते है। द्रव्य नित्य है तथा व्यतिरेक/पर्याय अनित्य है। आप उभयात्मा है। अत न्याय से नित्यानित्य है।

१ हे ईश ! इस जगत में अपने द्रव्यादि की अपेक्षा आप भाव स्वरूप प्रकट होत है और अन्य द्रव्यादि की अपेक्षा स्पष्ट ही अभाव रूप मालुम होत है। क्योकि आपने सब ओर से भाव और अभाव को एकता प्राप्त करायी है आप भावाभाव रूप हैं।

११ इस जगत में भाव से भिन्न अभाव कसे ह (अथवा भाव के बिना अभाव कैसे है) ? वे दोनों वस्तु के अश हैं तथा स्व और पर की अपेक्षा एक साथ पूण और शून्य रूप वस्तु का आश्रय कर सुशोभित होते है।

१२ परस्पर विरुद्ध तथा भिन्न माग मे स्थित रहन वाले ये भाव और अभाव दोनो आप मे एक साथ सगत होते हैं। भाव स्व अश की अपेक्षा ह तथा अभाव पर अश की अपेक्षा है। आप न्यायपूवक उभय रूप है।

१३ हे देव ! द्विविध रूप यह सब पदार्थ क्रम से वाच्य है तथा युगपत् कहन की असमथता होन से अवाच्य है। हे भगवन ! उन दोनों पर्यायों को एक साथ धारण करत हुए आप इस ससार मे कोई वाच्य-अवाच्य रूप वस्तु है।

१४ कोई भी अवाच्य वाच्य से पृथक देखा नही गया ह और अवाच्य म रहित वाच्य भी दृष्ट नही किया गया ह। वचन दो रूप वस्तु को अपनी क्रमवृत्ति और अक्रम वृत्ति का आश्रय लेकर कहता ह नही कहता ह।

१५ जो परस्पर विरुद्ध है और भिन्न मार्ग म स्थित है वे वाच्य और अवाच्य आप म एक साथ सगत होत है। पृथक्-पृथक आप स्पष्ट ही वाच्य ह और मिल हुए आप अवाच्य है। आप उभय स्वरूप न्यायपूवक वाच्य एवं अवाच्य है।

१६ जो कर्म ह सो ही भाव ह क्योकि जो किया जा रहा [illegible] क भाव बोध धारण करत ह। आपका शुद्ध भाव धारक धक [illegible] और [illegible] भा[illegible] म पारतन्त्र्य निगूढ ह।

१७ सब ही पदार्थ कारण भाव से स्व परिणाम को ग्रहण कर कार्य रूप से उपन्न होते है। अत आप ही कारण हैं तथा आप ही कार्य है। शुद्ध भाव तो कारण कार्य का विषय नही ह।

१८ अन्य पदार्थ ज्ञान के निमित्तपन को प्राप्त कर बाह्य हेतु रूप से गतिशील रहे, निश्चय से वे इसके अन्तर्हेतु नही है। हे देव! आप वृद्धि को प्राप्त हुए अपन चैतन्य वीर्य विशेष से विश्व व्यापक विज्ञानघन हुए है।

१९ स्थिति यह है कि कर्त्ता वास्तव में अन्य होता ह और कर्म अन्य होता ह। किन्तु जो आप कर्त्ता है, अविशेष रूप से वह ही आप कर्म है। हे देव! जो आपने विज्ञान घन की रचना की थी सो यह साक्षात निश्चय से विज्ञानघन आप ही है।

२० हे देव! अविशेष रूप से सब ओर व्यापकर आप अपन गुणो के आधार ह और स्वय आधेय के समूह भी है। क्योंकि आप एक आधार-आधेय भाव से प्रकाशित आत्मा हैं। इसी कारण आप विज्ञानघन होते हुए उच्च रूप से प्रवृत्तमान है।

लोकोक्ति है कि एक हाथ से ताली नही बजती। व्यवहार मे सब साधारण इस बात को स्वीकार करते है। यथा घट बनेगा तो मिट्टी द्रव्य से बनेगा कुम्भकार चाक आदि इसके निमित्त कारण होगे स्थान विशेष उसके रख होने का आधार होगा आदि। व्यवहार की यह द्वयात्मकताये वस्तु का अधूरा परिचय है। इस अधूरे वस्तु बोध से परावलम्बन का भाव गहरा होकर मोह के राग-द्वेष के अधेरे उत्पन्न करता है। वस्तु का पूरा परिचय व्यवहार के मूलाधार उसके निश्चय रूप को समझे बिना प्राप्त नही होता। निश्चय मे यदि वस्तु स्वय द्वयात्मक न हो तो व्यवहार की द्वयात्मकताये घटित होना सभव नही है। वस्तु की निश्चय स्वरूप द्वयात्मकताओ को समझने हेतु हमे उसके अन्तरग मे झाकना होगा। यह निश्चय स्वरूप द्वयात्मकताये जगत के सभी पदार्थो की भाति हमारा भी हमारे ज्योतिस्वरूप आत्मा का भी सत्य है जिसे समझ कर हम अपने प्रत्येक योग उपयोग मे उसे अनुभूति का विषय बनाय तो हमे शुद्ध ज्योति स्वरूप अपने आत्मा की उपलब्धि हो जाये हमारे सर्व दुख दोषो का क्षय हो जाये। ज्योति स्वरूप आत्मा निम्न प्रकार से द्वयात्मकताओ से सहित अपने मे पूर्ण है—

(क) एकानेकता—आत्मा चेतन द्रव्य के रूप मे एक है। साथ ही ज्ञान दर्शन वीर्य आदि नाना गुणो एव स्व-पर प्रत्यय पूर्वक क्रम से बन रही पर्यायो की अपेक्षा अनेक है। आत्मा यदि अपनी एकता नही छोडता तो अपनी अनेकता का भी मानव को प्रकट अनुभव होता है। इस प्रकार आत्मा एकानेक रूप है। यह एकानेकता द्रव्य एव पर्याय रूप से है, ऐसे ही यह सामान्य एव विशेष रूप से है। एक है क्योंकि पर्याय मे वह ही आत्मा व्यक्त होता है अनेक है क्योंकि कोई दो पर्याय एक तो है ही नही पूर्णतया समान भी नही है।

जगत मे कोई भी ऐसा एक नही है जो साथ ही अनेक न हो। इस ही प्रकार कोई अनेक ऐसे नही है जो किसी अर्थ मे एक न हो। स्वय जगत छह द्रव्यों के समुदाय रूप मे एक है और जीव पुद्गल आदि अवयवो की अपेक्षा वह अनेक है। बाह्य जगत मे अनेको की सयोग जनित एकता है आत्मा मे अनेक-गुण-पर्यायो की समवाय रूप एकता है। यह अन्तर होते भी बाह्य जगत की एकता पत्थरो के ढेर जैसी एकता नही है, वरन् बहुत ही व्यवस्थित एकता है। यदि यह व्यवस्थिति न हो तो जड पदार्थों तथा जीवो का व्यवहार पक्ष ही लुप्त हो जावे। बाह्य मे जीव जहाँ अनेक है वहाँ सब जीव जीव होने से एक भी है, तभी तो अन्य की हिंसा से हिंसक जीव दुर्गति को प्राप्त हो जाता है, अन्य की सेवा उसकी अपनी सेवा बन जाती है।

(ख) नित्यानित्यता—द्रव्य रूप मे नित्य आत्मा प्रत्येक ही अनित्य पर्याय मे व्यक्त होता है। केवल अनित्य अथवा केवल नित्य जगत मे कुछ है भी नही। सम्पूर्ण जगत जहाँ नित्य है वहाँ इसके बदलते रूप इसकी अनित्यता प्रकट कर रहे है। जैसे नित्य जगत क्षणिक नये-नये रूप धारण किये जा रहा है, उसी प्रकार नित्य आत्मा भी रूप बदल बदल कर स्वयं को व्यक्त करता है तथा शब्द के अनुभव का विषय उसी प्रकार बनता है।

(ग) भावाभावात्मकता—आत्मा स्व द्रव्यादि की अपेक्षा भाव रूप है, पर द्रव्यादि की अपेक्षा साथ ही अभाव रूप या शून्य रूप भी है। वस्तुतः जगत मे ऐसा कुछ भी नही है जो केवल भाव रूप हो पर द्रव्यादि की अपेक्षा वह अभाव रूप भी साथ ही है। ऐसे ही शुद्ध अभाव नाम की कोई वस्तु नही है। वह अन्य द्रव्यादि रूप से स्थित पदार्थ का ही विवक्षित रूप मे न होने रूप है।

(घ) वाच्यावाच्यरूपता—क्रम से आत्मा के भाव अभाव आदि पक्षो का कथन बनता है, अत आत्मा वाच्य है। युगपद् उनका कथन सभव नही है, अत आत्मा अवाच्य है। आत्मा ही क्यों जगत के सभी पदार्थ यदि वाच्य है तो वे ही अवाच्य भी है।

(ङ) कर्मरूपता तथा भावरूपता—आत्मा कारक चक्र का विषय होने से कर्म रूप है। वह बाह्य मे अनुकूल प्रतिकूल कारको के आलम्बन से परिणमन करता है निश्चय मे अपनी ही चेष्टाओ के परिणामस्वरूप नयी-नयी पर्याय रूप परिणमन करता है। वह उसका कर्म रूप है। इस कर्म रूप मे गहराई से आत्मा का सहज 'होना'/भाव रूप कार्य करता है। कारक चक्र जैसा घटित होता है आत्मा उस रूप परिणमन कर जाता है। इस ही प्रकार आत्मा जैसे सहज ही परिणमन करता है, विशुद्धि अथवा सक्लेश मे अन्तर्बाह्य घटना चक्र/कारक चक्र वैसे ही घूम जाता है।

(च) कारण-कार्यरूपता—जगत मे सभी पदार्थों की अपनी योग्यता से उनकी कार्यरूप रचना होती है। मिट्टी घटाकार रूप स्व परिणाम को प्राप्त कर ही घट बनती है। इस परिणाम के ग्रहण करने मे बाह्य मे कुम्भकार आलम्बन है यह सही है, किन्तु स्वय मिट्टी मे घटाकार रूप परिणत होने की योग्यता न हो तो उसके घट रूप काम की निष्पत्ति कदापि नही हो

सकती। इसी प्रकार अन्तर्हेतु रूप से अपनी सारी पर्याय रचना का आत्मा स्वय कारण है। बाह्य आलम्बनो का निषेध नही है, पर मात्र उनसे काय नही होता। जो मानव ज्ञान-ध्यान म लीन होता हुआ विज्ञानघन होने म प्रवृत्त होता है वह एक दिन विज्ञान घन बन जाता है। इस प्रकार आत्मा निश्चय स स्वय ही अपना कर्त्ता है स्वय ही कम है स्वय ही कारण है, स्वय ही कार्य है।

(छ) आधार-आधेय रूपता—व्यवहार मे आत्मा के अवगाहन वर्तन आदि के आकाश काल आदि आधार हो निश्चय मे अपने सम्पूर्ण गुण तथा कायकलाप रूप आधेयो को व्यापे हुए वह स्वय अपना आधार है। इस प्रकार निश्चय म अपने ज्ञानादि समस्त गुणो और उनके वर्तन का आधार आत्मा स्वय होने से वह निर्बाध रूप से ज्ञान आनन्द आदि रूप वतन करने म समथ है। उसके इन गुणो के वतन म बाह्य का कोई पदाथ बाधक बनने की सामथ्य नही रखता क्योकि निश्चय मे कोई बाह्य पदाथ इनका आधार नही है।

मानव ज्योति स्वरूप निज आत्मा की इन द्वयात्मकताओ को भले प्रकार समझे तो उसके मोह के अधेरे नष्ट हो जाये बाह्य पदार्थों की दासता अधीनता का भाव नष्ट हो जाये। अनन्त वीयवान विज्ञानघन आत्मा के वतन मे बाह्य म तथानुरूप आलम्बन सब सहज ही होते है। जो अज्ञान और कषाय के अधेरो मे जीते है उन्हे भी अपने ही अनुरूप बाह्य पदाथ आलम्बन बनते है अन्यथा नही। अपने ज्योति स्वरूप आत्मा की द्वयात्मक पूर्णताओ को जिस मानव ने समझा है वह समझ कर बठ जाये तो बात पुन एकात रूप/एकात्मक ही होगी। समझ कर उसे योग-उपयोग रूप अपने कम व्यापार को तदनुसार सतत् ढालना होगा। ऐसा होने पर वह अवश्य ही ज्योति स्वरूप विज्ञानघन परमात्मा एक दिन हो जायेगा।

जगत के जड चेतन सभी पदाथ द्वयात्मक हैं। तथापि जड माटी को घट पर्याय धारण करने हेतु कुम्भकार की आवश्यकता होती है। अज्ञान दशा मे मानव भी द्वयात्मकपूर्णता (दो हाथ) होते भी अपनी पतवार आप नही सभाल कर जड माटी की भाँति अन्यो के हाथ की कठपुतली होता है परिस्थितियो का दास होता है। जिसने अपनी द्वयात्मकपूर्णता को समझ लिया है वह अपना कुम्भकार स्वय बन कर बाह्य प्रत्यक परिस्थिति प्रसग को चाक रूप मे अपना अवलम्बन बनाता हुआ अपने ज्योतिमय स्वरूप को पद-पद पर व्यक्त करता चलता है ॥१-२०॥

२१ आत्मा ज्ञाता ह और यह सम्पूण विश्वज्ञेय है। इनमे सम्बन्ध होते हुए भी वे दोनो परस्पर गत नही है। एकता का कारण प्रत्यासत्ति होती ह, पर वह नही है क्योकि वाच्य, वक्ता और कथन पृथक पृथक ह।

आत्मा म एकानेक आदि रूप द्वयात्मकताय निश्चय से है। बाह्य म पृथक-पृथक पदार्थों के बीच व्यवहारिक सम्बन्ध तो बनते है पर वे एक नही हो जाते। वे परस्पर एक दूसरे के निमित्त/आलम्बन बनते है। इन आलम्बनो के बिना यह सही है कि पदाथ अपने वतन विशेष मे सफल नही

होता तथापि वे रहते पृथक-पृथक ही है। ज्ञाता तथा ज्ञेय मे वक्ता तथा वाच्य और कथन की भाँति पृथकता प्रकट है। आत्मा में द्रव्य तथा पर्याय की आधार-आधेय रूप से जो प्रत्यासत्ति/निकटता घनिष्ठता प्राप्त होती है वह हमे ज्ञाता और बाह्य ज्ञेयो मे प्राप्त नही होती इसके स्थान पर उनकी परस्पर दूरी प्रकट अनुभव मे आती है। ज्ञान मे बाह्य ज्ञेयो से यह दूरी अस्पृष्टता का अहसास मानव की मुक्ति का द्वार खोलता है। बाह्य के काटे और फूलो के बीच वह कसे वर्तन करे यह उन पर नही वह जानता है कि स्वय उस पर निभर करता है कि वह दोनो के बीच निरन्तर मुस्करा सकता है ॥२१॥

२२ जो आप भविष्य की अपेक्षा पहले निश्चय से सिद्ध थे वह ही आप वतमान मे सिद्ध है। जो अभी वीतरागता उत्पन्न हुई है वह वास्तव मे भूतकाल मे राग थी।

२३ एक शाश्वत भाव को उत्कृष्ट रूप से सीचते हुए आप हो होकर (पुन पुन होकर) स्वय ही हो जाते है। यह होकर पुन जो होना है वह अन्य नही है। तीन काल का सग्रह करन वाला वह भाव आपका अनुगमन करता है।

२४ आप एक है, साक्षात् अविभाशी विज्ञानघन है शुद्ध है, अपन शुद्ध अवयवो मे निलीन है। इस तरह एक होते हुए भी अन्तर मे मग्न रहन वाले दशन सुख वीय आदि विशिष्ट गुणो की अपेक्षा आप अनन्त विचित्रता को प्राप्त हो रहे है।

२५ हे स्वामिन् ! परस्पर विरुद्ध धर्मो मे अध्यारूढ स्याद्वाद से जिनकी आत्मविभूति विभाजित है, एसे आप अत्यन्त अगाध होते भी निज तत्त्व की आराधना मे तत्पर रहन वालो को नित्य थोडा प्रवेश देते है।

जिनेन्द्र अब वीतराग/शुद्ध हुए है। उनका अनन्त गुण वभव जो पूव मे (ससारी पर्याय म) कर्म कालिमा रूप राग के नीचे दबा हुआ था उसे ही उन्होने कालिमा से मुक्त कर व्यक्त किया है कुछ नया नही प्राप्त किया है। जो सिद्ध स्वरूप अब व्यक्त हुआ है वह अनादि से ही सिद्ध था। आत्मा अनादि से एक है। दशन ज्ञान आनन्द वीय आदि अनन्त गुण से नाना रूप भी वह अनादि से है। जब मानव आत्मा के इस शाश्वत स्वभाव की भावना से स्वय को पुन पुन सीचता है स्वय को कम कालिमा से मुक्त गुण वभव सम्पन्न स्वीकार करता है उसे अपनी अनुभूति का विषय बनाता है और कर्म कालिमा जनित अज्ञान राग द्वेष आदि को अनुभूति के लोक से निष्कासित करने मे निरन्तर सलग्न होता है तो कर्म कालिमा शन शन हटते-हटते हट जाती है और नित्य गुण वैभव प्रकट होता होता पूण प्रकट हो जाता है। यह त्रकालिक शाश्वत स्वभाव नीची ऊची सभी पर्यायो मे जीव का अनुगमन करता रहा है, उसने जीव को कभी छोडा ही नही है। जब तक जीव ने उसे स्वीकार नही किया और स्वय को अज्ञान पूण राग द्वेष आदि के कीचड़ से लिप्त

करता रहा वह जीव की अनुभूति का विषय नही बन सका और जीव दीन, हीन, तुच्छ बनकर इस लोक मे परावर्तन करता रहा। जब उसने अपने शाश्वत गुण वैभव को अपनी श्रद्धा ज्ञान एव चरित्र का विषय बनाया तो सब राग नष्ट होकर मानव जिनेन्द्र हो गया।

जिनेन्द्र नित्यानित्य एकानेक सामान्य विशेष आदि अनेक विरुद्ध धर्म धारण करते हैं। उनका ज्ञानादि गुण वैभव अनन्त है। शास्त्र मे उनका गुण वैभव स्याद्वाद पद्धति से खण्ड खण्ड निरूपित है। उसके आधार पर जिनेन्द्र के/अपनी आत्मा के अगाध गुण वैभव को समझ लेना मानव के लिये कठिन बात है। जो मानव सयमपूर्वक आत्म गुण वैभव के अवलोकन अनुभव करने मे सतत तत्पर है वे जिनेन्द्र के गुण वैभव को थोडा समझने मे अवश्य समर्थ हो जाते है ॥२२-२४॥

१६

१ आप अजर है, पुरुष है, जिन है, स्वय सहज ज्योति स्वरूप है, अजेय चैतन्य के भण्डार है। अदभुत सत्य वैभव सहित यह आप द्रव्य त्मक दृष्टिगोचर होते है।

२ आपके न पराश्रय है, न शून्यता है, न अन्य भावो (पदार्थो) की सकरता है क्योकि असख्य निज प्रदेशो द्वारा स्वय वस्तु का अविग्रहण किया गया है।

३ हे विभो! जो यह आपका अत्यन्त स्पष्ट और सहज विशेषण 'अमूर्त' है वह आप आत्म परायण का पुदगल से भेद करता है।

४ हे ईश! कसे भी बाधित न होन वाले सहज, व्यापक विशेषण 'चित' को धारण करते हुए आप सब ओर से सभी अचेतन द्रव्यो के साथ भेद को प्राप्त हो रहे है।

५ सदा ही सर्व प्रकार निर्मल सहज स्वानुभव से क्रीडा करन वाले आपका समस्त अन्य चेतन द्रव्यो के साथ यह दूर का अतर कहा गया है।

६ सब प्रकार निज भाव से भरे हुए सदैव निज भाव से स्थित आपका पर से अखण्डित, स्पष्ट एक निज भाव ही सुशोभित होता है।

जिनेन्द्र की परमौदारिक पुरुष देह कोटि पूर्व वर्षो तक बिना किसी प्रकार का कवलाहार ग्रहण किये भी अजर रहती है, जराजीर्ण नही होती, रोग ग्रस्त नही होती न ही उनके ज्ञानादि गुण वैभव पर ही कोई आवरण आते है। उन्होने समस्त भ तियाँ कर्मों को, क्षुधा तृषादि दोषो को सर्दी-गर्मी आदि परीषहो को उपसर्गो को जीत लिया है वे जिन है। कर्मों से बद्ध दोषो से ग्रस्त परीषहो-उपसर्गो से भरे जन्म-जरा-मरण के ससार चक्र से उन्हे निकाल जिनेन्द्र के ज्योति

स्वरूप पद पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय उनके पर से अखण्डित निज भाव मे स्थिति को है। साधारण मानव निज भाव मे न जीकर पर भावों म जीता है पराश्रय म जीता ह और परिणाम स्वरूप पुन पुन ज म-जरा-मरण की दुर्गतियो को प्राप्त करता है।

निजभाव के उद्भव हेतु मानव को अपने ज्योतिमय आत्म स्वरूप को भले प्रकार समझना आवश्यक है। उसे समझना होगा कि (क) चाहे वह सदेह है पर कर्म-नोकर्मो से भिन्न वह एक अमूर्त द्रव्य है। अमूर्त होने से पौद्गलिक पदार्थो की भाँति वह कटता पिटता नही है जलता अथवा गलता नही है। देह के छिद भिद जाने पर भी वह कभी छिदता भिदता नहीं है। इस प्रकार के अमूर्त भाव मे जीना निज भाव है। (ख) आकाश काल धर्म अधर्म आदि अमूर्त पदार्थों का वह अपने अवगाहन वर्तन आदि मे आलम्बन अवश्य लेता है पर उन अचेतन द्रव्यो से भिन्न वह चेतन द्रव्य है। उसकी चेतना मूर्त अमूर्त सभी अचेतन पदार्थो को जानती है पर किसी भी प्रकार उसे उनसे कोई हानि सभव नही है, वह अजेय है। (ग) जिस प्रकार वह चेतन आत्मा जगत के जड पदार्थों से पृथक् असंपृष्ट है वसे ही उसकी अपनी अस्खलित स्व की अनुभूति अन्य चेतन आत्माओ स/जीवो मे उसे प्रकट पृथक घोषित कर रही है। पृथक् होने से अन्य भी चेतन आत्मायें उसका कुछ बनाने बिगाडने म समर्थ नहीं है।

इस प्रकार जगत के मूर्त अमूर्त चेतन अचेतन सब ही पदार्थों से पृथक उसका आत्मा है यह स्वीकृति निज भाव के उद्भव का पहली शर्त है। यह स्व-पर का भेद विज्ञान ह। उसका स्व सदा ही उसका स्व है और वह पर द्रव्य का एक कण उनके गुणो का एक अंश भी न कभी स्वय ग्रहण कर सकता ह न ही वे उसके एक प्रदेश अथवा एक भी गुणांश को उससे छीन सकते है। उसका ज्ञानादि गुणो का अनन्त वैभव ही उसका अपना है और जगत म अनन्त जीवो पुद्गलादि जड द्रव्यो के बीच पूर्णतया निश्चिन्त निर्भय एव सब प्रलोभनो से मुक्त होकर रहने को नित्य ही उसे अवकाश है। वह गुण वैभव से परिपूर्ण आत्मा है अत [illegible] किसी पराश्रय की उसे आवश्यकता नहा है न ही उसका ज्योतिमय आत्मा [illegible] वचित सं[illegible] पदार्थ है कि उसे पराश्रय आवश्यक हो। अब रहा अपने [illegible] अनन्त गुण [illegible] अधिग्रहण का प्रश्न। उस हेतु आत्मा के असंख्यात प्रदेश है जिनमे वह अपने गुण [illegible] अधिग्रहण किये हुए है। तथा आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा कर्तामय [illegible] ध्यानमय है जिससे वह अर्थक्रिया करने म सदा समर्थ है और पर [illegible] जी रहा है उसकी उस वस्तु आवश्यकता नहीं है। पर पदार्थो [illegible] व्यवहार जिसमे मानव का निज भाव खंडित न होता हो पराश्रय नहा है। [illegible] पर पदार्थो से बनने वाले सम्बन्ध तो निज भाव के अग ही है। तथा [illegible] मानव को एक दिन जिनेन्द्र बना देता है ॥१-६॥

७ अजर आदि अनन्त विशेषणो द्वारा [illegible]

यह आप यदि स्वय एक ही है तो आपका [illegible] है।

८ हे प्रभो ! आप ऊपर ऊपर (आगे आगे प्रति क्षण) होते हुए अखण्ड धारा से 'यह है' हो रहे है। भूत और भविष्य के भाव से रहित देखन वाले को आप ध्रुव प्रतिभासित होते है।

९ अनन्त आत्म विशेषणो की अखण्ड धारा की माला से युक्त एक विशेषता को प्राप्त हुए हे भगवन ! आप निरन्तर अखण्ड धारा से परिणमन करते हुए प्रकट हो रहे है।

१० आपकी अजड आदि विशेषणो से भरी हुई निज धारा तुच्छता को प्राप्त नही होती है। धारा से धारण किये गये अजड आदि विशेषण क्षय को प्राप्त नही होते है।

११ आपके अजड आदि विशेषण पर द्रव्यो से भेद करने वाले है, स्व द्रव्य से नही, क्योंकि आप असाधारण भावों से भरे अपने आपको अपने आपसे सदा एक रूप धारण करते है।

१२ अजड आदि से अविभक्त रूप से स्थित आपका यह अखण्ड एक भाव अजड आदि से अविभक्तता की भावना से अनुभूति मे आता है, अन्यथा नही।

१३ आपका निर्बाध रूप से 'होना' कारक सहित सकल क्रियाओ को पोछ देता है, साफ कर देता है। यह 'होना' न कारको द्वारा, न क्रिया द्वारा दोपन को प्राप्त होता है।

१४ आपके निर्बाध रूप से होने मे कारण काय का विस्तार कहा सुशोभित होता है ? न तो कारण द्वारा उसका न होना किया जाता है, न काय द्वारा 'न होना' किया जाता है।

१५ कर्त्तादि के समूह से जिसका उदय व्याप्त है एसी क्रिया आप मे होती है यह कहना युक्त नही है। एक होना मात्र की विभूति से भरे हुए आपके भेद की बात करना कलक कल्पना है।

१६ हे जिनन्द्र ! अजडादिमय, सनातन कश्मल (पाप मल) रहित, निर्मल, स्व-पर को क्रम से तथा युगपत् मग्न करन वाला प्रभा समूह रूप भाव आप हैं।

मानव को जिनेन्द्र स्वरूप उसकी अपनी आत्मा का दर्शन (स्पर्श) अनुभव अजड/चेतन प्रभा से भरी अखण्ड भाव धारा के रूप मे होता है। यह भाव धारा अपनी प्रभा से उसे स्वयं को तथा ज्ञान मे जगत के प्रत्येक पदार्थ को एक साथ व्यापे हुए है। आत्मा की इसी सनातन अक्षय भाव धारा से मानव कदम-कदम पर प्रकाश प्राप्त करता है सब ही समस्याओ

के समाधान प्रश्नों के उत्तर उसे प्राप्त हो जाते है। इसकी शरण मे जाने पर उसके सब पाप धुल जाते है अन्तराय नष्ट हो जाते है और उसके कार्य सिद्ध हो जाते है।

ससारी मानव क्रियामय रूप से जीता है स्वय को चारो ओर कर्त्ता कर्म करण आदि के चक्र से घिरा पाता है। यदि जगत मे कारक रूप ही सब कुछ हो तो मानव की मुक्ति सम्भव नहीं है उसको शाति प्राप्त होना दुष्कर है। स्वय कारक व्यवस्था का तकाजा है कि इसका प्रति पक्षी अकारक रूप भाव रूप सहज होने रूप भी कुछ हो। यह अखण्ड सनातन भाव धारा रूप उसका जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा है जिसे कोई क्रिया दो रूप नही करती जिसे कोई कारण अथवा काय नही होने' रूप नही कर सकता। यह पावन गगा तो मानव के अन्तस्तल में निरन्तर प्रवाहमान है जिसकी ओर मानव उन्मुख हो उसकी श्रद्धा भावना करे तो उसका स्पर्श अनुभव प्राप्त होता है और उससे प्रकाश पाकर मानव गद्गद् कृतकृत्य हो जाता है। उसकी शरण मे न जाने वाला मानव अज्ञानी एव अभागा है, कारको का मेल बठता तथ आधी अधूरी क्रियाय करता सक्लेप और पाप कार्यो में ही बहुभाग जीता है।

जितने भी मानव आज तक महान अभ्युदय और निश्रयस् को प्राप्त हुए है चक्रवर्ती इद्र तीथ कर बने है केवल ज्ञानी बने है सब अपनी जिनेद्र स्वरूप आत्मा की इस प्रभामय सनातन निमल अखण्ड, पाप क्षयकारी भाव गगा मे स्नान के फल स्वरूप ही बने है।

१७ हे भगवन ! यदि पाप रहित, विभामय भाव आप स्वय है तो यह आप स्वय ही विस्फुरित होते हुए कभी भी भ्रम को प्राप्त नही होते है।

१८ जो विभामय है वह सुशोभित होता है, जो अविभामय है वह कभी सुशोभित नही हो सकता है। निश्चय से जो यह सब सुशोभित होता है वह यह विभा ही अत्यन्त सुशोभित होती है।

१९ केवल यह ही सुशोभित होता है यह सुशोभित नही होता एसी कल्पना कहा होती है ? यह इसके द्वारा सुशोभित होती है' बिभा का विभाग करा वाली यह द्विरूपता नही है।

२० सहज, निरन्तर उदित, सम, स्वप्रत्यक्ष पूणतया निराकुल अदभुत तेज की माला रूप यह विभा किसके लिए रात्रि हो ?

२१ जो अपन वभव से निषेध को भी विधि के समान विधि रूप से धारण करती है वह परिशुद्ध एक चतन्य से भरी हुई आपकी विभा किसके द्वारा निषिद्ध हो सकती है ?

२२ हे जिनेन्द्र ! चारों ओर से प्रकट हो रहे स्वभाव वाली दिशा और काल-- क विभाग से च्युत, अद्वितीय आपकी विभा द्वारा यह सम्पूर्ण जगत विभासित हो रहा है

२३ इस जगत में स्व तथा पर के प्रकाशन मे विभा वास्तव में दूसरी विभा को नही खोजती है। श्रीयुक्त आपकी विभा द्वारा यह सम्पूर्ण जगत क्रम स प्रकाशित किया जाता है।

२४ हे जिनन्द्र ! जो ज्ञान मात्र रूप इस विभा द्वारा नित्य विचरण करते है वे स्वय ही सकल पदार्थो की प्रतीति करते है। वास्तव मे ज्ञान का प्रतिबोधक कही नही है।

२५ हे जिनन्द्र ! राग-द्वेष से रहित यह मैं तब तक वार-वार सब ओर से आपकी विभा का अनुभव करता रहू जब तक मैं स्वय पुष्कल, सम, अनन्त विभामय स्व को प्राप्त नही कर लेता।

विभा ज्ञान दीप्ति का नाम है। यह शोभन स्वरूप सुन्दर है, सब जीव हितकारी है, स्व तथा पर को न अभी न आगे यह कभी भी क्लेशकारक नही होती है। जो पाप रहित हो कर सयम धारण पूवक इस ज्ञान दीप्ति मे गहन रूप से प्रवेश करते हैं वे लौटकर फिर कभी अज्ञान के अधेरो से ग्रस्त नही होते। स्व तथा पर को प्रकाशित करने वाली इस ज्ञान ज्योति का उनमे जागरण हो जाता है निसग रूप से ही वे ज्योतिमय हुए जाते है और उनके वस्तु बोध को न तो अपने अन्य ज्ञान व्यापार की न अन्य किसी के समथन की आवश्यकता होती है। ज्ञान के लोक मे विचरण करते करते शीघ्र ही वे सब आवरण रहित एक दिन केवल ज्ञानी परमात्मा बन जाते हैं।

ज्ञान दीप्ति के जागरण के माग पर चलने वाले सयमीजनो के कदमो को रोकने वाला जगत में कुछ भी नही है। ज्ञान मे ग्रहण किया गया हर पदार्थ उनके लिए ज्ञानमय हो जाता है। जो ज्ञानमय रूप से ग्रहण न किया जाकर अज्ञानमय कषायमय रूप से ग्रहण किया गया है जगत का वह कोई भी पदाथ सुशोभन रूप नही होता। दो ही पदार्थ चतन्य लोक मे है—एक तो ज्ञान दीप्ति और दूसरे कषाय के कालुष्य। जो ज्ञान दीप्ति मे ग्रहण होता है वह सब सुन्दर और जहा कषाय कालुष्य लग जाता है वह सब अविभामय कुरूप ही होता है। ज्ञान दीप्ति मे इस प्रकार सुशोभित और कुरूप का विभाग नही होता। उसके लोक मे तो सब कुछ ज्ञानमय होकर सुशो भित ही होता है। यह ज्ञान ज्योति वाह्य पैसे पद सम्मान आदि के बल पर सुशोभित न होकर अपने ही बल से सुशोभित होती है। बाह्य के साधन विहीनता निंदा, गाली के वचन अन्य परीषह, उपसर्ग आदि सब ही विपरीतताओ को यह अनुकूलता रूप ही ग्रहण करती है और उनके बीच इसकी शोभा नष्ट न होकर कम निर्जरा होने से बढती ही है।

ज्ञान दीप्ति के वर्धन मे लगे सयमीजन जगत मे किसी से राग-द्वेष नही करते। वे जिनेन्द्र और जिनेन्द्र स्वरूप निज आत्मा की ज्ञान दीप्ति को जीवन मे सवत्र अनुभव करने मे तत्पर रहते हैं। जगत का हर पदाथ उन्हे अपना स्वरूप प्रकाशन कर उनकी ज्ञानमयता की वृद्धि मे आलम्बन बनता है। वे अपने तथा अन्यो के स्वरूप को जिनवाणी के अध्ययन से भले प्रकार

समझ चुके हैं। ज्ञान मार्ग पर बढते बढते इस प्रकार एक दिन वे स्वयं पूर्ण वीतराग अनन्त ज्ञानमय परमात्मा बन जाते है।

ज्ञान दीप्ति चाहे मति-श्रुत के स्तर पर हो चाहे कवल्य के स्तर पर हो सुन्दर ही है। मति-श्रुत के स्तर पर यह इन्द्रिय प्रकाश उपदेश आदि के आलम्बनो से कार्य करती है इसीलिए यह अविभामय नही हो जाती। सकल विभामय केवल ज्ञान के एक देश के रूप मे यह विभामय ही है।

२०

१ हे ईश ! आपके प्रणिधान (उपयोग) क सौष्ठव (कुशलता) से अतत्त्व ही परम तत्त्व की प्रतिपत्ति का हेतु हो जाता है। पद-पद पर विष को उगलती हुई वाणी स्याद्वाद से सस्कृत होन पर अमृत प्रवाहित करती है।

२ हे ईश ! जो बल पूवक पूव और उत्तर क उल्लेख का विनाश करन वाला है जिसमे देश और काल की कल्पना का लोप हो गया है एसे शुद्ध सग्रहनय से आप चत य मात्र वभव से परिपूण सुशोभित होते है।

३ हे ईश ! आप में ऋजुसूत्र की दृष्टियाँ वृद्धि को प्राप्त हो रही है जो विशुद्धता क रस की अतिव्याप्ती से युक्त है, स्खलित होते हुए भी अस्खलित क समान प्रकाशमान है तथा तत्त्वाश को अखण्ड रूप से उपस्थित करन के कारण दारुण है।

४ अपन अवयवो क द्वारा सब ओर से विभाग को प्राप्त होने वाले आपक सरल, स्पष्ट प्रदेश मात्र, अनन्त ज्ञान धातु पृथक पृथक स्फुरित होते है।

५ समस्त विखरते हुए चत य कणों क द्वारा अनादि सतान से युक्त होन पर भी यह आप पूव और उत्तर क मिलाने मे असमथ हुए कही परस्पर सघठन को प्राप्त नही होते है।

६ निरन्वय रूप से क्षणक्षय क द्वारा अगीकृत चतन्य कणो क समूह द्वारा सामान्य क नष्ट हो जाने से आपको देखने वालो को तलवार क घाव क समान यह नरात्म्य आप मे बलात् प्रतीत होता है।

७ हे प्रभो ! जो गत है वह गुजर जान से कुछ नही करता है, जो भविष्यत् है वह अनुपस्थित होन से कुछ नही करता है, जो वर्तमान क्षण का विषय है वह निश्चय ही अथक्रिया से युक्त है।

८ यद्यपि निश्चय से क्षण स्थायी चिदशो मे कारण काय के काल को प्राप्त

नही करता है तथापि पूर्व और उत्तर काल के चिह्नों के द्वारा हठपूर्वक आप मे कारण कार्य भाव धारण किया गया है।

९ अनादि की राग अग्नि के शान्त होने के साथ मे अज्ञान गलता है। उसके सम्पूर्ण गलने पर आपके मे चतन्य कण बिना किये स्वय ही बलात् ऊपर ऊपर उठते है और अन्तिम चतन्य कण निर्वाण को प्राप्त करता है।

१० प्रदीप के समान निर्वाण को प्राप्त हुए आपके समस्त ही [देहादि] एक शून्य को प्राप्त हुए थे। इस प्रकार का कार्य करते हुए आपको साहस नही करना पडा किन्तु मुझे कहते हुए साहस करना पड़ रहा है।

जगत का प्रत्येक पदार्थ अनेकात स्वरूप है। वह अनन्त गुण पर्यायों का पुञ्ज है, उसके अनेक पक्ष है। कोई भी पक्ष पूर्ण वस्तु नही है। वह वस्तु का अंश है और अन्य पक्षो के सहकार मे अर्थ क्रियाकारी होता है उनसे रहित अकेला तो अवस्तु रूप असत्य रूप होता है। जब मानव पक्ष विशेष को ही पूर्ण वस्तु मानता है तो अज्ञान रूप विष उत्पन्न होता है और मानव स्वय अवस्तु रूप होता जाता है तथा परस्पर व्यर्थ के विवादो मे उलझने लगता है कथा मे अन्धो द्वारा स्पृष्ट पैर कान आदि अलग अलग हाथी नही है, हाथी के अवयव ही है। किसी चाक्षुष्मान् द्वारा यदि उन्हे बता दिया जावे कि उनके द्वारा स्पृष्ट पैर कान आदि हाथी के इस प्रकार अवयव है और सब अवयवो सहित इस प्रकार हाथी है तो सम्भवतया उनके भ्रम मिट जाय और उनके विवाद शान्त हो जावें। उस चाक्षुष्मान स्वय के लिए तो उनके आंशिक कथन अर्थभूत है ही क्योंकि उसने हाथी देख रखा है। इस प्रकार स्याद्वादी जनो के लिए विभिन्न नयो से की गयी दार्शनिक स्थापनायें अर्थभूत हो जाती हैं। एकान्ती जनो द्वारा की गई स्थापना मानव मे असत्य रूप विष रचना ही करेगी पर स्याद्वाद से संस्कृत किये जाने पर अर्थात् अन्य नयो की गौण रूप से स्वीकृति के साथ वह अमृत रूप हो जाती है।

उदाहरणार्थ आत्मा नाना नयो से अनुभूति का विषय किए जाने पर हमें भांति-भांति से ग्रहण से होता है। ये भांति भांति के ग्रहण उसी एक आत्मा के स्पर्श हैं और इसमे कोई विवाद का प्रश्न नही है, यदि हम यह स्वीकार कर लें तो प्रत्येक अनुभूति से मानव को अमृत तत्त्व की प्राप्ति होती है जब देश काल से होने वाले अन्तर एवं क्षण क्षण हो रहे पर्याय परिवर्तन तथा अन्य भेदो को गौण कर हम आत्म वेदन करते हैं तो हमे सर्वदा मे एक चेतना मात्र का ही विस्तार अनुभव मे आता है। इस शुद्ध संग्रह नय के अनुसार हम चेतना के सिवा अन्य कुछ कब हुए, सदव चेतनामय थे है और रहेंगे। यह नय काल भेद पर्याय भेद से होने वाली आकुलता को निरस्त कर हम हमारी चेतना की निर्मलताओ मे आत्म दर्शन की प्रेरणा करता है। हम क्यो चिन्ता कर देश काल और पर्याय विभेद की ? यदि हमे निर्मल चेतना का स्पर्श हो रहा है तो हम पूरे ही आत्मा है।

आत्म स्पर्श की दूसरी दृष्टि ऋजु सूत्र नय प्रस्तुत करता है। इस नय का कथन है कि जो बीत गया है और जो भविष्यत है वे दोनो ही अर्थ क्रिया शून्य होने से अप्रयोजन भूत है। अर्थ क्रियाकारी तो वर्तमान क्षण मे व्यक्त आत्मा है। आत्मा तीन काल की पर्यायो का पुंज है और वर्तमान पर्याय उसका एक भविष्य की ओर बढता हुआ अंश है। यह नय वर्तमान का अखण्ड अस्खलित के रूप म स्वीकार कर उसमे पूरे रूप म जीने की प्रेरणा करता है। गये की वर्तमान चिन्ता क्यों करें वह जा चुका आने वाले की भी वर्तमान चिन्ता क्यो करें वह स्वय कर लेगा। यह आगे पीछे व्यापक सामान्य को ही दृष्टि से हटाकर नैरात्म्य की बस अभी की दृष्टि देता है। इसका कहना है कि पूर्व और उत्तर के बीच सन्तान क्रम है, पर कौन इन्हे परस्पर मिला सकता है ? सब अपने-अपने काल मे है तो इन बिखरे हुओ मे सामान्य त्रिकाली की चर्चा ही क्यो ?

ऋजु सूत्र नय की दृष्टि भविष्य मे कोई इष्ट कार्य सम्पन्न करना है लक्ष्य सिद्ध करना है के विचार को टिकने नही देती। उससे वर्तमान का रस भग होता है। यदि हम वर्तमान म पूरे चेतन हो कर जो रहे है तो स्वत ही यह उत्तर क्षणो मे राग के गल जाने से अधिक चेतन होकर जीने का कारण बन जायेगा और एक दिन सम्पूर्ण राग की आग शान्त हो जायेगी अज्ञान गल जायेगा। एक क्षण आयेगा कि हम निर्वाण को प्राप्त हो जायगे प्रदीप के समान हमा देहादि शून्य हो जायगे।

अस्तु ऋजु सूत्र नय द्वारा दी गई दृष्टि अपने ढंग से हमे गहन चेतना के लोक म प्रवेश देती है हमारे अन्य विकल्प दूर कर तनाव मुक्त करती है। शुद्ध सग्रह नय की दृष्टि भारतीय दर्शनों म अद्वैत वेदान्त मत की है तथा ऋजुसूत्र नय की दृष्टि क्षणिकवादी बौद्ध दार्शनिकों की है। ॥१-१०॥

११ इस लोक मे जो अर्थक्रिया द्वारा सब ओर से नाना रूप वाली आकृतिया के साथ समागम को प्राप्त हो रहे है, जो अप्रतिहत वैभव के धारक है ऐसे आप एक ही स्वय विज्ञानघन रूप स सुशोभित हो रहे है।

१२ हे ईश ! ज्ञान के बाहर कुछ प्रतिभासित नही होता है। आप एक विचित्र आकृति रूप होते हुए स्वय ही जल धारणादि करते हुए कुम्भ आदि रूप अवभासित हो रहे है।

१३ हे ईश ! यदि आप स्वय ही कुम्भ आदि रूप न होओ तो क्या बाह्य अर्थ की सिद्धि हो सकती है ? हे प्रभो ! कुम्भ आदि रूप म आपके स्वय ही होने पर बाह्य अर्थ साधन का क्या प्रयोजन रह जाता है ?

१४ आपके एक विज्ञानघन न समागत होन मे जो जडता का परित्याग कर रहा है, जिसन अपनी विचित्रता नही छोडी है जा अनन्त है और जो पृथक पृथक अथ क्रियाकारी है एसा यह समस्त (जगत) ज्ञान रूप स सुशोभित हो रहा है।

१५ ह ईश ! जो सबको अपन मे निमग्न करन वाल विज्ञानघन है जिन्होंने समस्त विशेष सम्पदा को प्रकट कर दिया है एसे आपके एक साथ सब ओर से अभि व्याप्त कर स्फुरित होन पर बाह्य पदार्थों का बलात निह्नव (लोप) प्रवृत्त हुआ है।

जगत मे चित्र विचित्र नाना प्रकार जीवादि पदाथ हैं तथा उनके ग्रहण से मानव के ज्ञान मे नाना प्रकार चित्र विचित्रता बनती है। ज्ञान की यह चित्र-विचित्रता ही बाह्य चित्र विचित्र जगत को सिद्ध करती है। यदि ज्ञान म ही पदाथ का ग्रहण नही है तो बाह्य म भी पदाथ नही है। जिन्हे बाह्य पदार्थों से प्रयोजन है वे जन पदार्थों के प्रकाशक ज्ञान क लोक स उतरकर पदार्थों के बनाने बिगाडने सचय करने म लग जाते हैं। वे उनके प्रकाशक ज्ञान से ही सतुष्ट नही होते। उन्हे लगता है यदि पदार्थों को जानकर उनका लाभ न न उनका सचय आदि न करें तो उनको जानने से लाभ क्या ? उन्हे कोरा ज्ञान अहेतुक भार रूप लगता है। वे यह नही जानते कि बाह्य पदार्थ प्रकाशित करने के साथ ज्ञान स्वय को आत्मा को भी प्रकाशित कर रहा है और यदि बाह्य पदार्थ लिप्सा छोड दें तो मानव को उसकी आत्मा भी इस ही द्वार से मिलती है। इसी लिये जिन्होने इन्द्रिय विषय लिप्सा छोड दी है सयम धारण कर लिया है वे अध्यात्म पथ के पथिक ज्ञानी जन बाह्य पदार्थों से अन्य प्रयोजन न होते भी चित्र विचित्र ज्ञान के अनुभव हेतु उन्हे ज्ञान का विषय बनाते है। वे जानते है ऐसा किये बिना अज्ञान कषाय और भाँति-भाँति की दुर्बलताय नष्ट नही होती आत्म शक्तियो का जागरण नही होता। वे बाह्य पदार्थों को जानते हुए भी उनसे निरीह रहकर आत्मसिद्धि कर लेते है।

बाह्य पदार्थों से प्रयोजन छोड जब मानव विज्ञानवादी बन आत्म स्पश मे प्रवृत्त होता है तो 'घट का दशन स्पश आत्मा का दर्शन स्पर्श बन जाता है उसकी जल धारण क्रिया भी आत्म धारण की क्रिया ही अनुभव मे आती है। तब घट दशन स्पश जल धारण आदि मे बाह्य पदार्थ गौण हो अमृतमयी आत्मा का दशन स्पर्श धारण बनकर उसे गद्गद करता है। आत्म स्पश मे यो पद पद पर दढता से खडे रहने का निश्चय करने वाले सयमी जन जगल मे सिंह और उसकी गुफा की चुनौति भी स्वीकार कर लेते है। व सिंह द्वारा देह के चीरे जाने तक को आत्म स्पर्श का द्वार बनाने मे कमर कस लेते ह और इस प्रकार के आत्म स्पर्श मे सफलता से गुजरकर कवल्य लक्ष्मी का वरण कर लेते है। जो जन अध्यात्म के नाम पर इन्द्रिय विषय से पराङमुख होने के साथ ज्ञान की इस चित्र विचित्रता से भी पराङ्मुख हो जाते है उन्हे उनकी विज्ञानघन स्वरूप आत्मा की सिद्धि सभव नही है ॥११-१५॥

१६ हे प्रभो ! वह ही आपका रूप प्रतीति में आता है जो पर की व्यावृत्ति (निषेध पृथकता) से सुशोभित होता है। पर का रूप भी वह ही है जो आपकी व्यावृत्ति से सुशोभित होता है।

१७ हे प्रभो ! परस्पर के आश्रय से वह अभाव ही स्व और पर की स्वरूपता को अवश्य प्राप्त होता है। अल्प बुद्धिधारी जनों के अगोचर आप स्वयं सम्पूर्ण रूप से पर के अभाव रूप है।

१८ इस प्रकार महान कान्ति के वाहक इस अन्यापोह को करने में निरन्तर तत्पर रहने वाले आपका अपोह स्फुरित होता है। यह विद्वानों के अनादि सन्तान रूप से चले आये तीव्र भ्रम का भेदन करने वाला है।

१९. हे विभो ! परस्पर अपोह रूप से स्थित आप में पर पदार्थ किंचित भी विकार उत्पन्न नहीं करते है। उपद्रव का क्षय करते हुए आप एक ही समस्त पदार्थों के अपोह रूप से अवभासित होते है।

२ आपके अपोह रूप से तीन लोक गत है और तीन लोक के अपोह रूप से आप गत हैं। अतः साक्षात अगत होते भी हे जिनेन्द्र ! आप गत सुगत तथागत भाषित होते है।

आत्मा एक प्रमुख अन्यो से असस्पष्ट चेतन पदार्थ है। यह न मूर्त है न अचेतन अतः पुद्गल काय आदि अन्य पदार्थों से इसका बिगाड़ कैसे सम्भव है, तथा अपने ज्योतिर्मय स्वरूप के ग्रहण/उपलब्धि हेतु उनमे से किसी का भी यह मोहताज क्यो हो ? अब पदार्थों के ही अभाव/अपोह रूप यह नहीं है, अन्य चेतन पदार्थों (जीवो) से भी यह पृथक् अपोह रूप है। अतः वे एक या सब मिलकर भी इसका कुछ बिगाड़ने मे समर्थ नहीं है, न ही इसे अपने ज्योतिर्मय स्वरूप के ग्रहण/उपलब्धि हेतु उनका मुखापेक्षी कृपा का आकांक्षी होने की आवश्यकता है।

यह स्वतः सिद्ध बात दिन के प्रकाश की भांति स्पष्ट है कि आत्मा अपने प्रदेश गुण एव पर्याय प्रमाता है तथा अन्य पदार्थों के प्रदेश गुण एव पर्याय का कदापि ग्रहण नहीं करता न ही अन्य इसके प्रदेश गुण एव पर्याय का कभी ग्रहण करने मे समर्थ है। आज तक का मानव का कोई अनुभव इस सत्य का खडन नहीं करता। सब कोई इस बात को मानेगे कि पर पर ही रहता है और स्व स्व ही रहता है, कि कोई पदार्थ न अपने प्रदेश गुण पर्याय किसी अन्य को देता है, न ही अन्य के ग्रहण कभी करता है। इस प्रकार पर से अपोह/मुक्ति अनादि से ही वस्तु का स्वरूप

सब को ही प्रकट है। तथापि अनादि से जीव मूर्त कर्मों से बद्ध है, पौद्गलिक देह और उसकी सुविधाओं/इन्द्रिय विषयों का आकांक्षी हो अन्य जीवों से उत्पीड़ित संक्लेशित होता आया है उनकी कृपा का भिक्षुक रहा है। एक ओर अन्यापोह या स्वतः सिद्ध सत्य है दूसरी ओर देह के रोग, धात आदि की चिन्ता बाह्य जड़ चेतन पदार्थों से धात विधात के दबाव मानव के सम्मुख अन्यापोह को सिद्ध करने की चुनौती प्रस्तुत करते है। यह जगत के पदार्थों की परिणमनशीलता की विचित्रता ही है कि यहाँ स्वतः सिद्ध सत्य भी मानव को जीवन में सिद्ध करने होते है। यदि वह दृढ़तापूर्वक उन्हे श्रद्धा ज्ञान और चारित्र का विषय नही बनाता है तो भ्रम की गहन दीवारे उसके और सत्य के बीच खड़ी हो जाती है। इन दीवारों का भेदन करना एक बहुत भारी क्रान्तिकारी कदम होता है जिसकी उपादेयता अल्पमतिजन तो समझ ही नही पाते है तथा कदम उठाकर भ्रम को भेद डालना नष्ट कर देना महान वीर्यवान पुरुषों के लिये ही सम्भव होता है। हीन वीर्य जन-जन इसीलिये एक के बाद दूसरी दुर्गतियां भयों चिन्ताओं के त्रास सहते है कि वे इस भ्रम के आर-पार नही देख पाते उसे भेदने का साहस नही जुटा पाते और नाना दुःख, व्यथा के विकल्पों मे अटके रह जाते है। भ्रम की दीवार के उस ओर रोग शोक चिंता भय भूख प्यास परीषह उपसर्ग कषाय क्लेश जन्म, मरण, अज्ञान और उनके सहचारी आदि से भरे पथ परावर्तन है। अतः यह दुर्गत रूप है क्योंकि मानव पर से अपोह रूप आत्मा के लोक मे नही जीता है। भ्रम की दीवार को भेद कर जो जन एक बार उस पार हो जाते है अर्थात् पर से अस्पृष्ट जीने लगते है वे गत सुगत तथागत अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा हो जाते है दुर्गत नही रहते क्योंकि वहाँ भूख प्यास जन्म मरण आदि के क्लेश तिल-तुष मात्र भी नही है। उनकी वदना स्तुति करने वालों मे भी सुगतमत उत्पन्न हो दुर्गतता मिट जाती है ॥१६-२॥

२१ अन्तरग और बहिरग समस्त विद्यमान वस्तुओं का हठपूर्वक अपलाप कर 'जो कुछ नही है' इस प्रकार निरकुश हो रही है एसी समस्त शून्यता को प्राप्त सविद (ज्ञान) इस लोक मे प्रतिभासित हो रहा है।

२२ हे ईश ! उपद्रव हेतु उछलती हुई कल्पनाओ को शून्य निश्चय से एक साथ साफ कर देता है। सब ओर से विश्व के अस्त हो जाने पर कौन, कहाँ, कितनी, किसके द्वारा, कहाँ से, कैसे और कब सुशोभित हो ?

२३ यह सब मात्र भ्रम ही है। निश्चय से स्पर्श करने वालो के लिये कुछ भी नही है। मृग तृष्णा रूप जल को पीने के इच्छुक ये मृग तुल्य प्राणी निश्चय से खेद को प्राप्त होते है।

२४ हे प्रभो ! शून्य के बल से इस प्रकार हठपूर्वक ऊँचा नीचा यह सब अस्त को प्राप्त हो गया है। इस लोक मे न कुछ अवशिष्ट रहता है न ही 'न कुछ' एसी बुद्धि अवशिष्ट रहती है।

२५. जिसकी विश्व के अस्त रूप उत्सव में रुचि नहीं है वह व्यक्ति अत्यन्त शुद्ध को नहीं जानता है। आप असीम विश्व की अस्तमयता से निर्मल हुए शून्य में प्रवेश कराकर मुझे कृतकृत्य कीजिये।

देह भी जब मानव की निश्चय से उसकी अपनी नहीं है, उसे भी एक दिन वह छोड़ देता है, तब परिवार समाज देश की तो बात ही क्या है? सर्व साधारण इस बात को जानते हैं कि जगत में उनका एक कण भी नहीं है। देहादि पर पदार्थों के साथ जीव के सम्बन्ध बनते हैं। जीव उन्हें अपना मान अनेक ही उपद्रव सहन करता है, रातदिन संक्लेश में जीता है। जब देहादि पदार्थों का वियोग हो जाता है तब तो जीव में उनका अपोह/अभाव/शून्य स्पष्ट ही प्रकट हो जाता है किन्तु जब उनका संयोग विद्यमान है तब भी अमूर्त जीव उनसे अस्पृष्ट ही है। जिस देह से जीव के प्रदेश संश्लिष्ट हैं उस देह से भी वह भिन्न अस्पृष्ट ही है। देह उसकी नहीं बन पाती बन पाती है केवल उसकी ज्ञान में आकृति उसका संवेदन। यह आकृति संवेदन देह की वस्तु नहीं है जीव के अपने ज्ञान गुण की है। उसकी अपनी होने से उस आकृति से जीव को संक्लेश कष्ट का प्रश्न ही नहीं है। यदि ज्ञान में बन रही चित्र-विचित्र पदार्थों की आकृतियाँ/विज्ञान जीव को संक्लेश का कारण बनते हैं तो यह पदार्थों से अपनी पृथकता न समझ पाने रूप अज्ञान है और उससे उत्पन्न कषाय है। पदार्थों से अपने अपोह रूप सम्बन्ध समझ लेने पर उनको लेकर होने वाले मानव के राग द्वेष क्षीण हो जाते हैं और वह रेगिस्तान में भ्रम से जल मान दौड़ने वाले हिरण की भांति बाह्य पदार्थों के पीछे भागना बन्द कर देता है। पर यह विज्ञान भी अत्यन्त शुद्ध आत्म स्वरूप नहीं है। शुद्ध आत्म स्वरूप के काल में पदार्थ तो कहीं दूर ही छूट जाते हैं उनका विज्ञान भी छूट जाता है अथवा किनारे पर हो जाता है। इन सब के शून्य रूप विश्व को ही अस्त करता हुआ/किनारे पर करता हुआ शुद्ध आत्म स्वरूप का उदय होता है। जो पदार्थों में भटकता है वह तो अभागा ही बना लेकिन जो विज्ञान से भी आगे बढ़कर शून्य स्वरूप आत्म वेदन में प्रवेश नहीं करता वह भी परमार्थ को नहीं जानता।

परमानन्द रूप शून्य के वेदन के काल में सब पदार्थों के दृष्टि से तिरोहित होने के साथ 'कुछ नहीं है' का विकल्प भी नहीं रहता वाणी स्तब्ध हो जाती है। दृष्टि में देहादि पदार्थ नहीं रहते उनके संक्लेश उत्पन्न करने वाले क्यों कहाँ कब कैसे आदि के विकल्प नहीं रहते।

बाह्य पदार्थों के आलम्बन से मानव में चित्र विचित्र विज्ञान उत्पन्न होता है। विज्ञान और कुछ भी नहीं है, मानव की चेतना का ही चित्र-विचित्र रूप धारण है जो बन बन कर अस्त हो जाता है और उससे मानव को शून्य रूप स्व का चैतन्य स्पर्श पुन पुन प्राप्त होता है। इस शून्य से सर्व विज्ञानों का उद्भव होता है और इसी में वे विलीन हो जाते हैं। अनन्त शक्ति पुञ्ज इस शून्य रूप स्व के स्पर्श से बड़ा मानव के लिये क्या है? जब वह मिल जाता है तो क्या नहीं मिला और नहीं मिलता है तो अन्य कुछ मिला भी तो क्या मिला? शून्य रूप अद्भुत शक्तिपुञ्ज स्व मानव के नित्य मद का स्रोत है एवं इसके चारों ओर अभ्युदय/पुण्योदय नियम से परिक्रमा

करता है। इसमे स्वय मे तो कोई उपद्रव है ही नही जो उपद्रवो से अतीत इस महान शान्ति पुज मे प्रवेश पा जाते है जीना सीख जाते ह उनके बाह्य मे भी उपद्रव नि शेष हो जाते हैं। अन्य रूप स्व स्पश मे मानव को प्रवेश न मिले तो वह निरन्तर अन्तर्बाह्य उपद्रवो से त्रस्त रहेगा ही ॥२१–२५॥

२१

१ सुनिर्मल और शुद्ध चरम मूल कारण से निरन्तर ऊपर ऊपर विस्तृत होती आपकी ये अनन्त तत्त्व भूमियाँ स्फुरित हो रही है। ये अन्य जनो को भ्रम मे डालने वाली है, उनके अगोचर है।

२ यदि आप स्वय अन्तिम विशेपता को प्राप्त नही है तो आपका यह सामान्य भी आदि युक्त नही है। इस प्रकार आपकी अनन्त परिणामभूमिकायें अपनी शक्ति से उभय रूप दौडती हुई स्थित है।

३ हे देव ! अखण्डित द्रव्य की अपेक्षा आप एकपन को और पर्याय की अपेक्षा अनकपन को प्राप्त होते है। अन्तिम (वर्तमान) पर्याय रूप से आप सुनिर्मल परम अवभासित होते है।

पर्याय (परिणाम) प्रवाह दो रूप है—सामान्य (वह ही) और विशेष (भिन्न)। हर पर्याय जहाँ नूतन है वहाँ अनादि एकपने को/'वह-ही-पने को भी नही छोडती। अर्हन्त परमात्मा वर्तमान पर्याय मे निर्मल परम अवस्था को प्राप्त है पर यह परम अवस्था अन्तिम नही है। परम अवस्था का दौर घातिया चतुष्क नष्ट कर/ज्ञान वीर्यादि अनन्त चतुष्टय प्राप्त कर आरम्भ हुआ है तो अब यह कभी रुकेगा नही नूतन नूतन परम तत्त्व भूमियाँ अनन्त भविष्य म आत्मा के चरम मूल से प्रकट होती ही रहेगी। पर्याय की नूतनता/भिन्नता/अनेकता क इस दौर मे अनादि का वह-ही पना'/अभिन्नता/एकता भी साथ-साथ निरन्तर प्रवाहमान है और रहेगी।

यह सामान्य विशेष/ वह ही एव नूतन' पर्याय प्रवाह ससारी जनो क भी अनादि से प्रवाहमान है पर आत्मा के चरम मूल से शुद्ध रूप मे प्रवाहित न होकर पुद्गल कर्मों की कृत्रिम चतुर्गति रचना के विप श्रान से अन्तर्बाह्य मलिन है। वे चतुर्गति रूप विष रचना से मुह मोडें तो चरम मूल से उठती हुई निर्मल तत्त्व भूमियो के उन्हे दर्शन/स्पर्श हो जावे ॥१–३॥

४ हे ईश ! यदि आप सर्वथा एकता को प्राप्त होते हैं तो आपके विशेषण नष्ट होते ह। विशेपणो के अभाव मे विशेष्यता को छोडकर हे देव ! आप निश्चय ही अन्यपन को प्राप्त होते है।

५ आपकी द्वयात्मकता ध्रुव है क्योंकि आप विशेष्य भी है और विशेषण भी। विशेष्य रूप से आप भिन्नता को प्राप्त नही होते, विशेषण लक्ष्मी के द्वारा आप पृथक पृथक अवभासित होते है।

६ हे विभो! विशेष्य रूप आपकी अविशेषता से विशेषण अविशेष (एक) नही है। वे विशेषण आपके साथ भिन्नताओ को प्राप्त नही हैं पर परस्पर भिन्न रूप से ही अपना प्रभुत्व रखते है।

आत्मा ज्ञान-दर्शन वीर्यादि अनन्त गुणो से सम्पन्न है। वह इन प्रत्येक से अभिन्न है उन प्रत्येक रूप है। वह मात्र ज्ञान रूप ही नही है वीर्य रूप भी है आनन्द रूप भी है आदि। यदि वह मात्र ज्ञान रूप ही हो और अन्य गुण रूप न हो तो उसका ज्ञान रूप भी न रहेगा नष्ट हो जायेगा।

प्रत्येक गुण आत्मा को अपनी विशेषता मे विशिष्ट करता है और इस प्रकार आत्मा अनेक रूपता प्राप्त करता है तथापि वह सब विशेषताओ को धारण किये हुए एक बना रहता है। ऐसा होते भी उसके विशेषण/गुण अपनी भिन्नता नही छोडते वे अपना अपना कार्य करते भिन्न भिन्न बने रहते है। उनमे से प्रत्येक ही प्रभु है और कोई अपनी प्रभुता को समर्पित कर अन्य मे लय को प्राप्त नही होता। पर वे निरकुश प्रभु नही है। वे परस्पर एक दूसरे की प्रभुता का आदर करते है परस्पर सहयोगी सहचारी है ॥४–६॥

७ वृत्तिमान (द्रव्य) के बिना वृत्ति (वतन, पर्याय) सुशोभित नही होती और वृत्ति क्रम के बिना नही है। नित्य और क्षणिक के अन्तर (रहस्य) का अवगाहन कर आपकी अनन्त काल की पर्याय महान ही सुशोभित होती हैं।

आत्मा पर्याय/वृत्तियां/अवस्थाय एक के बाद एक धारण करता है। अत वह पर्यायी/वृत्तिमान है। पर्याये क्रम मे बदलती हुई क्षणिक हे पर उन्हे धारण करने वाला क्षणिक नही है। पर्याय नित्य नही हो सकती और पर्यायी क्षणिक नही हो सकता। पर्यायी आत्मा जिस क्षण जिस पर्याय को धारण करता है तब वह उसमय स्वय होता है। जब उस पर्याय को त्याग कर अन्य पर्याय धारण कर लेता है तो फिर वह अन्य रूप होता है। इस प्रकार पर्यायी आत्मा वस्तुत नये नये रूपो मे स्वय का स्पर्श प्राप्त करता हुआ अनन्त काल तक परिणमन करता रहता है। पर्यायो को छोडकर पर्यायी आत्मा का अनन्त रूप स्वय को स्पर्श करने का कोई उपाय नही है। परस्पर विरोधी अनन्त रूप स्वय को एक साथ स्पर्श करना असभव होने से वह पर्याय रूप स्पर्श क्रमपूर्वक ही चलता है ॥७॥

८ सत का नाश नही है असत् का उत्पाद नही है और कुछ भी व्यय एव उदय बिना नही है। हे ईश ! आप सत् होते हुए उस तरह विवर्तन करते हैं जिस तरह आप उदय और व्यय मे सम रहते है।

६ सत् उदीयमान और व्ययमान ही होता है। विवर्त से शून्य पदार्थ मे कभी वस्तुता नही होती। इस लोक मे जो क्षण क्षण मे नूतनता ग्रहण न कर सके वह कैसे कालसह (काल मे टिकने वाला) हो सकता है ?

जीव अजीव (पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल) सब ही सत् स्वरूप है। जीव अनन्त है पुद्गल परमाणु अनन्तानन्त है कालाणु असख्यात है धर्म और अधर्म असख्यात प्रदेशी एक एक है, आकाश अनन्तानन्त प्रदेशी एक है। यह सम्पूर्ण द्रव्य समूह न उत्पन्न हुआ है न कभी नष्ट होगा। इसे उत्पन्न करने वाले किसी ईश्वर/विधाता/ब्रह्मा की कल्पना नितान्त भ्रम है।

जैसे जीवादि ये द्रव्य अनादिनिधन सत्स्वरूप है वैसे ही इनका अपना-अपना गुण वैभव भी अनादि निधन है। जैसे एक प्रदेशी (अप्रदेशी) या बहुप्रदेशी (असख्यात अनन्त) ये द्रव्य स्वभाव से है और प्रदेश रहित इनका अस्तित्व असभव है उसी प्रकार अपने जड अथवा चेतन जैसे भी गुण समूह को ये द्रव्य धारण करते है उनकी भी निश्चित मात्रा (अविभागी प्रतिच्छेद) अनादिनिधन है, न कभी घटती है न बढती है। इस प्रकार विश्व के पदार्थ उनके प्रदेश उनका गुण वैभव अनादि निधन रूप से अनुत्पन्न-अविनष्ट है। इन्हे अपने प्रदेश और गुण वैभव के लिये न किसी अन्य के उपकार की आवश्यकता है, न कोई नष्ट कर देगा इसका इन्हे खतरा है। स्वय ये द्रव्य भी अपनी किसी प्रयत्न/क्रिया द्वारा न तो अपना एक प्रदेश घटा या बढा सकते है और न ही अपने जड/चेतन किसी गुण का कोई अविभागी प्रतिच्छेद कम या अधिक कर सकते है। पदार्थों का यह नित्य पक्ष अकारण अपरिवर्तनीय है और इसमे किसी के करने-धरने को कही कुछ नही है।

जहाँ पदार्थों का उपरोक्त नित्य पक्ष अनुभव युक्ति और आगम से स्पष्ट प्रकट है वहाँ ही पदार्थों का उत्पाद व्यय रूप विवर्तन स्वभाव (एक पर्याय का धारण करना और अन्य का त्याग करना) भी अनुभव युक्ति और आगम से प्रकट ग्राह्य है। पूर्व वर्णित नित्य पक्ष मे यदि कुछ करने धरने को क्रिया को अवकाश नही है तो अनित्य पर्याय पक्ष मे करने धरने का क्रिया का महत्व है। यहाँ ही मानव सफल असफल होता है कुशल अकुशल/मूर्ख सिद्ध होता है। ज्ञानी अज्ञानी के अन्तर पर्याय रूप द्रव्य की अभिव्यक्ति के लोक मे ही प्रकट होते है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि देव से एकेन्द्रिय हो जाता है और उसका अनन्त आत्म गुण वैभव एकेन्द्रिय के तुच्छ रूप को प्राप्त हो जाता है। ज्ञानी छद्मस्थ इस तरह योग उपयोग के व्यापार करते है कि दारुण छद्मस्थता से बाहर निकल सदा के लिये केवली परमात्मा पर्याय को प्राप्त हो जाते है। केवली परमात्मा भी निरन्तर योग-उपयोग का व्यापार करते है। पर उनके वीतराग प्रत्येक ही उत्पाद-व्यय मे उनका आत्म वैभव सम्पूर्ण रूप से ही सदा अभिव्यक्त रहता है।

कुछ लोगो का मत है कि पर्यायो का उत्पाद-व्यय नित्य सत् स्वभाव मे मानव को टिकने नही देता ससार रूप है उसकी दुर्बलता है। वे नही जानते कि जैसे पदार्थ अपने अनन्त गुण वैभव सहित अनुत्पन्न अविनष्ट है वैसे ही उस गुण वैभव की अभिव्यक्ति/स्वय पदार्थ को ही उसका स्पर्श नित्य नही है, अनुत्पन्न अविनष्ट नही है। ध्रौव्य/नित्यता की भांति परिवर्तन/पर्यायो का उत्पाद व्यय भी सत् का स्वभावभूत अग है और चाहे मानव ससारी हो अथवा अर्हन्त सिद्ध परमात्मा हो पर्यायों के विवर्तन बिना किसी को अपने गुण वैभव का स्पर्श सभव नही है। अत ज्ञानी मानव निरन्तर अपने ज्ञानादि गुण वैभव को नये नये रूपो मे अनुभव मे लेने का यत्न करते है और इस प्रकार आत्म वैभव के शिखर पर आरोहण करने मे सफल हो जाते है। अज्ञानी जन पुरातननिष्ठ होते है उन्हे नूतन आत्माभिव्यक्तियो की न तो ललक होती है और न ही उन्हे समझने की योग्यता। उन्हे तो अतीत की घिसीपिटी राहो मे ही अन्यों की नकल करने मे ही अपनी सुरक्षा अपना कल्याण दिखता है। वे नही जानते कि जो रूप अपना नूतन तेज गवा वृद्ध हो चुके है वे कसे उन्हे सतेज करगे। परिणामत निस्तेज उन्हे काल की चपेट चतुर्गति के किन्ही गड्ढो मे ले जाकर डाल देती है और वे आत्म वैभव के शिखरो से और दूर हो जाते है ॥८-९।

१० हे ईश ! प्रतिक्षण का क्षय आपको पृथक् पृथक करता है और ध्रुवता निरन्तर एकत्व को प्राप्त कराती है। इस प्रकार क्षण क्षण अनन्त काल व्यतीत करते हुए आप दोनों (पृथकता और एकत्व) से धारण किये हुए सुशोभित हो रहे है।

११ हे ईश ! यद्यपि यह आपका सत् रूप भव व्यतीत हुआ है और असत् रूप सिद्ध पर्याय (उत्पन्न) हुई है, तथापि सत् के नाश और असत की उत्पत्ति के बिना आप सत् रूप ही सुशोभित हो रहे है।

हम पृथकता और एकता रूप विरोधी धर्मों से युक्त है। एक पर्याय अन्य से पृथक् है। जब एक पर्याय व्यक्त होती है तो हम उस रूप होते है और जब वह नष्ट होकर अन्य उत्पन्न होती है तो हम उस अन्य रूप होते है। इन पृथक्-पृथक् पर्यायो रूप होते भी हम नित्य ज्ञानादि गुण युक्त चेतन आत्मा है, एक पर्याय छोड अन्य पर्याय धारण करते हुए एक शाश्वत सत् है।

१२ आप सामान्य और विशेष वाले होने से सुशोभित नही है, आप तो स्वय ही इन दोनो रूप सुशोभित हो रहे है। सामान्य विशेष मात्र से अतिरिक्त कोई भी वस्तु विचार का विषय नही बनती।

१३ इस जगत में समान वस्तुओं द्वारा जो स्वय हुआ जाता है वह ही सामान्य कहा जाता है। हे देव ! आपके विशेष जितने समान है उतने ही आप इस लोक में सामान्य है।

१४ जिस प्रकार आप एकता को प्राप्त होते है उसी प्रकार समानता है और जिस प्रकार भेद को प्राप्त होते है उसी प्रकार विशेष है। आपकी परिणति ही उभय रूप सुशोभित होती है, आप पृथग्वर्ती सामान्य और विशेष से युक्त नही है।

१५ हे विभो! आपके जो विशेष (गुण तथा पर्याय) समान है वे भाव की अपेक्षा समानता को प्राप्त है विशेष रूप से [तो वे] सदा असमान होते है। वे विशेष आपसे भिन्न नही है।

१६ हे देव! तन्मय होने वाले द्रव्य समूह से पृथक हो रहा समग्र सामान्य वस्तुपने को प्राप्त नही होता है क्योकि द्रव्यो के समूह में विशषता को अर्पित करता हुआ वह (समग्र सामान्य) विभाग रूप से पृथक्-पृथक भी उन द्रव्यों में लीन रहता है।

१७ हे प्रभो! और आपके मत मे यह एक सामान्य अपनी पर्यायो से पृथक प्रतिभासित नही होता है। वह इस लोक मे अपनी पर्यायों को दृढ करता हुआ अपृथक ही प्रतीत होता है।

जगत मे जड चेतन अनन्त पदार्थ है। सब ही पदार्थ अपने प्रदेश गुण तथा पर्यायो से तन्मय है तथा अन्य सबसे पृथक है। इस दृष्टि से सब ही पदार्थ अन्यो से भिन्न है, उनमे से किसी से भी उनकी तन्मयता/एक्य सभव नही है।

भाव अपेक्षा विचार करे तो एक पदार्थ उसके गुण तथा पर्याये अन्य पदार्थों के गुण तथा पर्यायो से समानता तथा असमानता लिये हुए है। जगत मे ऐसा कोई पदार्थ नही है जो अन्यो से मात्र असमान है अथवा पूर्णतया समान है। अत सभी पदार्थ सामान्य विशेष रूप है। यदि पदार्थ सामान्य विशेष रूप न होकर मात्र समान हो तो फिर वे अनेक न रह कर एक ही पदार्थ हो जायेंगे। ऐसा सर्वथा अद्वैत रूप पदार्थ ज्ञान का/विचार का विषय नही बन सकता। जो भेदो के प्रति असहिष्णु बन जगत मे एक ही पदार्थ की/ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते है वे उस ब्रह्म मे शक्तियो और पर्यायो के नानापन के प्रति भी असहिष्णु रहेंगे। शक्तियो के नानापन से रहित पदार्थ तो अर्थक्रियाविहीन तुच्छ ही होगा जिसे कोई विचारक स्वीकार नही करेगा। यदि शक्तियो के नानापन से युक्त उस एक ब्रह्म को स्वीकार किया जाता है तो इतने से भी वह अर्थक्रियाकारी नही बन पाता। अर्थक्रिया का व्यवहारिक रूप अन्य पदार्थ की अपेक्षा रखता है यथा ज्ञान के लिये ज्ञेय पदार्थ गति के लिय धर्म द्रव्य आदि। अर्थक्रिया के इस व्यवहारिक पक्ष के अभाव मे अपने से अपने मे होने वाला परिणमन भी सभव नही है, क्योंकि व्यवहार और निश्चय एक सिक्के के दो पहलुओ की भाँति है जिन्हे हम दृष्टि मे गौण तो कर सकते है पर लोप नही कर सकते।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ ऊर्ध्व रूप से अपने मे और तिर्यक रूप से अन्यो से सामान्य विशेष ही ज्ञान का/विचार का विषय बन सकता है अन्य प्रकार तो वह असत् कल्पना मात्र है।

यदि पदार्थ को अन्यो से क्षणिकवादियो की भाँति मात्र असमान ही स्वीकार करे तो भी वह ज्ञान का विषय नही बन सकता क्योकि पदार्थ को ऐसा है और ऐसा नही है पहचान पाना अन्यो से समानता और असमानता के आधार पर सभव है। अत भाव अपेक्षा किसी पदार्थ को अन्यो से मात्र असमान कहना पुन एक असत् कल्पना है।

वशेषिक दर्शन की मान्यता है कि पदार्थों मे समानता एक पृथग्वर्ती सामान्य से पदार्थ के समवाय सम्बन्ध का परिणाम है। इसी प्रकार न्याय दर्शन की मान्यता है कि जीव पृथग्वर्ती ज्ञान गुण के सम्बन्ध से ज्ञानी है। सामान्य तथा विशेष के सम्बन्ध मे इन दर्शनो की भी ये असत् कल्पनाये मात्र ह। पदार्थ के गुण तथा पर्याय जो अन्यो से समान अथवा असमान जसे भी हो पदार्थ से पृथग्वर्ती नही है। जैसे गुण तथा पर्याय पदार्थ से अभिन्न है, पदार्थ तनमय है वसे ही पदार्थ की अन्यो से समानता अथवा असमानता जसा भी है तनमय ह। समानता तथा असमानता न तो जैसा वशेषिक मानते है पदार्थों से पृथग्वर्ती है और न ही मानव के मस्तिष्क की कल्पना मात्र है वरन् पदार्थों के अगभूत है।

अनेक पदार्थों मे भाव अपेक्षा घटित हो रहा सामान्य/समानता एक है और उन पदार्थों मे वह समान विशेषता उस एक सामान्य की पर्यायें है। जसे ससारीपना समस्त ससारी जीवों मे प्राप्त एक सामान्य है तथा किसी भी प्राणी मे प्राप्त ससारीपना उस सामान्य की पर्याय है। जितने जीवो मे ससारीपना पाया जाता है उतने ही उस ससारीपना सामान्य की पर्यायें हैं। ससारीपना उनसे पृथक कही अन्यत्र उपलब्ध नही है वह उपलब्ध ससारी जीवो से अपृथक् है।

भाव अपेक्षा यह सामान्य अपनी पर्यायो को दृढ करता है बल देता है। एक जीव का ससारीपना अन्य ससारी जीव के ससारीपने को दृढ करता है। इसीलिये birds of a feather flock together' की कहावत प्रचलित हुई है। चिडिया विशेष अपने किस्म की चिडियाओ के बीच आश्वस्त अनुभव करती है। हम जसी सगति मे रहते है वैसे ही हम हो जाते हैं। हम रागी देव की अनुमोदना या भक्ति करते हैं तो हम मे राग वृद्धि हो जाती है तथा वीतरागी की भक्ति करते है तो हमारे राग-द्वेष मद पड जाते हैं। मानव अन्यो मे जो तलाशता है वह ही उसम स्वय में प्रकट हो जाता है। अन्यो मे दोष देखने वाले म स्वय म दोष वृद्धि हो जाती है और गुण देखने वाले में गुणवृद्धि हो जाती है। एक दीपक से जुड कर अन्य दीपक भी प्रदीप्त हो उठता है।

जैसे अनेक पदार्थों के बीच उपलब्ध तिर्यक् सामान्य सानिध्य से अपनी पर्यायो को दृढ करता है उन्हे बल देता है वसे ही एक पदार्थ/द्रव्य म व्याप्त ऊर्ध्व सामान्य अपनी पर्यायों/अभि

व्यक्तियों को बल देता है/दृढ करता है। मानव अपने ज्ञानादि गुणो के सम्बन्ध मे जसी धारणा बनाता है वह उनकी वैसी ही अभिव्यक्ति प्राप्त कर पाता है। जिसे ज्ञान की अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना ही नही उसके ज्ञान मे अतीन्द्रियता कसे व्यक्त होगी ? जो आत्मा के अजर अमर नित्य स्वभाव की भावना/अनुभूति नही करता वह जरा जीर्णता मुक्त दीघ आयु वाला कसे हो सकता है ? देवो की सागरों की आयु एव अनन्त सिद्धावस्था आत्मा के नित्य स्वभाव के आश्रय मे जीने वालों को ही प्राप्त होती है।

इस प्रकार तिर्यक् रूप स और उर्ध्व रूप से हम जिस प्रकार के गुणो/गुणियो का सानिध्य/आश्रय लेते है वह ही विशेषता हममे उभर आती है दृढतर हो जाती है। यह अस्ति रूप से कथन है तो नास्ति रूप से कहा जायेगा कि हम तिर्यक रूप से और उर्ध्व रूप से जिन दोषो स दूर रहते है उपेक्षा करते है, अस्वीकार करते है वे दुर्बल पड जाते है, जीर्ण होकर झड जाते है।

पौद्गलिक पदार्थों मे यह सानिध्य देश-काल मे निकटता के रूप मे होता है। पास-पास रखी चीज एक-दूसरे को प्रभावित करती है। पानी आग की निकटता पाकर उष्ण होता है अन्यथा नही। जीवो मे यह निकटता अनुमोदना उपादेय मानने रूप और दूरी हेय मानने, उपेक्षा करने आदि रूप मानसिक है। जो जन मानसिक रूप स विकसित है वे ऐन्द्रियिक स्तर की देश की निकटता और दूरी के स्थान पर मानसिक निकटता और दूरी मे जीने लग जाते है और मात्र ऐन्द्रियिक निकटता और दूरी उनके लिये विशेष अर्थ नही रखती।

पुद्गल जगत मे निकटता के साथ सूक्ष्म स्तर पर दो गुणाश के फर्क से परस्पर के बधन और गुणाधिक के रूप मे परिणमन पुद्गल करता है स्थूल स्तर पर निकटता होते भी सोने पर कीचड का कोई प्रभाव नही होता पर लोहा नमी का सानिध्य पाकर जग खा जाता है। यह पात्रता/योग्यता की बात जीव पुद्गल सभी मे समान रूप से पायी जाती है बाह्य पदार्थ तो उस समान होने मे तिर्यक् रूप से आलम्बन है। पुद्गल पदार्थों को देश-काल मे बाह्य आलम्बनो का सानिध्य न मिले और जीव अनुभूति मे मानसिक लोक मे उपादेय मानने अनुमोदना करने आदि रूप मे सानिध्य प्राप्त न करे तो पात्रता होते भी परिणमन विशेष सफल होना सभव नही है। इस प्रकार तिर्यक् सामान्य और उर्ध्व सामान्य का विस्तार होता है, वे अपनी पर्यायो को रचते हैं दृढ करते है ॥१२-१७॥

१८ सत् आपके ज्ञान के द्वारा पिया हुआ है। वास्तव मे यह सब तन्मय प्रतिभासित होता है। आपके अखण्ड ज्ञान रूप होता हुआ यह आपमयता को कभी नही छोडता है।

१९ अपनी अपेक्षा भाववान् आपका जसे यह भाव विशेषण होता है वसे ही अन्य की अपेक्षा अभाववान आपका अभाव भी अनिवाय रूप से विशषण हो।

२० भाव कही भी निराश्रय प्रतिभासित नही होता है। जो उसका आश्रय है वह ही भाववान है। अभाव भी कभी निराश्रय नही रहता है। उसका आश्रय अभाव वान् सिद्ध होता है।

२१ हे देव ! परस्पर विरुद्ध उन दोनों के निर्विरोध रूप से आ पडने पर आपकी (आपके मत में) वस्तु नष्ट नही होती है। उस ही प्रकार से (निर्विरोध भावाभाव रूप से) वह उत्कृष्ट होती हुई प्रकट होती है। आपकी आत्मा भी [इस ही प्रकार] उत्कृष्ट हुई है।

२२ निश्चय से वस्तु के आश्रय रूप शक्ति सम्पन्न नय से होने वाला अभाव कभी भी तुच्छ प्रतिभासित नही होता। जसे सकल पदाथ भाव स्वरूप है वैसे ही परस्पर भेद से अभाव रूप भी है।

२३ हे प्रभु ! समस्त पदार्थों में परस्पर आश्रय से स्थित रहने वाला जो सबका अभाव स्फुरित हो रहा है प्रकट एक ज्ञान मय आपको वह दारुण सर्वाभाव स्वमुख से, हे ईश !, शून्यता को प्राप्त करा रहा है।

२४ भाव आपकी बोध वस्तुता को करता है, अभाव भी समान रूप से [उसे] करता है। एक साथ वे धारण किये हुए या नही धारण किये हुए बरबस सब पदार्थों के साथ ज्ञान ज्योति को निहत (नष्ट) कर देते हैं।

आत्मा ज्ञान स्वभावी है। ज्ञान स्वभाव से त्रिकाल समस्त लोकालोक को वह व्याप रहा है। जगत के धर्म अधर्म आकाश काल पुद्गल और जीव छहो ही द्रव्यो के सद्भाव अभाव आदि को लेकर ज्ञाता आत्मा भी ज्ञान में भांति-भांति से भावाभाव का वेदन करता है।

भाव और अभाव की चर्चा में भाव को तो हम पदाथ के आश्रय से उपस्थित मान लेते हैं। जीव का सद्भाव जीव के आश्रय से है जीव है तो जीव का सद्भाव है, उसकी गुण पर्यायो का सद्भाव है। अभाव हमे लगता है कि आश्रय विहीन है। उदाहरण के लिये आकाश-कुसुम के अभाव को हम आश्रय विहीन देखते है। पर वस्तुत उसका तुच्छाभाव नही है। आकाश इस कुसुम विहीनता का प्रबल आश्रय है।

हर पदार्थ भावाभाव रूप है। यदि केवल भाव रूप होने की कोई टेक रखता हुआ ज्ञान के साथ कषाय भी मिश्रण करेगा तो ज्ञान बन्ध कारक मन विष रचना करने लगेगा और कुज्ञान कहा जायेगा। यदि ज्ञान को उत्कृष्ट बन वर्तन करना है तो उसे राग के सम्पूर्ण अभाव के साथ

अपना मेल बठाना होगा देश-जाति परिवार यहा तक कि देह का राग भी उसे छोडना होगा। आत्मा परमात्मा भाव और अभाव के निर्विरोध मेल से ही बनता है। हमें इष्ट सिद्धि हेतु केवल अस्ति ही नहीं 'नास्ति' को भी कठोर रूप से लागू करना होगा।

जगत के जड चेतन ससारी सिद्ध सभी पदार्थ भावाभाव रूप हैं। ज्ञान के द्वार से जगत के ये पदार्थ तन्मय हुए ज्ञाता आत्मा को भाति भाति से भावाभावता का वेदन कराते है—

(1) जगत के पदार्थों को जानता हुआ ज्ञाता स्वय को अपने स्वरूप से भाव रूप अनुभव करता है और ज्ञान मे आये जगत के पदार्थों के अभाव रूप स्वय को अनुभव करता है। वह जानता है कि ये पदार्थ उससे भिन्न है वह ये नहीं हैं।

(2) ज्ञाता आत्मा पदार्थ का विवक्षित रूप होने से ज्ञान मे उसकी भावरूपता का वेदन करता है विवक्षित रूप न होने से उसकी अभाव रूपता का वेदन करता है। अथवा वह पदार्थ को उसके स्वरूप से भाव रूप वेदन करता है और पररूप से उसके अभाव रूप का वेदन करता है।

(3) ज्ञाता जब परस्पराश्रय से सब पदार्थों की अभाव रूपता पर दृष्टि डालता है तो उसे सर्वाभाव अथवा शून्य का वेदन होता है।

(4) भाव और अभाव परस्पर विरोधी हैं। दोनो के निर्विरोध सुमेल से ही वस्तु की वस्तुता है। पदार्थों के भाव पक्ष को जसे ज्ञान जानता है वसे ही अभाव पक्ष को भी वह जानता है। वस्तु मे जिस गुण-पर्याय का सद्भाव अपेक्षित है उसी का यदि अभाव भी उपस्थित हो जायेगा अर्थात् भाव-अभाव दोनो एक साथ उपस्थित हो जायेंगे तो वस्तु नष्ट हो जायेगी उस गुण-पर्याय से विहीन हो जायेगी। इस ही प्रकार वस्तु मे न विवक्षित गुण-पर्याय का सद्भाव होगा तथा न ही उसके विरोधी गुण-पर्याय का अभाव होगा तो वस्तु मे वे गुण-पर्याय सभव नहीं है। अर्थात् जब भी वस्तु मे किसी गुण-पर्याय की उपस्थिति होगी उसके सद्भाव और विरोधी के अभावपूर्वक ही होगी। स्वयं ज्ञान भी इस नियम का अपवाद नहीं है। यदि ज्ञान म भावाभाव की सम्यक् स्थिति न हो (उदाहरण के तौर पर यदि ज्ञाता ज्ञान के भाव रूप एव ज्ञान मे ग्रहण हुए बाह्य पदार्थो के अभाव रूप स्वय का वेदन न करे) तो ज्ञान ज्ञान ही नहीं होगा तथा उससे ज्ञान नष्ट होगा हानि को प्राप्त होगा। इस ही प्रकार ज्ञाता यदि अपने ज्ञान स्वभाव का ही अभाव जो गुणाश व्यक्त है उन पर ही झाका करेगा तो वे भी नष्ट हो जायेंगे। इस प्रकार भाव-अभाव के सम्यक् वेदन से वस्तु उत्कर्ष को प्राप्त होती है, अन्यथा नाश को प्राप्त होती है ॥१८-२४॥

२५ आपके अश के समुत्त जल से दारुण हुआ मेरा यह भस्मक रोग निरन्तर बढ रहा है। हे प्रभो ! आप मुझ पर प्रसन्न हो। समस्त पदार्थो से एकाकार हो रहे आप अनन्त ही मुझ मे एक साथ प्रवेश करें।

//

आत्मा विश्व पदार्थों का ज्ञाता है। विश्व के पदार्थों से ज्ञान मे एकाकार हुए आत्मा का वेदन छद्मस्थ के लिये समव नही है। यह अर्हन्त सिद्ध परमात्माओ के ही वश का है। आत्मा के इस अनन्त रूप के वेदन से उन्हे किस अनन्त ही आनन्द का अनुभव होता है यह छद्मस्थ जन उसके एक अश कुछ पदार्थों के ज्ञाता रूप मे आत्मा के वेदन से प्राप्त आनन्द की अनुभूति से समझ सकते है। जिन्हे कुछ पदार्थों के ज्ञाता रूप आत्म-वेदन मे आनन्द का अनुभव हुआ है उन्हे स्वभावत आकाक्षा होती है कि वे विश्व पदार्थों को ज्ञान मे समेटे सवज्ञ आत्मा का भी किसी प्रकार वेदन करने मे समथ हो जाये ॥२५॥

२२

१ हे स्वामी अर्हन्त ! जिनका ज्ञान प्रत्यक्ष ज्योति के समूह से खचित (सहित) अत्यन्त निष्कप क्रीडा करता हुआ तथा बाह्य पदार्थों के स्पश के राग से विमुख अक्षीण है ऐसे आपका दृष्टि को भीतर ही भीतर अत्यन्त मग्न करता हुआ यह कौन आनन्द का पूर बह रहा है ?

२ हे ईश ! कुछ लोग कहते है कि क्या इस लोक में दाह से इधन भिन्न है जिससे दाह स इधन व्याप्त नही होता है अग्नि ही याप्त होती है। [इस ही प्रकार] क्या आपके ज्ञान स ज्ञय रूप विश्व भिन्न है जिसस आप तो ज्ञान स याप्त होते है [किन्तु] विश्व याप्त नही होता है ?

३ जिसन सर्व अवकाश (आकाश/लोकालोक) को पी लिया है जो सर्व द्र यों के स्वरस से विशद है ऐसा यह विश्वरूपी कुरला ज्ञान रूपी मुख स निकलकर किधर गिरे ? निश्चय से न तो यह अ दर प्रवेश करता है न बाहर जाता है किन्तु ज्ञान क मुख क अ दर ही बार-बार आवर्त को प्रकट करता हुआ अत्यधिक परिवतन को प्राप्त होता है।

ज्ञान आत्मा का गुण होने से उससे अभिन्न/अपृथक् है और वह उसके किसी एक भाग मे ही नही रहता वरन् सम्पूण लोक प्रमाण असख्यात उसके प्रदेशो को उसने व्याप रखा है। पूरी आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान जैसे ज्ञाता आत्मा बिना नही होता वैसे ही वह ज्ञयो बिना भी नही होता। तो क्या वह उनसे भी अभिन्न/अपृथक है क्या उसने उन्हे भी व्याप रखा है ? जैसे दाह अग्नि से तो अपृथक् है ही, पर ईधन से भी उसका सम्ब ध बडा घनिष्ट है और वह उससे भी वस्तुत अभिन्न है। क्या ऐसा ही सम्बन्ध ज्ञान का भी ज्ञयो से है ? यह प्रश्न चाहे अनुत्तरित रहे अथवा कहा जाये कि बाह्य पदार्थ ज्ञान के ज्ञय होते भी ज्ञान से पृथक है अनुभूति के स्तर पर ज्ञान-ज्ञय सम्बन्ध दाह्-दाह्य/(ईधन) सम्ब ध से भिन्न नही होता और हमे लगता है कि समस्त लोकालोक प्रमाण त्रिकाल विश्व ज्ञान के मुख मे कुरले की भाँति उलट-पुलट होता रहता है।

पदार्थ क्योंकि ज्ञाता से भिन्न है अत वह उन्हे अपने से आत्मसात् करके वहिर्मुख स्वभावी ज्ञान के मुख को इस कुरले से रिक्त नही कर सकता और इसी प्रकार ज्ञान के मुख से बाहर भी वे फेंके नहीं जा सकते क्योंकि बाहर तो वे है ही और ज्ञान की वहिर्मुखता उन्हे ग्रहण करती ही रहेगी। इस प्रकार ज्ञान के मुख मे विश्व पदार्थों का विवर्तन चलता ही रहेगा।

पदार्थों का ज्ञान मे विवर्तन ज्ञान के लिये तो बोझ स्वरूप हो सकता ही नही है क्योंकि वह उसके मुख का कुरला मात्र है। ज्ञाता आत्मा को भी यह कुछ बोझ स्वरूप उकताहट पैदा करने वाला नही है वरन् वह आनन्दपूर के उमडने का हेतु है। बाह्य विश्व के ज्ञान से शुद्ध आत्मा/परमात्मा के आनन्द का पूर उमडता है पर ससारी मानव साधारणत क्लेश अनुभव करता है थकता है। उसके लिये बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्राय आनन्द का उत्पादक नही होता क्रीडा नही बनता। विश्व पदार्थों का ज्ञान मानव के लिये आनन्द रूप बने इस हेतु आवश्यक है— (1) मानव इसे आनन्द का हेतु माने पदार्थों के स्वरूप बोध को ज्ञान की क्रीडा माने (2) पदार्थों को राग-द्वेष से निवृत्त हो शुद्ध ज्ञान का विषय बनाये तथा (3) ज्ञानाभ्यास से ज्ञान शक्ति को सब परोक्षता से मुक्त करे और चरमता के उस बिन्दु तक विकसित करे जहाँ क्षीणता/क्षीणता से वह सदा के लिये मुक्त हो सके। जितना जितना यह होता चलता है विश्व पदार्थों का स्वरूप बोध मानव के लिये क्रीडा स्वरूप होता चलता है और उसे भीतर ही भीतर आनन्द मग्न करता हुआ बाह्य इन्द्रिय विषयो सम्बन्धी आर्तता रौद्रता को अर्थहीन कर देता है ॥१-३॥

४ हे देव! आप भाग रहित होने पर भी सब ओर से नय समूह द्वारा बरबस खण्ड खण्ड किये जाते है, तथा खण्ड खण्ड किये हुए आपको प्रमा (ज्ञान ज्योति) ही मिलाती है। ऐसा होते भी आप खण्डित होकर मिली हुई लक्ष्मी स युक्त नही है, आपकी अन्य ही लक्ष्मी जो सहज अखण्ड-खण्ड रूप है स्फुरित हो रही है।

५ हे विभो! भिन्न पदार्थ अभेद का स्पर्श नही करते और अभिन्न का भेद नही होता, तथापि आप भेदाभेद दोनो रूप नित्य परिणत है। हे वरद! हे स्वामिन्! भिन्न भावो से साक्षात अभिन्नभाव धारण करने वाले आपकी उन दोनो को छोडकर कौन अन्य गति हो सकती है?

आत्मा भेदाभेद रूप है। वह जगत के पदार्थों से प्रदेश अपेक्षा जहाँ भिन्न है वहाँ ज्ञान मे उन्हे ग्रहण करने की अपेक्षा साक्षात् उनसे अभिन्न है। क्योंकि त्रिकाल त्रिजगत के पदार्थ परस्पर भिन्न है अत उनका ज्ञाता आत्मा भी नाना रूप परस्पर भिन्न खण्ड खण्ड अनुभव मे आता है। आत्मा की इस खण्ड खण्ड अभिव्यक्ति को ज्ञान ज्योति एक आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप मे समग्र करती है। अथवा कहना चाहिए कि नाना रूप खण्ड खण्ड होते भी अखण्डता/एकता को नही छोडना आत्मा का सहज स्वभाव है। यह नाना रूप खण्ड खण्ड अभिव्यक्तियाँ अखण्ड आत्मा का वैभव है। जगत के पदार्थों को ज्ञान मे लेने से हो रहा परिणमन स्वभावी आत्मा के

नाना रूप खण्ड खण्ड वभव मे यदि कमी आती है तो आत्मा की अखण्डता/एकता उतनी ही अर्थहीन तुच्छ हो जाती है ॥४–५॥

६ विशेषों के बिना क्या सामान्य की महिमा उल्लसित होती है और इस लोक में क्या ये विशेष सामान्य के बिना स्वय को धारण करते है ? जिनके एक द्रव्य की विस्तृत अनन्त पर्यायो का समूह बीत चुका है, जो दर्शन-ज्ञान के स्फुरण से सरस है ऐसे आप निश्चय से वस्तुपने को प्राप्त हैं।

सामान्य तिर्यक और उर्ध्व के भेद से दो प्रकार का है। तिर्यक् सामान्य के विशेष अनन्त जीव एव अजीव पदार्थ है। उर्ध्व सामान्य के विशेष एक जीव की अनन्त पर्याय है। एक जीव जगत में अनन्त जीवो को व्याप्त हुए तिर्यक् सामान्य के बिना नही हो सकता और न ही किसी जीव की कोई पर्याय उर्ध्व सामान्य रूप उस जीव के बिना हो सकती है। एक जीव और उसकी पर्याय की यह वस्तुभूतता है कि वह जीव तिर्यक रूप में अन्य जीवो की कतार में है और उसकी पर्याय उर्ध्व रूप मे अन्य पर्यायों की कतार में है। यदि एक भी परमात्मा (अर्हन्त/सिद्ध) जगत मे है तो आवश्यक है कि जगत मे अन्य भी अनेक परमात्मा है। अनेक के स्थान पर एक ही परमात्मा मानने पर तिर्यक् सामान्य का लोप होता है और इस प्रकार वस्तुभूतता का उपरोक्त आदर्श खण्डित होता है (किसी क्षेत्र विशेष में किसी काल में केवल एक ही परमात्मा (अर्हन्त) हो यह बात भिन्न है।) जैन शास्त्रो मे प्रत्येक आत्मा स्वभावत ही शुद्ध रूप में अर्हन्त सिद्ध समान है। कर्म लेप के नाश का पुरुषार्थ कर अनेक आत्मा प्रकट अर्हन्त सिद्ध परमात्मा बने [illegible]। वे वस्तुभूत है क्योंकि वे तिर्यक सामान्य युक्त है एव परमात्म स्वरूप अपनी पर्यायो की दीर्घ शृंखला को पार कर चुके है।

जसे तिर्यक् और उर्ध्व सामान्यों मे विशेषो की स्थिति है वैसे ही विशेष सामान्य की महिमा प्रकट करते है। 'न धर्मो धार्मिक विना' धर्मात्मापना तो धर्मात्मा आदमी [illegible] सुशोभित होता है। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणो का पुज है पर [illegible] अनादिकालीन अकृत्रिम असाधारण गुण वभव की महिमा तो अनन्त चतुष्टय धारी अर्हन्त परमात्मा बनने पर ही उल्लसित होती है। अर्हन्त पर्याय धारण किये बिना उस सारे गुण वभव को आत्मा में [illegible] समेटे भी चतुर्गति भ्रमण करता जीव [illegible] [illegible] [illegible] रोता [illegible] है।

चतुर्गति मे भ्रमण करते ससारी प्राणी का ससारीपन [illegible] भूख प्यास रोग-जन्म मरण आदि की आवश्यकताओं में [illegible] अनुभव [illegible] है लेकिन भूख-प्यास आदि दोषो से मुक्त गगन विहारी अन्तराल अनन्त [illegible] परमात्मा काल्पनिक, अतिशयोक्ति पूर्ण लगते है। [illegible] आत्मिक गुण वैभव के मलीन रहते ही ससारीपना, भूख-प्यास रोग [illegible] रहती है। [illegible] दर्शन-ज्ञानादि गुण [illegible] निर्मल [illegible] [illegible]

लगने लगते है, दोषो का घर ससारीपना पलायन करने लगता है और एक दिन मानव पूर्णतया असंसारी शुद्ध परमात्मा बन जाता है। अत ससारी दशा मे तो मानव और अन्य प्राणी अवस्तुभूत ह। अर्हन्त बनकर मानव वस्तुभूत होता है स्व स्वरूप होता है ॥६॥

७ एक अनेक नही होता और न अनेक एकत्व को प्राप्त होते है। आप प्रकट ही इन दोनो सहित क्या है यह हम नही जानते। हम दूसरी यह बात जानते है कि निश्चय से जो जिनके समाहार से उत्पन्न होता है उसक अवश्य ही उनके स्वभाव का युगपत अनुभव होता है।

जगत मे अनन्त जीव है, अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु है आकाश काल आदि है। इनम प्रत्येक एक का अन्य स पृथक अस्तित्व है। एक भी जीव पुद्गल परमाणु आदि किसी अन्य मे अपनी सत्ता का लय नही कर सकते न अनेक ही मिलकर अपनी अनेकता का लोप कर एक हो सकते हैं। जीव पुद्गल एव पुद्गल पुद्गल बन्ध की अवस्था म कितने ही घनिष्ठ रूप मे परस्पर जुड जाय और एक रूप म कार्य कर पर वे अपनी अनेकता नही छोडते। इस अपेक्षा जीव का ब्रह्म मे लय असभव है। निगोद शरीर मे अनन्त जीव एक गुच्छो के रूप मे जीते मरते एक साथ आहार ग्रहण करते श्वास लेते भी सब पृथक् पृथक् है एक नही हो जाते। इस ही प्रकार सिद्धालय म एक मे एक सिद्ध परमात्मा भी अनेक ही रहते ह।

एक अनेक के बीच यह प्रतिलोमता/विरोध प्रदेशापेक्षा है। ज्ञानापेक्षा अनन्त जीव पुद्गल आदि जगत के तीन काल के पदार्थ ज्ञान म एक आत्मा के साथ ज्ञेयाकार रूप से तादात्म्य को प्राप्त हो जाते ह। ज्ञान म एक आत्मा का जगत के पदार्थो से यह तादात्म्य छद्मस्थ के लिये सदा ही एक पहेली बना रहता है। कोई जन तो सीधे सीधे इस पहेली को सुलझाने मे स्वय को असमर्थ घोषित करते है और कहते है कि हम ज्ञान मे बन रहे नानाविध प्रपच का वेदन करते है पर उसके पीछे पदार्थ क्या है यह नही जानते। कोई मात्र ज्ञान को स्वीकार कर लेते है और पदार्थो की सत्ता का निषेध कर देते ह। ज्ञान अपेक्षा यह एकानेकता ससारी तथा अर्हन्त सिद्ध परमात्मा सब म विद्यमान है। ८४ लाख योनियो म परिभ्रमण करत ससारी जीवो मे एकानेकता का एक दूसरा प्रकार और उपलब्ध होता है जिससे अर्हन्त सिद्ध परमात्मा निवृत्त हो चुके है। एक ही जीव का चतुर्गति म नाना रूप हो जाना भी छद्मस्थ मानव के लिये एक पहेली है। इस पहेली को नही समझ पाने के कारण कोई तो शरीर से भिन्न आत्मा और उसके पुनर्जन्म को ही इकार कर देते ह कोई मानव का तिर्यच आदि रूपो म व तिर्यच आदि का मानव रूप म जन्म लेना स्वीकार नही करत वे मानव का मानव रूप ही अन्य जन्म मानते है। कोई इस प्रश्न को अव्याकृत कह कर इस सम्बन्ध म अपना कोई मत न बना केवल मानव दुख से निवृत्त हो जाये इतना मात्र ही उनके लिये प्रयोजनभूत मानत ह।

सर्वज्ञ तीर्थंकरो से उपरोक्त पहेलियो का समाधान प्राप्त करने के उपरान्त भी छद्मस्थ

मानव के लिये ये पहेलियाँ बहुत सुलझ नही पाती है रहस्य रहस्य ही बने रहते है। आगम से होने वाले परोक्ष ज्ञान की आखिर सीमा है। अनुभव युक्ति और आगम से छद्मस्थ मानव को यह बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि जो वस्तु जिन जिन से मिलकर बनी है उसमें उन उन की विशेषताय भी उपलब्ध होगी। पौद्गलिक कर्मशरीर की आत्म प्रदेशो मे रचना का ही परिणाम है कि अरूपी सिद्ध परमात्मा समान आत्मा चतुर्गति ससार मे नाना रूप धारण करती है। जब तक कोई मानव तियच आयु न बाधे कौन उसे आयु समाप्ति पर पशु बना सकता है? तथा कर्म शरीर के ही ज्ञान ध्यान आदि उपायो स नष्ट कर देने पर शुद्ध आत्मा को कौन चतुर्गति भ्रमण करा सकता है?

ससार रूप मे व्यक्त हो रही जीव की एकानेकता अत्यन्त दारुण है। दु ख दुर्गति रूप इस कीचड से निकलने हेतु जीव छटपटाता है और नानाविध काल्पनिक-अकाल्पनिक देवी-देवताओ के आगे अपने दु खो से बाहर निकलने हेतु गिडगिडाता है, उन्हे प्रसन्न करने हेतु बलि आदि हिंसादि पाप कार्य कर दु ख दुर्गतियो मे और धस जाता है। जिसने अर्हन्त सिद्ध समान अपने आत्म स्वरूप को समझ लिया वह तो जान गया है कि अज्ञान पूर्ण कुटिल कषाय-कलुषित योग-उपयोग के द्वार से पापारम्भ के द्वार से अपने आत्मा को कर्म श्लेष से मलीन करने का ही यह चतुर्गति परिभ्रमण परिणाम है। ज्ञान के स्तर पर वीतराग आनन्दमय शुद्ध एकानेक आत्म स्वरूप म मानव जिये तो पुद्गल कर्म-श्लेष नष्ट हो जाता है और तब जीव अपने अकारण परमात्म स्वरूप मे पुन प्रतिष्ठित हो जाता है। आत्मभूमि मे चतुर्गति के बीज डालते हुए मानव की दु ख मुक्ति की कामना असत् कल्पना है। तथा स्व-पर प्रकाशक ज्ञानानन्द के मुक्त लोक म जीते हुए ससार-क्लेश कारक कर्मरचना की शका मिथ्या है। जिनका समाहार (मेल) घटित हो रहा है/कर रहे है वस्तु वसी ही परिणामत रचित होगी अन्यथा नही ॥७॥

८ अन्य नष्ट होता है दूसरा उदित होता है और अन्य शाश्वत रूप से उद्भासित (प्रकट) रहता है, किन्तु वे तीनों उस पदार्थ मे समान रूप से होते है, यह आपका तीव्र पक्षपात है। अत आप उत्पाद-व्यय ध्रौव्य स स्वय युक्त है। अन्यथा, आपस पृथक होते हुए वे तीनो भी शून्य हो जायगे।

९ हे भगवन ! पदार्थ का अभाव रचने वाले एव पदार्थ का भाव (उत्पाद) करने वाले आपक निश्चित ही भाव होता है और इसके अतिरिक्त अभाव भी क्या है? जिस प्रकार अस्तित्व अस्खलित रूप स उल्लसित हो उस प्रकार उत्पाद-व्यय दोनों [का होना] भी निश्चित रूप स तत्त्व है।

१० हे भगवन ! अस्खलित महिमा वाले कोई एक आप प्रागभाव आदि अभावो स आक्रान्त होने पर भी सदा भाव रूप ही स्फुरित होते है। हे स्वामिन ! आप एक होन पर भी बरबस चारो ओर स प्रागभाव आदि अभावो से नाना रूप होकर चार रूपा स परिणत प्रतीत हो रहे है।

जगत के सभी पदार्थों की भाँति आत्मा भी उत्पाद-व्यय एव ध्रौव्य युक्त है। आत्मा जिस अश से उत्पाद कर रहा है उससे व्यय अथवा ध्रुव नही है। इन तीनो मे परस्पर भिन्नता होते भी तीनो आत्माश्रित है अन्यथा ये तीनो शून्य हो जायेंगे और आत्मा भी शून्य हो जायेगी। इतना ही नही यदि व्यय न हो तो उत्पाद होना बन्द हो जायेगा तथा उत्पाद न हो तो व्यय होना भी बन्द हो जायेगा। और उत्पाद एव व्यय दोनो के न होने पर ध्रौव्य की सत्ता भी सभव नही है।

प्राय उत्पाद-व्यय को अनित्य होने से तिरस्कृत किया जाता है, उपेक्षा की जाती है और ध्रुव के नित्य होने से बहुमान किया जाता है, उसके गीत गाये जाते है। आत्मा के अस्तित्व के तीनो ही अगभूत होने मे तत्त्व रूप मे बहुमान के पात्र हैं तिरस्कार और उपेक्षा के कोई नही। तथा ये ही अतत्त्व/थोथे/हीन रूप मे होते है तो कोई भी बहुमान का पात्र नही है। उत्पाद-व्यय हीन स्तर पर हो तो क्या वे बहुमान्य ध्रुव की अनुभूति करा सकते है और यदि बहुमान्य ध्रुव अनुभूति का विषय बनता है तो उत्पाद-व्यय हीन स्तर के कसे हो सकते है ? अनन्त चतुष्टय सम्पन्न आत्मा के जितनी मात्रा मे उत्पाद-व्यय ध्रौव्य उल्लास रूप हो पाते हैं उतनी मात्रा मे वे तत्त्व रूप होते है। यदि इस उल्लास मे कमी होती है और दीनता दौर्बल्य अज्ञान आदि भाँति भाँति के सक्लेशो मे वृद्धि होती है तो ये तीनो ही अतत्त्व रूप हो जाते है। इन अतत्त्व रूप हुए उत्पादादि से आत्मा मे सक्लेष का मैल और बढता है।

ससार जीव की महिमाहीन दशा है। या तो वह दीन-हीन आर्त होकर जीता है अथवा थोडा कर्मों के क्षयोपशम से कुछ ज्ञानादि शक्तियाँ एव पुण्योदय की अल्प सी महिमा का भी वह अधिकारी होता है तो यह सदा अनुत्कृष्ट होने से स्खलित स्वभाव वाली होती है और जीव शीघ्र ही पतित हो हीन-दीन दशाओ को प्राप्त हो जाता है और प्रागभाव (यह कब होगा) प्रध्वसाभाव (यह लुप्त हो गया/नष्ट हो गया) अपने ही गुणो पर्यायो के परस्पर भेद रूप अन्योन्याभाव एव जड पदार्थों से भेद रूप अत्यन्ताभाव से आक्रान्त हुआ निरन्तर क्लेषित होता है। आत्म गुणो की जघन्य से अनुत्कृष्ट के बीच ऊची नीची पर्याये प्राप्त करता ससारी जीव अनिवार्यत अभाव की पीडा भोगता ही है, उसे अपने सद्भावो के अभाव होने का भय सताता रहता है। वह सदा सद्भावमयता से आश्वस्त होकर जी नही सकता। यह तो अस्खलित महिमा वाले अर्हन्त-सिद्ध परमात्माओ के लिये ही सभव है। वे ही उपरोक्त चारो अभावो के बीच भी सदा सद्भाव के आनन्दमय लोक मे जीते है, कुछ हद तक परमात्मस्वरूप की प्राप्ति मे यत्नशील ज्ञानी साधुजन भी उपरोक्त इन अभावो के बीच आत्म गुणो के निरन्तर रहने वाले सद्भाव लोक मे जीने मे समर्थ होते है ॥८-१०॥

११ हे भगवन ! पूर्ण नियम से पूर्ण होता है, रिक्त रिक्त ही रहता है। किन्तु आप रिक्त होकर भी पूर्ण है तथा पूर्ण होकर भी रिक्त है। इस जगत मे जो लोगो को प्रकट है वह आपके तत्त्व के घात में उद्यत है। आपका जो कोई भी तत्त्व है वह लोगों द्वारा देखें गयें तत्त्व को कभी नष्ट नही करता हैं।

संसार म जब देव एकेन्द्रिय पर्याय म उत्पन्न हो जाता है तो वह देव पर्याय के अनुभवो मे/स्मृतियो मे रिक्त हो जाता है। देव था तब वह देवत्व से पूर्ण था अब रिक्त है तो उसस पूर्णतया रिक्त है। अर्हन्त परमात्मा भी ससारी पर्याय से रिक्त हो गये ह। कषाय अज्ञान तथा अन्य अल्पतायें अब उनम नही ह। पर वे उनके ज्ञान म रिक्त नही है। अत ससारी पर्याय स रिक्त होत हुए भी ज्ञान की दृष्टि से व उसम पूर्ण है।

ससारी मानव और अर्हन्त परमात्मा के बीच उपरोक्त यह अन्तर बडा मर्मपूर्ण है। जब कि मानव अपनी पूर्व पर्याय जिसे उसने जिया ह उनके बारे मे ही कुछ कहने मे असमर्थ है तो ससार की ८४ लाख योनियो एव ससार मुक्त अर्हन्त सिद्ध अवस्था/शुद्ध आत्म स्वभाव के सम्बन्ध म तो वह क्या कह सकता है? अत उसे अर्हन्त द्वारा प्रतिपादित ससार और मोक्ष तत्त्व का विस्तार समझ म न आने स असत्य लगता है। अर्हन्त के प्रतिपादन म मानव के वर्तमान पर्याय का सत्य तो गर्भित है ही वे उसका खण्डन नही करते असत्य नही कहत। इस प्रकार अल्पज्ञ ससारी जन अर्हन्त परमात्मा द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को न समझने के कारण प्राय विरोध करते देखे जाते है पर अर्हन्त किसी का विरोध नही करत व तो मात्र उनके कथनों की मर्यादा बतलाते है ॥११॥

१२ सहज रूप से परस्पर नियत सीमा वाले ये सब पदार्थ [परस्पर] सश्लिष्ट हो जाने पर भी स्वय ही अपने शाश्वत स्वरूप मे च्युत नही होते है। विश्व स भिन्न आप ज्ञान ज्योत्सना के स्वरस के समूह से सर्वदा इस विश्व को नहलाओ। हे भगवन! आपकी संकल्पना कैसे हो सकती है?

१३ कर्म प्रकृति से मोह होता है और मोह से कर्म कीट होता है। जब तक दोनों मे परस्पर हेतुता है तब तक आत्मा नही है। इनके क्षीण होने पर सुशोभित यह आपका आत्मा ही है अन्य नही है। इस निस्सीम सहज ज्ञान पुज म निमग्न होकर निवास कर।

आत्मावलम्बी है, तथापि आपका यह आत्मा निश्चय ही गूढ विश्व स्वभाव रूप से प्रकाशमान है।

१६ जिसमें तीन काल मे होन वाले पदाथ एक साथ तरते है, जिसकी लहरे बलपूवक चारो ओर विश्व की सीमा मे स्खलित होती है/टकराती है, जो स्वच्छ रस से भरा हुआ पूर्णता को पुष्ट करता है तथा जिसकी महिमा भाव और अभाव से युक्त है वह ज्ञान के सागर आप है।

१७ इधर उधर सचार करती हुई आपकी ये ज्ञान की लहरे शुद्ध ज्ञान की रसमयता मिटाने मे समथ नही है। समस्त पदार्थों की छाया पडने से विकसित (प्रकट) हो रही गूढ अभि यक्तियो से पूण प्रौढता को प्राप्त ये ज्ञान सामान्य को ही धारण करती है।

१८ बाह्य विश्व अन्य है तथा आपका ज्ञान विश्व अन्य है। जो यह ज्ञान विश्व है वह ज्ञान रूप ही प्रतिभासित होता है। मोम से बना सिहाकार क्या मोम से अन्य होता है? [उसी प्रकार] आप से परिणत हुआ विश्वाकार क्या आपकी महिमा से पृथक होता है?

१९ ज्ञयो को जानकर पुन जानने का फल ज्ञाता से अन्य क्या है? इस विश्व को जानन मे नित्य उद्यत आप स्वय सीमित नही है, दशन ज्ञान क समस्त स्खलन की रक्षा करन वाले इस स्व वीर्य के व्यापार मे आप नित्य उपयुक्त रहते है।

आत्मा ज्ञान स्वभावी है। मानव ज्ञान की महानताओ से ही महान है और उसकी तुच्छता रहते तुच्छ है। ज्ञान को छोडकर आत्मा के अनन्त गुण वभव के लोक मे प्रवेश करने का उन्हे स्पर्श करने का कोई उपाय नही है। आत्म गुण वैभव मे प्रवेश/स्पर्श के इच्छुक/प्यासे बन जब ज्ञान के द्वार से इस प्रवश/स्पश मे यत्नशील होते है तो ज्ञान उनके सामने पहेली के रूप मे उप स्थित होता है और वे उलझ जाते है समय/असमजस मे पड जाते है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। वह आत्मा को प्रकाशित करता है लोकालोक के पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। बल्कि उसकी दोनो को युगपत् प्रकट करने की टेक है वह पर पदार्थों के प्रकाशन के साथ ही आत्म प्रकाशन करता है। ज्ञान का यह पर प्रकाशन स्वभाव आत्मा के अनुभव मे प्रारम्भिक साधक को विक्षप लगता है। वह नही समझ पाता कि—

(१) जगत का प्रत्येक पदाथ अन्य से कितना ही सश्लिष्ट हो जाये गुथ जाये जल दूध की तरह एक होते भी वह अपने द्रव्य गुण-पर्यायो से ही त मय है और अन्य से भिन्न है। वह कभी

अपनी स्व सत्ता का पर पदाथ मे लय नही कर सकता तथा जगत की कोई अन्य शक्ति भी उसकी सत्ता का अपहरण करने मे समथ नही है। जब यह जगत के जड चेतन सब का अक्षुण्ण स्वभाव है तो ज्ञान मे जगत के पदार्थो के ग्रहण से पदार्थों की ज्ञान की आत्मा की किसी की भी हानि कैसे सभव है ?

(२) आत्मा गूढ रूप से विश्व स्वभाव वाला है। विश्व और विश्व के पदार्थो से उसकी गहरी समानता और सामजस्य है। यदि मानव अपने ही आत्म गुण वभव से विमुख होता है अपने प्रति ही अपराध करता है तो उस विश्व मे सर्वत्र ठोकर मिलती है हर पदाथ ही उससे विमुख हो जाता है, तथा यदि आत्म गुण वभव का बहुमान करता है उन्हे साधता है आराधता है तो विश्व म सवत्र वह सम्मान प्राप्त करता है। इसी प्रकार यदि वह जगत के अन्य जड चेतन पदार्थों के प्रति तिरस्कार का भाव रखता है उनके गुण वभव स आँख मीचता है तो उस आत्म गुण वभव के भी दशन नही होते और उसकी स्वय अपने प्रति भी आँखें मिची रह जाती है।

(३) मानव मोह राग द्वष ग्रस्त हो रात दिन बाह्य पदार्थो को लेकर आरभ-परीग्रह मे उन्हे लेकर करने धरने मे लगा है। बाह्य पदार्थो मे आसक्त हो वह हिंसा झूठ चोरी कुशील और परीग्रह रूप पाच पाप करता हुआ निरन्तर दुर्गतियो की रचना कर रहा है। जब उसे स्व पर पदार्थो का स्वरूप बोध होता है और वह जान जाता है कि प्रत्येक पदाथ अपने म पूर्ण है कि न उसे न अन्य किसी पदार्थ को इस करने धरने की कोई आवश्यकता है तो वह गृहस्थ जीवन छोड मुनि बन जाता है और असयम रूप सर्व आरम्भ-परीग्रह छोड देता है। वह देखता है कि सर्व पदाथ अपनी अर्थक्रिया/परिणमन बडी कुशलता से कर रहे है। स्वय उसकी देह के कार्य भी बहुभाग उसके प्रत्यक्ष रूप से बिना कुछ किये स्वत निबट रहे है। तब करने को उसके कर्तृत्व को उसके बोध सागर की विश्व पदार्थो को व्यापती लहरे अवकाश देती ह। यदि इस बोध सागर म राग द्वष-मोह का कालुष्य नही है तो वीतरागता आनन्दमयता से परिपूर्ण वह बोध सागर आत्मा के सब गुणो को पुष्ट करता है उनके दोषो को धाकर दूर कर देता है। विश्व पदार्थो को गूढ रूप से पुन पुन व्यापती हुई इस प्रकार सागर की प्रौढ लहर निमल ज्ञान स्वभाव को ही निरन्तर अभिव्यक्त करती है। जब पदार्थो को यह छिछले रूप से ऊपरी ऊपरी ही थोडा स्पर्श करती थी तो ज्ञान के अतिरिक्त राग-द्वष की कुढाव को भी लहरे धारण करती थी। कच्चे छिछले वस्तु बोध के साथ मानव के लौकिक/ऐहिक राग द्वष पूर्ण स्वाथ का नाता है। गूढ परिपूर्ण स्पष्ट वस्तु बोध की पटरी पारलौकिक निमल ज्ञान स्वभाव के साथ ही बैठती है। ज्ञान की पदाथ व्यापन रूप क्रिया किसी भी प्रकार ज्ञान की स्वरसमयता को हानि नही पहुचाती है। अत ही अनन्त वीयवान् अहन्त सिद्ध परमात्मा भी ज्ञान के इस व्यापार म निरन्तर रत है।

(४) एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक सभी ससारी जीव अपनी अपनी ज्ञान सामर्थ्य से बाह्य पदार्थो को पुन पुन जानने मे लगे हुए है। अहन्त सिद्ध परमात्मा अपनी अनन्त सामथ्य से ज्ञान मे त्रिकाल त्रिलोक को पुन पुन व्यापे जा रहे है। ससारी जनो की सामथ्य अल्प है अत वे कुछ

पदार्थों की कुछ ही पर्यायो को जान पाते है । परमात्मा सर्व द्रव्यो की सब पर्यायो को निरन्तर पुन पुन व्यापते है । ससारी जन अपनी ऐहिक आवश्यकताओ/रुचियो से पदार्थ विशेषो तक अपने ज्ञान व्यापार को सीमित करते है वीतरागी होने से परमात्मा का ज्ञान व्यापार निस्सीम है । ज्ञान व्यापार ससारी का हो चाहे परमात्माओ का, इस का फल ऐहिक अथवा पारलौकिक रूप से ज्ञाता को ही प्राप्त होता है वाह्य पदार्थों को नही । ससारी जन वाह्य पदार्थो को जानकर उनके सम्बन्ध मे कुछ करने धरने मे लगते है तो इस करने धरने का फल बाह्य पदार्थो को प्राप्त होता हुआ देखा जाता है । पर यह करना धरना पदार्थ की इष्ट पर्याय प्राप्त हो जाने पर रुक जाता है और जीव करने धरने से विराम ले लेता है । ससारी जन इष्ट काम सम्पन्न हो जाने पर तत्सम्बन्धी ज्ञान व्यापार से भी विराम ले ले पर वीतरागी मुनिजन का कैवल्य की प्राप्ति हेतु किया गया ज्ञान व्यापार श्रुत के परोक्ष धरातल को छोडकर अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के धरातल पर निस्सीम हो जाता है और त्रिकाल त्रिलोक को पुन पुन व्यापता है । इससे स्पष्ट है ज्ञान मे विश्व को व्यापना जीव का स्वभाव है और इससे जीव को आत्म गुणो की प्रौढता प्राप्त होती है, उन्हे क्रीडा विलास की भूमि मिलती है ।

(५) लौकिक आकाक्षा/इच्छाओ की पूर्ति मे पर पदार्थों का अवलम्बन लेकर ससार रूप घनात्म रचना होती है और ज्ञान मे उनका अवलम्बन लेकर जीव ससार की दुर्गतियो से बाहर निकल आत्मा को प्राप्त होता है । ससार रचना मे पर पदार्थ तो आलम्बन मात्र है मूल कारण तो जीव की राग-द्वेष रूप चित्तवृत्ति एव हिंसादि रूप पापारम्भ है । जब ये ही तत्त्वज्ञ वीतरागी निरारम्भी-निष्परिग्रही सयमी जनो के ज्ञान व्यापार मे आलम्बन बनते है तो सब दोष-दुर्गतियां नष्ट हो जाती है । ज्ञानी जनो के दोष-दुर्गतियो के नष्ट होने म पदार्थ तो मात्र आलम्बन बनते है काय तो विकार मुक्त ज्ञानानन्द रूप आत्म क्रीडा से सम्पन्न होता है । वस्तुत ज्ञान म पदार्थों के अवलम्बन से होने वाला नाना रूप परिणमन परावलम्बन नही है । यह तो आत्मावलम्बन ही है क्योकि आत्मा गूढ रूप से विश्व स्वभाव रूप है ॥१२-१६॥

२० नाना रूप मे स्थित इस विश्व को अतिरस से प्रकाशित करने वाला स्वय शब्द ब्रह्म जिसकी महिमा मे एक साथ अस्त को प्राप्त हो जाता है ऐसा नित्य व्यक्त रहने वाला वह पदार्थों का समूह सीमा रहित होने पर भी त्रिकालवर्ती आपके वैभव के आरम्भ की बहुलता स युक्त आपकी ज्ञानज्योति द्वारा प्रकाशमान हो रहा है ।

ज्ञान के व्यापार मे भाषा के प्रयोग का अपना स्थान है । भाषा ज्ञान के आदान प्रदान और वचन का साधन है । यह जहाँ एक ओर वचन रूप पुद्गल वर्गणाओ का कार्य है वहाँ दूसरी ओर वचन योग के रूप मे जीव का काय है । विशुद्धि रूप आत्म लोक मे जीने वाले मानव के मुख से नि सृत शब्द स्वभावत श्रोता और वक्ता दोनो को ही अद्भुत अमृत रस से भर देते है । अर्हन्त की दिव्य ध्वनि का अमृत पान करके मानव धन्य हो उठता है । यह होते भी भाषा की सीमा है । अर्हन्त त्रिकाल त्रिलोक समस्त को जान लेते है, पर भाषा मे अनन्तवाँ भाग ही व्यक्त हो सकता है ।

अत' मानव नान के व्यापार मे आदान-प्रदान के साधन भाषा पर ही अवलम्बित होकर न रहे। भाषा उसे वस्तु का सामान्य ही थोडा ऊपरी ही परिचय कराने मे समथ है। वचनातीत अनुभव/वेदन के माध्यम से भी स्व-पर प्रकाशन की दिशा म बढने पर मानव अपनी ज्ञान शक्ति/आत्म गुणों को विशेष पुष्ट कर पायेगा ॥२०॥

२१ हे देव ! जिसने उद्यत विश्व के स्वरस को निरन्तर गाढ रूप से मम स्थानो मे व्याप कर प्रौढता प्राप्त की है और सब पदार्थो को चारों ओर तड तड कर ताडित कर रहा है, जो निरन्तर टिमकार रहित है जो त्रिकाल जगत को जानने वाला है एसा आपकी दृष्टि का (दशन गुण का) विकास उत्कृष्ट रूप से स्फुरित हो रहा है।

२२ हे विभो ! जिसकी महिमा सवत्र निर्बाध है, जो स्व प्रकाश से शोभित हो रहा है, जो दूर तक प्रकट होन वाले अपन रस समूह स सब पदार्थो को द्रवीभूत कर रहा है (अपना विषय बना रहा है), जो विश्व के आलम्बन से उछलती हुई आकर बहुलता की अनन्त लक्ष्मी वाला ह एसा आपका यह कोई अद्वितीय उत्कृष्ट चतन्य पु ज सुशोभित हो रहा है।

२३ हे स्वामिन् ! एकाकार स्वरस के भार से जो पद पद पर इस अनन्त चतन्य राजी (पक्ति) को निर्विभाग प्रकाश से युक्त करन हेतु तत्पर ह, जो विश्व के अत तक सघन सघष के द्वारा सब ओर स सुशोभित हैं ऐसे आप एक ही स्फुरित होते हुए अन्य समस्त पदार्थो का प्रमाजन कर रहे ह/साफ कर रहे है।

२४ इस जगत को सुकृति (पुरुषार्थी व्यक्ति) तब तक अत्यन्त रूप मे पी पाकर उगलता रहे जब तक वमन न की जा सकने योग्य कवल्य ज्योति भीतर प्रकाशमान [नहीं] होती है। हे देव ! उस ज्योति के प्रज्वलित होन पर इस (सुकृति) का सब उगला हुआ एक साथ पिया हुआ हो जाता है तथा फिर उगला नही जाता।

विश्व के समस्त पदाथ द्रष्टा के दृष्टि लोक म प्रवेश को उद्यत हैं। द्रष्टा का दृश्य बनना उनके स्वभाव म है। यदि द्रष्टा आत्मा उनके मर्म को/तत्त्व रूप को प्रगाढ रूप से अपनी दृष्टि का विषय बनाता है स्पष्ट रूप से उन्हे ग्रहण करता है तो उसकी दृ[illegible] श[illegible] [illegible] [illegible] होता है पुष्ट होती है। दृशि शक्ति क विस्तार एव पुष्टि हेतु द्रष्टा को भांति भांति क पदार्थों का पुन पुन व्यापते रहना होगा/सघन प्रयत्न करना होगा। परिणामस्वरूप एक [illegible] [illegible] [illegible] बन टिम[illegible] रहित दृष्टि से सब कुछ को व्यापने म समथ हो जायेगा उसकी दृष्टि [illegible] [illegible] म दाप्तिमा[illegible] हो जायेगी।

एक ओर इस विश्व मे पदार्थ चेतन आत्मा के दर्शन-ज्ञान के विषय बनने में उद्यत है तो दूसरी ओर सघन निर्बाध महिमामयी दृष्टा-ज्ञाता मानव की चेतना भी स्वभावत: दूर तक एक प्रकाश के रस मे पदार्थों को द्रवीभूत करती है उन्हे अपने दर्शन-ज्ञान का विषय बनाने मे सक्षम होती है और ऐसा करके दृष्याकार-ज्ञेयाकार रूप अनन्त वैभव से सुशोभित होती है।

चेतन आत्मा के दर्शन-ज्ञान का विषय बनना जहाँ विश्व के पदार्थों का स्वभाव है वहाँ उन्हे अपने स्वभाव से द्रवीभूत करना उन्हे अपना विषय बनाकर नाना आकार के वैभव से सम्पन्न होना चेतन आत्मा का स्वभाव है। इस प्रकार आत्मा और पदार्थों का परस्पर स्वभाव हमे प्राप्त होता है। निर्दोष रूप से यह होते भी जब हम पदार्थों के अवलम्बन से बनी नानाकारता को गहराई से देखते है तो हर आकार मे एक रस रस से पूर्ण चेतनानुभूति/आत्मानुभूति हमे प्राप्त होती है। पदार्थ के दर्शन-ज्ञान मे पदार्थ तो कही होता ही नही आदि-मध्य-अन्त सर्वत्र एक आत्मा ही आत्मा होती है।

आत्मा और जड-चेतन अन्य पदार्थों मे प्रदेश भेद है। और एक पदार्थ कभी दूसरा पदार्थ नही बनता अपनी सत्ता छोड अन्य रूप परिणमन नही करता। अन्य पदार्थों के दर्शन-ज्ञान मे आत्मा का अपना ही परिणमन है, स्वय का ही स्पर्श है। अत: जिन्हे आत्मा इष्ट है वे दर्शन-ज्ञान की अंगुलियो से पदार्थों का ग्रहण करें और छोड । एक के बाद दूसरे पदार्थों के ग्रहण में अभ्यस्त मानव को इस प्रकार लगे रहना होगा। सम्यक प्रकार से अर्थात् राग-द्वेष-मोह रूप अनात्म भावो से यथा सभव रहित होकर, यह कार्य करते रहने से उसकी धारण शक्तियाँ पुष्ट होगी और एक दिन त्रिकाल-त्रिलोक के सब पदार्थों के ग्रहण की महासामर्थ्य उत्पन्न हो जाने पर यह पूर्व मे छोडे हुए सब कुछ को ग्रहण कर लेगा और पुन: फिर दर्शन-ज्ञान की पकड से उन्हे छोडेगा नही ॥२१ २४॥

२५ निश्चय से अनेकात ही आपको एकानेक, गुण सहित-गुण रहित शून्य-अशून्य (अत्यन्त पूर्ण) नित्यानित्य व्यापक-अव्यापक विश्व रूप-एक रूप तथा चतन्य राशि के प्रसार से व्याप्त समस्त जगत की उठती हुई लहरों में उन्मग्न होता हुआ सिद्ध करता है।

आत्मा द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है। प्रदेशापेक्षा वह देह प्रमाण है अव्यापक है। ज्ञान-दर्शन रूप चैतन्य की अपेक्षा सर्वगत है/विश्व व्यापी है जगत के परिणमन शील पदार्थों के साथ परिणमन करता है जगत की हर धडकन का अनुभव करता है। जहाँ वह द्रव्य दृष्टि से/सामान्यत एक है एक रूप है वहाँ ही पर्याय दृष्टि से अनेक रूप है। आत्मा जहाँ ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि गुणो से सम्पन्न सर्वोत्तम प्रसिद्ध है, वहाँ ही दूसरे प्रकार से देखे तो उसे गुण विशेष मे युक्त कहना कठिन हो जाता है। जब वह अपने ही गुण वैभव से विमुख हो अकारण महिमामयी स्वरूप से स्खलित होता है तो घोर अज्ञान की दीन हीन दुर्बल एकेन्द्रिय आदि अवस्थाओ को प्राप्त हो जाता है। जैसा कर्मोदय ही उस प्रकार परिणमन कर जाने वाले जीवात्मा

का तब अपना स्वय का क्या गुण वभव शेष रह जाता है ? बालक की आत्मा को अग्रज दार्शनिक लाक ने tabula rasa (साफ स्लेट) की उपमा दी है जिस पर वाह्य से जसे सस्कार डाल जाय डाले जा सकते है उस देव अथवा दानव बनाया जा सकता है। जो जन आत्मा को ससार दशा मे गुण सम्पन्न मानकर बठ जाते है और किसान की भाँति बीज डालने सीचने का श्रम कर आत्मा मे गुण वैभव उत्पन्न करने का प्रयत्न नही करते वे थोथे के थोथे रह जाते है। अत आत्मा जहा द्रव्य दृष्टि से गुण वभव स सम्पन्न महिमामयी है, वहाँ पर्याय दृष्टि स मानव को उस गुण वभव को व्यक्त करने हेतु भारी श्रम करने की आवश्यकता है।

आत्मा उपयोग लक्षण वाला है। उपयोग के द्वार स ही उस अपना एव अन्यो का वेदन होता है। उपयोग मे जब जो उस ग्रहण होता है तब वह उसके लिये है अन्यथा तो शून्य रूप है। छद्मस्थ मानव उपयोग को सर्व दृश्य एव ज्ञयाकारो से रिक्त करे तो शुद्ध शून्य का वेदन करता है आत्मा उस शून्य रूप वदन होता है तथा स्वय को अन्य को उपयोग मे ग्रहण कर तो अशून्य/अनेकविध पूर्ण अनुभव मे आता है।

आत्मा इस प्रकार परस्पर विरोधी पक्षो का जगत के अन्य पदार्थों की भाति एक समुदाय है। कोई भी पक्ष पूरी आत्मा नही है, न ही अन्य पक्ष रूप है न अन्य पक्ष के बिना है। इस प्रकार सम्यक् अनेकात स साधने पर ही मानव को अपने आत्मा के महिमामयी लोक मे प्रवेश मिलता है अन्यथा आत्मा आत्मा रटता हुआ भी मानव तुच्छ ससारी अनात्मा बना हुआ जन्म मरण करता रहता है ॥२५॥

२३

१ जो विजयशील है, कषाय महाग्रह की चपेट से रहित होने के कारण जो अकम्प उद्योत स्वरूप है, जो रातदिन उल्लसित रहती है, जिसके चारो ओर प्रकाशित रहन पर पदार्थ (अग्नि द्वारा हठपूवक सर्वागरूप से ग्रस्त इधन के समान एक साथ तादात्म्य धारण करते है, एसी परम ज्योति जयवन्त है।

२ हे भगवन ! आप विश्व व्यापी उग्र चतन्य के स्रोत है और यह मैं स्खलित होने वाले असमान प्रज्ञा क उन्मेपो से मृदु (मन्द बुद्धि) हू। अत निष्फल वचन-क्रीडा के विकार को विडम्बित करन वाले कुछ पदो की रचना करन से बस हो। हे ईश ! यह मैं तो शीघ्र ही आप में प्रवेश कर रहा हू।

३ अत्यन्त आनन्द के समूह से मनो को घुमाता हुआ सहज, रात दिन चमत्कार क द्वारा उदित होता हुआ यह ज्ञान का एश्वर्य क्या है जो बलपूर्वक प्रकट होन वाले वीय क व्यापार से अत्यन्त गम्भीर दृष्टि द्वारा अवहेलनापूवक विश्वों को तोल रहा है ?

४ यह ज्ञान त्रिकाल सुशोभित रहने वाले पदार्थों से व्याप्त इस सम्पूर्ण जगत को अत्यन्त सुन्दर अपनी रश्मियों से एक साथ प्रकाशित कर रहा है। हे भगवन ! चैतन्य की एकता को जगत रूप उपाधि के बहाने नाना रूप विस्तृत कर एकान्त से बिना इंधन ही बल पूर्वक आप देदीप्यमान हो रहे हैं।

५ हे ईश ! समान रूप से पड़ने वाली, अनन्त उत्कृष्ट विलास से सुशोभित दृष्टि के द्वारा विश्व से विश्व रूप स्वरस पुष्प को चुनने वाली आपकी दृष्टि पर द्रव्यों से कुछ भी अन्तरंग तत्त्व को ग्रहण नहीं करती है, अपितु भेदाभेद दृष्टि ही सब ओर विकसित होती है।

६ नाना आकारों से युक्त इस समस्त जगत को एक साथ नहलाने वाला आपका यह चैतन्य रूप अद्वितीय महारस नाना आकारों से परिणमित होता हुआ सुशोभित है। तथापि, सहज व्याप्ति से अन्य भावनाओं को रोकता हुआ यह चारों ओर से एकाकार ही स्फुरित होता है।

आत्मा एक चेतन महापदार्थ है। इसके दर्शन-ज्ञान रूप चेतना के प्रताप को खण्डित करने वाला जगत में कुछ भी नहीं है। यदि मानव कषाय से बच कर जीये तो चहुँमुखी उसकी अनन्य चेतना जगत के त्रिकाल सब ही पदार्थों को अपने दर्शन-ज्ञान का उसी प्रकार विषय बना लेती है जैसे प्रबल अग्नि इंधन को सब ओर से ग्रस्त कर लेती है। जो जन कषाय के चक्कर को नहीं तोड़ पाते अथवा चेतना के चहुँमुखी विस्तार/विलास में रुचि न रख चिंतन (नय) विशेष के संकीर्ण रस से संतुष्ट रहते हैं वे अपनी चेतना के छिछले स्तरों में ही जी पाते हैं उनको उसके जयशील ज्योति स्वरूप का दर्शन/स्पर्श नहीं हो पाता।

आत्मा विश्व व्यापी उग्र चेतना का स्रोत है और छद्मस्थ मानव उसके एक अल्प अंश को ही प्राप्त हो पाता है। जो कुछ विशेष प्रतिभाशाली हो पाते हैं वे काव्यादि रचना कर अन्यों को रस विभोर कर देते हैं पर सम्यग्दृष्टि वे जानते हैं कि यह वचन क्रीड़ा आत्मा के चेतन समुद्र की तरंगों का ही स्पर्श है। महान आनन्द तो आत्मा की शरण को प्राप्त होने चेतना के सागर में गहरे पैठने पर मिलता है जहाँ वाणी भी मौन हो जाती है अर्थात् जो वाणी की पहुँच के परे है। तब मानव को आश्चर्य होता है कि आत्मा के किन अज्ञात लोकों से चैतन्य का यह अद्भुत चमत्कार/ज्ञान का अलौकिक ऐश्वर्य उमड़ रहा है जो सहज ही त्रिकाल जगत के पदार्थों को प्रकट कर रहा है, बहुत ही हल्के/श्रम रहित रूप से मानों उन्हें तौल रहा है।

सब्बत्थ सुन्दरो लोए। जैनाचार्यों की यह घोषणा है कि अपने स्वरूप में जगत का प्रत्येक पदार्थ सुशोभन रूप है। स्वरूपतः कोई भी पदार्थ अशुचि नहीं है। ऐसे जगत का त्रिकाल सुशोभन

रूप सम्यग्ज्ञान के अत्यन्त शुचि प्रकाश में ही मानव को प्रकट होता है राग-द्वेष-मोह स मलिन चित्त मे तो जगत कुरूप रूप मे ही ग्रहण होता है।

आत्मा का चेतना गुण एक चेतना रूप ही है। वह स्वय के अवलम्बन रूप से दीप्तिमान नही हो सकता। नाना रूप दीप्ति उसमे दृश्य और ज्ञय रूप अन्य पदार्थो के आलम्बन स प्रकट होती है। अग्नि जसे इधन के जलने से उग्र होती है वैस ही चेतना पदार्थों के दृश्य रूप मे ज्ञय रूप मे ग्रहण से उग्र होती है। लेकिन जहा अग्नि के उग्र होने मे पदार्थ जलकर राख हो जाते है वहा दृश्य और ज्ञेय रूप मे पदार्थों के ग्रहण से चेतना के उग्र/देदीप्यमान होने मे पदार्थो का कोई विगाड नही होता, वे जस के तैस बने रहते है। (ज्ञानी जन इस कारण ही जगत के बीच निरालम्ब निर्बाध मुक्त होकर जीते है पर रागी मानव अग्नि की भाति इधन (अनुकूल पदार्थों) के राख बनने के पूव तक ही कुछ देर चमक कर क्षीण हो जाते है।)

दर्शन-ज्ञान रूप चेतना बाह्य दृश्य और ज्ञय पदार्थों के स्वरस का पूरा ग्रहण कर उनके स्वरूप को विशद रूप स प्रकट करती है। ऐसा करने म पर पदार्थों का वह एक भी कण ग्रहण नही करती। राग-द्वेष मुक्त चेतना मे पर पदार्थो स भिन्नता एव अपने स अभिन्नता का भाव सदा बना रहता है उनके बीच मानव अपनापन नही खोता है।

चेतना का यह दर्शन-ज्ञान का विलास एक महान आनन्द की क्रीडा है। नाना रूप जगत को आत्मा इस आनन्द रस मे डुबाता हुआ नाना रूप हा हुआ जाता है पर प्रत्येक रूप मे वह वह ही है उसकी अपने स व्याप्ति कभी खडित नही होती का भान ज्ञानीजनो को विस्मत नही होता। अन्य जन चैतन्य के नाना रूप होने से कभी रागी कभी द्वेषी कभी रुष्ट कभी तुष्ट होत है पर ज्ञानी जन सदैव अक्षुब्ध रह एक आनन्दमयता का ही वेदन करते ह ॥१–६॥

७ आतकों (भयों) के शान्त होने से स्वभाव के विलास से भारी उद्यम पूवक चैतन्य की अचल/नियत कलाओं के समूह से एकत्रित की गई आत्मा की विशुद्धि से स्पष्ट अनुभव के उदय को प्राप्त आपके नाना प्रकार का कषाय परिग्रह नाश को प्राप्त हुआ।

८ जिसने [कषाय के] आधारो को नष्ट कर दिया है, जो बडी प्रबलता स चारो ओर अस्खलित रूप से विस्तृत हो रहा है एसे इस सम्यग्ज्ञान के समूह को प्रकट करते हुए आप जब उदय को प्राप्त होते है तब लोगो के अन्तस्तत्त्व को अभिभूत करन वाली यह कपट रूपी गाठ निराश्रय होती हुई शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

९ हे प्रभो ! जो परिग्रह से अत्यन्त विमुक्त हो गये हैं एसे आप म (आपक ज्ञान मे) प्रकट होने वाली ये विषयों की पक्तियाँ विकार उत्पन्न नहा करती है। ये आपकी

स्पष्ट चिन्मय प्रकृति का सब ओर से आश्रय लेकर स्वरस से विकसित हो रहे शुद्ध अकम्प उपयोग से व्याप्त हो जाती है।

१० अत्यन्त सघन मोह गाँठ के बलपूर्वक नष्ट किये जाने पर आपका यह ज्ञान ज्ञाता ही रह गया है कर्ता और भोक्ता नहीं है। अथवा जो वह करता [तथा] भोगता है वह सदव वह ही होता है [क्योंकि] निश्चय से परिणति ही काय है और स्पष्ट अनुभव स्वय भोग है।

११ हे भगवन्! तीनों कालों मे सुशोभित विश्व क्रीडा के मुख के एक पर्वत रूप आप एक होते भी समस्त भार को धारण करन मे समर्थ रूप से देदीप्यमान हो रहे है। पद पद पर यह वस्तु एसी है इस प्रकार दर्शन का स्पश करने वाली सहज रमण रूप क्रीडा-भूति आपका भ्रम नही है।

१२ बाह्य पदार्थो का चारो ओर जो यह महान समूह स्फुरायमान होता है यह आपके ज्ञान की स्वरस से सरस विभूति है क्योकि चतन्य के सस्कार के बिना जड पदार्थ स्फुरित नही होता है। [अत] पर से कलकित हुए बिना ही निराकुल हो लोका लोक को एक साथ जानो।

१३ चले हुये को न्रुने से छेदे हुए को छेदने से भेदे हुए को भेदने से असीम शोभा पाते हुए पर्यायो के समूह से अनन्तों वार विभक्त हुये इन समस्त पदार्थों को आलस्य रहित होकर जिनका विक्रम कोई रोक नही सकता ऐसे अत्यन्त तीक्ष्ण शक्ति के उद्गारो से खण्ड खण्ड करते हुए जानो।

१४ आपकी चतन्य रूप अग्नि का एक अगारा बना हुआ त्रिलोक चारों ओर से हठपूर्वक ज्ञान का अत्यन्त विषय बनाये जाने से तिलगा बन जाता है [तथा] आपका ही ज्ञान स्वय अतिशय विस्तार को प्राप्त कर विशेष गुरुतर एव जगत का अविषय बना हुआ अनन्तपने से सुशोभित होता है।

१५. प्रत्येक दिशा मे तेज को बिखेरने वाला यह सूय आपकी ज्ञानाग्नि के एक तिलगे की उपमा को भी प्राप्त नही होता है क्योंकि प्रकाश की निमित्तता को प्रधान रूप से स्वय प्राप्त होने वाली चतन्य की एक कणिका मात्र की भी कभी वह उपमा को प्राप्त नही होता।

कषाय के नाश एवं ज्ञान शक्ति के विस्तार/विकास में भारी परस्परापेक्षता है। किसी भी प्रकार की कषायों के रहते ज्ञान शक्ति विशेष विकसित नहीं हो सकती। इसी प्रकार ज्ञान शक्ति के विस्तार/विकास में उग्रता से लगे बिना कोई भी मानव अपनी कषायों को नष्ट नहीं कर सकता। सकल श्रुत के पाठियों को ही आचार्यों ने शुक्ल ध्यान का मुख्य रूप से पात्र माना है।

आत्मा दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय का धारी है। मानव अपने आत्म गुण वैभव के लोक में विचरण कर सके इसके लिए आवश्यक है कि वह कषाय की बेड़िया से स्वयं को मुक्त कर। कषायों को नष्ट करने हेतु उसे उसके आधारों को नष्ट करना होगा। बाह्य जड़-चेतन पदार्थों के परिग्रह से स्वयं को मुक्त किये बिना वह उनमें मेरे-तेरे के भाव से उनमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि से मुक्त नहीं हो सकता। उन्हें लेकर क्रोधादि कषाय उदय में आते रहेंगे और उसके ज्ञानादि चतुष्टय पर कम लेप चढ़ता रहेगा। जब मानव बाह्य परिग्रह से मुक्त हो समभावी बन जाता है सब प्रकार निर्भय निशंक बन जाता है देह के वियोग रूप मरण से भी उसे भय नहीं रहता तो वह उग्र रूप से अकम्प हो मुक्त ज्ञान-दर्शन की क्रीडा में समर्थ हो जाता है और तब उसका पूर्व संचित भी कषाय मल नष्ट हो जाता है कपट की गाँठे खुल जाती है।

जब मानव के दर्शन-ज्ञान के व्यापार को कषाय की वासना की दैहिक आवश्यकता/आकांक्षा की सद्भाव दूषित नहीं करती तो बाह्य का कोई द्रव्य और अन्य पदार्थ उसमें विकार का कारण नहीं बनता वरन् शुद्ध चिन्मयता से निरन्तर पुष्ट हो रहे अकम्प उपयोग द्वारा ही वह व्यापा जाता है बलवान उपयोग पर वह हावी नहीं हो पाता भार स्वरूप हो उसमें तनाव उत्पन्न नहीं करता। मोह रहित मानव को बाह्य में कुछ करने भोगने का भाव भी नहीं होता। स्व-पर प्रकाशक ज्ञान की क्रीडा ही उसके लिए पूरा करना बन जाती है और भांति भांति की ज्ञानानुभूति उसके लिए पूरा भोग बन जाती है। वह सुख का एक ऐसा पर्वत बन जाता है जिस पर ज्ञान-दर्शन के द्वारों से विश्व के पदार्थ आकर क्रीडा करते है। ज्ञान दर्शन में इस प्रकार विश्व के पदार्थों का ग्रहण कषाय कालुष्य से मुक्त मानव के लिए कोई अनात्म लोक में भटकाव नहीं होता। अनात्मा तो कषाय का परिग्रह का हिंसादि पापों का अज्ञान का लोक है। उससे मुक्त मानव तो निरन्तर आत्म लोक का वासी है और ऐसा मानव जिधर दृष्टि पसारे जिधर ज्ञान के चक्षु खोले उसे बाह्य सारे पदार्थ आत्म रस/सुख रस/ज्ञान-दर्शन के रस से भीगे हुए अपनी विभूति लगते है और वह नहीं समझ पाता कि उनके बिना कोई मानव कैसे आत्म रस म मज्जन कर सकता है पुष्ट स्वशक्तियों को अनुभूति का विषय बना सकता है। यह सही है कि बाह्य जड़-चेतन पदार्थ मानव की आत्मा से भिन्न है पर ये तो कषाय युक्त मानव की कषाय से भी भिन्न हैं। जैसे कषाय में लिप्त होकर मानव को ये कषाय का वदन कराते है वैसे ही कषाय से रहित मानव का ये ज्ञान में ग्रहण होकर ज्ञान रस के आस्वादन में आलम्बन बनते है।

ज्ञान-दर्शन की विभूति स्वरूप जगत के जड़-चेतन पदार्थों के प्रति मानव का सम्यग्दृष्टि होना होगा। ये कषाय से दूषित कर ग्रहण किए जाने पर जहां मानव की दुर्गतियों का कारण

बनगे वहा भाग अनात्म मानकर उनसे मुह मोडकर बैठ जाने वाला मानव भी अपने ही आत्म रस से वचित थोथा ही जायेगा। अत मानव को जगत के पदार्थों के स्वरूप को पुन पुन विश्लेषित कर ठीक ठीक समझ कर उन्हे अगारे से तिलगा करना होगा उन्हें हाथ मे धरे आवले की भाति सरल सुस्पष्ट करना होगा। मानव को ज्ञान की प्रकाशन सामर्थ्य का विस्तार कर सूर्यादि जगत को प्रकाशित करने वाले पदार्थों को बहुत बहुत पीछे छोडना होगा, सूर्यो का सूय बनना होगा। आत्म शक्तियो के लोक मे जागरण अन्य प्रकार नही है ॥ ७-१५ ॥

१६ जो षट स्थानों में स्थित अगुरुलघु गुणों के द्वारा सहज रूप से क्रम परिणति को प्राप्त होते हुए ज्ञान के चक्र मे नियत रूप से युक्त है [तथा] उत्पाद और व्यय को प्राप्त कर भी प्रतिक्षण अविनाशी है ऐसे आप चतन्य की टकोत्कीण एकता को कदापि थोडा भी नही छोडते है।

१७ क्रम से परिणित होने वाले भावों से कोई पदार्थ एक साथ युक्त नही होता है किन्तु आप उन क्रमवर्ती भावों से एक साथ अत्यधिक रूप से युक्त जान पडते है। यह दोनो बात यथाथ होती हुई परस्पर विरुद्ध नही है क्योकि हे विभो! आप सदा एक साथ भावो के/पदार्थो के क्रम को धारण करते है।

१८ जो स्वय पर पदाथ से पर के द्वारा उपकृत आकार को प्राप्त कर पर के सब आकारो को परिपूर्ण रूप से धारण करता हुआ भी पर से वियुक्त है, एसा आपका यह अत्यन्त शुद्ध ज्ञान रस अपने सकल वेगपूर्ण व्यापार से आत्मा मे एक साथ स्फुरित होता हुआ वृद्धि को प्राप्त हो रहा है।

१९ ज्ञानामृत की निरन्तर धारा से सब ओर से लबालब हो सुशोभित होते हुए भी आप ज्ञान मात्र के साथ एकत्व धारण नही करते है किन्तु एक द्रव्य के आश्रित सीमातीत निज पर्यायो से सुखादि अय गुणो के द्वारा भी एक साथ उल्लास को प्राप्त होते है।

२० निरन्तर सब ओर से ज्ञान के उन्मेषो द्वारा उल्लसित हो रहे आप मे, हे विभो! अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों प्रतीत नही होते है। बाहर पडते हुए भी आप स्वरूपपरायण शुद्ध हैं और स्वरूप मे तत्पर होते हुए भी सब ओर से बाहर पडते है।

आत्मा ज्ञान चक्र मे नियत रूप से उपयुक्त है। अनन्त भाग असख्यात भाग एव सख्यात भाग हानि तथा सख्यात गुना असख्यात गुना एव अनन्त गुना वृद्धि रूप छह स्थानो मे अगुरुलघु

गुण के आश्रय से यह ज्ञान चक्र उत्पाद-व्यय कर रहा है घूम रहा है। इस ज्ञान चक्र ने त्रिकाल त्रिलोक के समस्त पदार्थों को व्याप रखा है पर अति व्याप्त नही है। पर पदार्थों की आकृतियो से परिपूर्ण होते भी उन पदार्थों से पृथक् केवल आत्मा से ही इसकी व्याप्ति है। इसी प्रकार ज्ञान चक्र ने पूरी आत्मा को व्याप रखा है सम्पूर्ण आत्मा को प्रकाशित करता है पर इससे ज्ञान पूरी आत्मा नही हो जाता सुखादि अन्य अनेक गुणो को आत्मा एक साथ धारण करता है, उनके उल्लास से गद्गद् होता है। इस प्रकार ज्ञान चक्र भीतर बाहर सर्वत्र ही अव्याप्त एव अति व्याप्ति के दोषों से मुक्त है। ज्ञान की द्वयात्मकता कि वह भीतर बाहर सब ओर सब कुछ को व्यापता भी सबसे अस्पृष्ट रहता है उनके मुन अस्तित्व मे कोई विक्षेप पदा नही करता है आत्मा को शुद्ध/एक मात्र स्वरूप परायण रहते भी सवगत होने की द्वयात्मकता प्रदान करती है। मानव जब ज्ञान की इस अव्याप्ति-अतिव्याप्ति के दोषो से रहित द्वयात्मकता को भले प्रकार समझ कर निर्मल ज्ञान चक्र के सदय वदन मे स्थित होता है ज्ञान मे पदार्थों की सूक्ष्मताओ को गहराइयो को देशकाल मे दूरियो को उनकी क्रमवर्तिता को अक्रम रूप से एक साथ नापता है तो ज्ञान शक्ति का द्रुत गति से विकास होता है तथा सुखादि अन्य आत्म गुण भी साथ साथ उल्लसित होत है पुष्ट होत है।

जगत का कोई पदाथ अपनी क्रमवर्ती पर्यायो को एक साथ धारण नही करता। एक पर्याय का अन्य के साथ अनवस्थान है उसके होत अन्य का उत्पाद/उदय नही हो सकता उसका व्यय होने पर ही उस अन्य का उदय सभव है। सभी पदार्थों की (स्वय आत्मा की भी) पर्यायो की क्रमवर्तिता इसी प्रकार है। पर ज्ञान का चक्र जसे लोकालोक व्यापी है वैसे ही समस्त पदार्थों की त्रिकाल की क्रमवर्तिता को भी एक साथ नापे हुए है। ज्ञान का यह चक्र आत्मा को देश-काल मे सर्वगतता प्रदान करता है पर आत्मा न तो इस सर्वगतता के बीच अपने चतन्य स्वभाव की टकोत्कीर्ण/स्पष्ट एकता को छोडता है न ही जगत के पदार्थों के उत्पाद-व्यय को आत्मसात् कर हो रहे ज्ञान के क्रमवर्ती उत्पाद-व्यय के बीच किसी भी क्षण अपने अविनाशी स्वरूप बोध से च्युत होता है।। १६–२०।।

२१ हे देव! यद्यपि आप एक साथ अत्यधिक रूप से भीतर और बाहर को व्याप कर सुशोभित हो रहे है तथापि आप भीतर और बाहर से एक नही मालूम होते हैं क्योंकि बाहर में सब ओर उत्पाद और व्यय के आरम्भों के होने पर भी अन्तरग में आप मे तीनों कालों में होने वाली/होन योग्य पर पदार्थो की आकृतिया टकोत्कीण है।

२२ त्रिकाल जगत के समस्त आकारो से जिसका तेज व्याप्त है ऐसे एक आत्मा के सब ओर प्रकट होने पर भी यह पुनरुक्तता आत्मा की अनन्तता को कहती है। किन्तु हे प्रभो! वे प्रत्येक [आत्मा] विषय में आये अन्य पदार्थो द्वारा आपके ही समान दो नही होती एक ही बनी रहती है।

आत्मा लब्धि और उपयोग दो रूप है। लब्धि उसका अन्तरंग पक्ष है तो उपयोग उसका बाह्य। दोनो आत्मा ही है। उपयोग के स्तर पर जो त्रिकाल त्रिजगत के पदार्थों की नानाकारता प्रकट होती है उसका मूल स्रोत लब्धि रूप आत्मा का अन्तरंग पक्ष है जो सदा एक है ध्रुव है, तथा जहा यह सम्पूर्ण नानाकारता अनादि से टकोत्कीर्ण है। उपयोग के स्तर पर नानाकार नई-नई अभिव्यक्तियो से मानव को लगता है कि वह ध्रुव आत्मा नही है वरन् क्षण क्षण भिन्न भिन्न आत्मा है पर उपयोग रूप आत्मा के बाह्य पक्ष पर हो रही अन्तरंग की एक देश अभिव्यक्तिया उस अनन्त अभिव्यक्तियो के मूल स्रोत त्रिकाल जगत व्यापी तेज से सहित आत्मा को/ उसके अन्तरग पक्ष को दो नही कर देती। ज्ञानी जन जानते है कि उपयोग स्तर पर हो रही प्रत्येक अभिव्यक्ति 'उस एक ही आत्मा का स्वस्पर्श है ॥ २१–२२ ॥

२३ निरावरण आपके अत्यधिक उपचित/सग्रहित दर्शन और ज्ञान के दिव्य उच्छ्वास यद्यपि अकम्प महान उदय के साथ स्फुरित होते है तथापि बहुत भारी अन्य पदार्थ द्वारा उनका माहात्म्य खडित नही होता है क्योकि अत्यधिक भार रूप से अनन्तपने को ग्रहण कर वे पूर्व ही विस्तार को प्राप्त कर चुके है।

२४ अखिल पदार्थ समूह के साथ आप एक स्वरस के समूह से जोरो से मानों फाग खेल रहे हैं, फिर भी आप न पर पदार्थो को सीचते है, न पर पदार्थो द्वारा सीचे जाते है। आप तो मात्र एक उपयोग महारस से, जिसमे [पदार्थो के] आकार सम्मिलित हो गये है, स्फुरित हो रहे है।

जीव का उपयोग लक्षण है उपयोग के स्तर पर आयी हीनता/तुच्छता/अल्पता/सकीर्णता/सक्लेषमयता उसकी दुर्गति को प्रकट करती है एव दुर्गति की ओर ही उसे ढकेलती है। ऐसे उपयोग का रूपान्तरण ही मानव की मुक्ति का उपाय है। क्लिष्ट एव सकीर्ण उपयोग से जिसमें वह पर पदार्थो पर राग-द्वेष के कीचड उछालता हो अथवा उनसे एकान्त असम्बद्धता की कोई अपनी सकीर्ण दुनिया रचता हो आत्मा के दर्शन-ज्ञान आदि अनन्त गुण वैभव पर भाति भाति के आवरण आ जाते है भाति भाति का कर्म मैल एकत्रित हो जाता है और उपयोग स्तर पर (योग स्तर पर भी) मानव स्वय को अपंग निस्तेज किंकर्त्तव्यविमूढ ठूठ सा थोथा हुआ प्राप्त करता है। आत्मा के सम्यक् स्वरूप बोध एव सम्यक् क्रिया/आचरण/उद्यम के अभाव मे आत्मा कितना अनात्मा/हीन-दीन-दुष्ट हो जाता है यह चतुर्गति की कथा मानव की आखो के सामने लोक मे चारो ओर सुलिखित है।

चतुर्गति के कीचड से निकलने हेतु मानव को निर्मल दर्शन-ज्ञान के महारस मे स्नान करना सीखना होगा। जगत के पदार्थों के आकारो को अपने मे समेटे यह सब दर्शन-ज्ञान ही है, आत्म रस ही है। इस उपयोग रूप आत्म रस मे नहाने हेतु मानव को जगत के पदार्थो के साथ मुक्त रूप से भारी फाग खेलने को तैयार होना होगा। उसे अपने उपयोग के द्वार बाह्य पदार्थों और घटनाओं

के लिए खोल देने होगे और प्रत्येक पदार्थ और घटना का निर्मल ज्ञानानन्द रस से ही स्वागत करना होगा, उन्हें उसमें नख शिख भिगो देना होगा। यह सब अकम्प रूप से करना होगा। बाह्य किसी पदार्थ/घटना/परिस्थिति से दुराव/छिपाव या ऐसा ही अन्य व्यवहार कर उसे फाग के आनन्द को भग नही होने देना है। पर पदार्थों से सदैव अस्पृष्ट अपने अनन्त आत्म वैभव की भावना से उसे दर्शन-ज्ञान का वह विस्तार/तीक्ष्णता/विशदता प्राप्त कर लेनी है कि उनका कोई उच्छ्वास बाह्य के किसी पदार्थ/परिस्थिति/घटना विशेष से कुंठित/खडित/धूमिल न हो सके। उसे नही भूलना है कि दर्शन ज्ञान का कोई भी व्यापार न तो कभी किसी पर पदार्थ को छूता है और न कभी दर्शन-ज्ञान रूप उपयोग कभी किसी पर पदार्थ द्वारा छुआ जाता है कि यह उपयोग रस की फाग रूप क्रीडा तो आत्मा का स्व सिंचन ही है बाह्य पदार्थ/परिस्थिति/घटना के आकार के रूप मे आत्मा ही पुन पुन दूसरा बनकर उपस्थित हो जाता है जिस पर मानव को ज्ञानानन्द रस की धारा ही छोडनी है अन्य कुछ नही क्योकि वह दूसरा वस्तुत अन्य कोई नही स्वय उसका आत्मा ही है। उस दूसरे से यदि वह मुंह मोडेगा तो उसे स्वय का दर्शन/स्पर्श कठिन हो जायेगा (क्योकि उस 'दूसरे की अनुपस्थिति मे वह स्वय अनुपस्थित हो जाता है) उससे कषाय पूर्ण हिंसादि पापपूर्ण व्यवहार करेगा अथवा यह नही जानेगा कि वह दूसरा किस अर्थ मे स्वय उसका आत्मा है और इस प्रकार अज्ञान मे रहकर कोई व्यवहार करेगा तो यह फाग फाग नही रहेगा उपद्रवकारी आग बन जायेगा और अन्तर्बाह्य चारो ओर भाँति भाँति की क्लिष्टताओ को जन्म देगा ॥२३-२४॥

२५ सम्यक बोध और क्रिया इन दोनों की भावना के समूह से जिसे परमार्थ की प्राप्ति हुई हो एसे मेरे निरन्तर आपकी आश्चर्यकारक तथा परम सहज अवस्था में लगे हुए उपयोग रसमें तरने से जिनमे बहुत भारी आनन्द आकर मिला है एसी ये ज्ञानादि लक्ष्मियाँ सदा ही स्फुरित हों।

प्रत्येक ही चिन्तनशील मानव दर्शन-ज्ञान-सुख वीर्य आदि आत्म शक्तियो के ऊँचे स्तर के वेदन/अनुभव मे जीना चाहता है और सदैव इस हेतु ही उसकी सारी चेष्टाये होती है। जिन्हे परमार्थ की दृष्टि नही मिली है उसमे प्रवेश नही मिला है उन्हे ऐन्द्रियिक स्वार्थ/लौकिकता का कीचड बहुत आगे नही बढने देता और वे पुन पुन क्षुब्ध विक्षुब्ध हो आत्म शक्तियो को कुंठित/मलीन कर लेते है तथा अपने इष्ट कार्य का सम्पादन नही कर पाते। लौकिक/ऐन्द्रियिक स्तर के जीवन मे वे निर्मल आनन्द की अनुभूतियाँ कहाँ जिनसे ज्ञानादि आत्म शक्तियाँ पुष्ट/प्रौढ होती है तथा जिनमे मानव निरन्तर जीना चाहता है। लौकिक सुख का तो दुख के साथ जोडा है और मानव तुरन्त उससे ऊब जाता है।

परमार्थ मे प्रवेश की बात है कि मानव स्व तथा पर पदार्थो के स्वरूप का सम्यक् प्रकार ज्ञान करे एव हिंसादि पापो से विरत हो सयम धारण करे। लौकिकता से परे पारलौकिकता/परमार्थ मे इस प्रकार प्रवेश प्राप्त कर जब मानव जिनेन्द्र की परम सहज तथापि जगज्जनो को आश्चर्यकारक अन्तर्बाह्य दिगम्बर अवस्था के चिंतन/गुण कीर्तन मे रत होता है तो नानाविध

आनन्द रस मे भीग उसकी आत्म शक्तिया पुष्ट होती है और वह चाहता है कि उसका उपयोग इसी प्रकार जिनेन्द्र दर्शन मे तैरता रहे और उसकी स्वशक्तियो का जागरण होता रहे ॥२५॥

२४

१ एक-अनेक, अपूर्ण-पूर्ण सकीर्ण-विस्तृत, गूढ-प्रकट नित्य-अनित्य, अशुद्ध-शुद्ध, सब और अदभुत तेज को धारण करने वाले, दिव्य तथा अनन्त विभूति से विभूषित सहज प्रकाश के भाव से सुशोभित होने वाले, विश्व का स्पर्श करने वाले चैतन्य द्रव्य रूप इन जिनेन्द्र मे हम अब मग्न होते हैं।

जिनेन्द्र ज्ञान दर्शन-सम्यक्त्व-चारित्र-वीर्यादि आत्म गुणो पर आ रहे कर्मावरण नष्ट कर आत्मा के अकारण अकृत्रिम अनादिनिधन स्वरूप को प्राप्त हुए है। क्या है आत्मा का स्वरूप, कैसे वह प्राप्त होता है और कैसे उसमे जिया जाता है, यह जिनेन्द्र को समझे बिना मानव की समझ मे नही आ सकता और वह स्वय को अनात्म ससार अवस्था के जाल से मुक्त नही कर सकता।

जिनेन्द्र स्वरूप उसकी आत्मा से सुन्दर मानव के लिए जगत मे कुछ भी नही है। वह सदा एक है। ज्ञान दर्शन आदि गुणो की नानाविध पर्यायो के बीच उसका एकपना सदा प्रकट है। तथा इस एक पने के साथ ही नाना आत्मशक्तियो का अनेक विध परिणमन होता रहता है, इस अपेक्षा वह अनेक है। आत्मा ज्ञानादि अनन्त शक्तियो का धारी सदा पूर्ण है, उसका गुण वैभव किसी अन्य के आश्रित नही है अन्य का उपकार नही हैं। इस गुण वैभव को कोई पर्याय कभी पूर्ण प्रकट नही कर पाती इस अपेक्षा वह सदा अपूर्ण है। ज्ञानी मानव को पूर्णापूर्ण रूप स्वय के स्वभाव को सदा अहसास रहता है।

आत्मा विस्तृत भी है सकीर्ण भी है। ज्ञानापेक्षा वह त्रिकाल त्रिलोक को व्यापता अनन्त विस्तार वाला है तो प्रदेशापेक्षा देह प्रमाण जितना ही है। आत्मा लब्धि के स्तर पर गूढ है अज्ञात है वेद की भाषा म कोढा (खुदा) है। उपयोग के स्तर पर हमे अपना आत्म वेदन होता है। उपयोग स्तर पर हो रहे वेदन जितना ही हमारा आत्मा/स्व नही है। जैसे ज्ञानादि गुणो की क्षायोपशमिक और क्षायिक लब्धिया आत्मा का गूढ पक्ष है मानव के वेदन से परे है, वैसे ही आत्मा के असख्यात प्रदेशो का यथालब्धि मानव के कर्मास्रव-बध और सवर-निर्जरा कर उसकी भाँति भाँति ससार और मुक्ति की रचना करना भी आत्मा का गूढ पक्ष है जिसे छद्मस्थ मानव जान न पाने से अपने ससार और मोक्ष का कर्ता अन्य को मान भ्रम मे पड़ता है। प्रदेशो की प्रक्रिया जहाँ गूढ है वहाँ इसका फल प्रकट अनुभव मे आता ही है। इस प्रकार भाँति भाँति से आत्मा गूढ और प्रकट दोनो है। आत्मा एव उसका अनन्त गुण वैभव नित्य हैं, न कभी किसी के द्वारा बनाया गया न कभी किसी के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। पर वह कूटस्थ नित्य नही है षटगुणी हानि वृद्धि के चक्र मे परिणमन करता हुआ नित्य हैं। परिणामत उसकी एक अवस्था बनती है, एक हटती हैं। ये नित्य और अनित्य दोनो ही रूप हमारे आत्मवेदन के प्रकट अग ह।

आत्मा शुद्ध भी है और अशुद्ध भी । लोकालोक के पदार्थों को ज्ञान मे समेटे वह विश्व रूप है यह उसकी अशुद्धि है पर इस अशुद्धि के बीच ज्ञान जगत मे सभी पदार्थों से अस्पृष्ट पृथक वेदन मे आता है यह उसकी शुद्धता है । यह शुद्धि और अशुद्धि दोनो आत्म वेदन मे एक साथ मानव के अनुभूति के विषय बनते है । केवल शुद्ध या अशुद्ध ज्ञान नाम की कोई वस्तु नही है ।

जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा अकारण ही दिव्य विभूतियो से विभूषित है अपनी ज्ञान ज्योति से त्रिकाल विश्व को सहज ही प्रकाशित कर रहा अद्‌भुत ही महापदार्थ है जिसमे मग्न होकर मानव कृतकृत्य/धन्य हो उठता है ॥१॥

२ जो एक है क्रमहीन पराक्रम से एकरस (परिपूर्ण) है, तीन लोक रूपी चक्र की क्रम पूर्ण क्रीडा के आरम्भ मे गम्भीर तथा भारी हठ से उत्फुल्ल उपयोग वाले है तथा जिनका अति स्पष्ट स्वभाव आनन्द रूप उत्कृष्ट कलिकाओ के समूह से विकसित हो रहा है ऐसे आपके सुन्दर तथा स्वत सुरक्षित इस रूप का अधन्य/भाग्यहीन प्राणी पान नही करते है ।

आत्मा ज्ञान मे त्रिकाल विश्व को क्रम से न व्याप कर एक ऐसा व्यापे हुए है । ऐसे अद्‌भुत पराक्रम का भारी यह सहज है । तीन लोक के पदार्थ निरन्तर परिवर्तन कर रहे है वे अनन्त है और उनमे प्रत्येक का परिणमन अन्य से भिन्न है और अपने अपने भविष्य की ओर अभिमुख है । ऐसे विचित्र अनन्त पदार्थ समूह के क्रमिक अनन्त वर्तन/परिणमन को आत्मा एक अकेला व्यापता है । जो जन आत्मा का यह स्वभाव जानकर त्रिलोक चक्र को ज्ञान मे व्यापने हेतु उत्फुल्ल उपयोग/प्रसन्न चित्त हो हठ ठानते है, इस महा व्यापार मे पुन पुन सलग्न होकर आनन्द रस मे नहाते है वे सुन्दर एव स्वत सुरक्षित आत्मा बनकर जगत मे जीते है उनकी अन्तर्बाह्य सर्व अशुचिताय/कुरूपताये शरद ऋतु के बादलो की तरह पलायन कर जाती है व परीषहो से ऊपर उठ जाते है उन पर उपसर्ग/आक्रमण असभव हो जाते है एव वे जन जन के श्रद्धा के पात्र प्रिय पूज्य बन जाते है । जो उनका आदर न कर पाये व तो वास्तव मे अधन्य/अभागे लोग है ॥२॥

३ इस सीमाहीन विश्व की सीमा पर चारों ओर जोर से टकराने वाली निर्मल सुन्दर, निराकुल अद्वितीय ज्ञान की क्रीडा रस की तरगों से जो चचल है चैतन्यामृत के पूर से जो भरा हुआ है जो स्वाभाविक लक्ष्मी से विस्तृत है तथा अदभुततम है एसे आपके रूप को पीकर कौन मत्त नही होता है ?

आत्मा चैतन्य रूप अमृत से लबालब भरा हुआ महा समुद्र है। इस समुद्र म ज्ञान की आनन्दमयी क्रीडा स्वभाव से हो रही है और उस क्रीडा से उठने वाली तरगे विश्व को पुन पुन व्यापती है कषायादि मल से रहित निर्मल है सर्व आकुलता/सक्लेश से रहित हैं जगत के पदार्थों को अपने मे समेट अति सुन्दर है । ऐसी तरगो से चचल हो रहे महगुणो से सम्पन्न आत्मा के समान जगत मे कुछ भी नही है । जो जन आत्मा के इस रूप से परिचित हो जाते है और थोडा

इसके ज्ञानानन्द रस का पान कर लेते हैं उन्हे लौकिक पद प्रतिष्ठा वैभव को ठोकर मारते देर नही लगती वह सब उन्हे आत्म रस की एक बूंद के आगे नगण्य/तुच्छ लगते है और जनजन उनमे आये परिवर्तन को समझने मे असमर्थ रह जाते है ॥३॥

४ जिसके विशाल प्रकाश का वेग हठ पूर्वक रोका गया था ऐसा कोई अद्वितीय कैवल्य सुधा पिण्ड निश्चय से आपके द्वारा चिद्वीर्य के अतिरेक से आलोडित किया गया है। उस कैवल्य सुधा पिण्ड की अत्यन्त सुन्दर उठती हुई चचल तरगो की पक्तियो का समूह त्रिलोक के उदर की गुफाओ मे आज भी अत्यन्त भार से भ्रम को नष्ट करता हुआ घूम रहा है।

आत्मा केवल ज्ञान रूप अमृत पिण्ड का स्वामी है। उस अमृत पिण्ड से निकलने वाला प्रकाश चतुर्दिक् सहज ही फैलकर विश्व व्यापने मे तत्पर है। मानव फिर भी जो अल्पज्ञ/छद्मस्थ बना हुआ है यह उसका हठ ही है। उसने हठ करके ही राग-द्वेष की एक कृत्रिम दुनिया रच रखी है और ज्ञान के प्रकाश को उस छोटी सी दुनियाँ मे बाँध रखा है। जो जन राग-द्वेष के इस कृत्रिम थोथेपन से मुक्त होकर महान बल वीर्य पूर्वक ज्ञान सुधा पिण्ड को मथते है पुन पुन पदार्थों को ज्ञेय बनाकर ज्ञान की क्रीडा करते है व केवल ज्ञानी/महाज्ञानी बन जगत म सुशोभित होते हैं और उनकी वाणी/वस्तु प्रकाशन रूप उपदेश लोक मे जन जन मे फैल जाते है। उन महापुरुषो के परलोक गमन के उपरान्त भी दीर्घ काल तक लोग उनके उपदेशो का नाना रूपो मे स्मरण कर जीवन मे प्रकाश प्राप्त करते रहते है ॥४॥

५ ज्ञान-दर्शन की दृढता से आलिगित अत्यन्त विस्तृत तीन लोक का भार धारण करने के सम्मुख बहुत भारी प्रचण्ड वीर्य के वेग से जिनकी ज्योति विशाल हो रही है तथा जो अत्यन्त तेजस्वी ज्वालाओ के समूह से परिपूर्ण है ऐसी आपकी चैतन्य रूपी आरतियाँ मिलकर स्पष्ट प्रकाश के विस्तार से परिपुष्ट कान्तियाँ छिटका रही है।

जगत मे वे ही लोग कान्तिमान है जो लौकिक अथवा पारलौकिक किसी भी प्रकार का भार सफलतापूर्वक वहन करते है सफल होने का पूरे उत्साह पूर्वक प्रयास करते है। कर्तव्य परायणता मानव का एक बडा गुण है। उसमे अपनी पूरी शक्ति से जो मानव जुटते है वे अपनी आत्म शक्तियो का विस्तार/विकास करते है लोक मे उनकी कीर्ति होती है इतिहास मे वे स्मरण किये जाते है। कर्तव्य के भार वहन से मुँह मोडने वाले स्वय ही क्षीणता/तुच्छता को प्राप्त हो जाते है। अपनी आत्मशक्तियो को अनुभव/स्पर्श/उपलब्ध करने हेतु मानव को बाह्य मे कर्तव्य/लक्ष्य/मजिल स्थापित करनी होगी सामने हो उन्हे प्राप्त करने मे यत्नशील होना होगा। योग उपयोग को आरोहण हेतु मजिल बल्कि कुछ कठिन मजिल न हो तो वे अनध्यवसाय से दूषित हो मानव के पतन के कारण बनते हैं। आलस्य और आराम का जीवन वस्तुत एक रसहीन बोरियत का जीवन है। अर्थहीन ऐसे जीवन से ऊबकर कभी-कभी मानव आत्म हत्या तक कर लेता है।

आत्म विकास के चरम उत्कष कैवल्य को पाने हेतु मानव लौकिक राज्य पद परिवार के सर्व भार से स्वयं को मुक्त कर एकल विहारी साधु बन जाता है और ज्ञान ध्यान-तप का अधिक चिक भार वहन करने मे दृढ़ता से प्रवृत्त होता है। लोकालोक के पदार्थ उनका मर्म जितनी विशदता से उसके ज्ञान-दर्शन मे सिमटते जाते है उतना ही ज्ञान-दर्शन रूप ज्योति का विस्तार होता जाता है सुख वीय आदि अन्य आत्म गुण पुष्ट होते जाते है अन्तर्बाह्य चारो ओर एक अद्भुत तेज का प्रसार हो जाता है। जसे अलात चक्र के द्रुतगति से घूमने से अग्नि के स्फुलिंग छिटकते है वसे ही चतन्य ज्योति की सक्रियता से मानव के अन्तर्बाह्य कान्ति छिटकती है ॥५॥

६ हे विभो ! प्रकट होने वाले अनन्त धर्म रूप वभव से भरे भिन्न ही प्रकार के उदय से हो रहा निराला स्वाद यदि प्रारम्भ से स्वय भी देवपने को सिद्ध नही करता है तो कौन बुद्धिमान अनकान्त की दुराशा से एक उछलते हुए निमल ज्ञान से मधुर द्रव्य स्वरूप की अपेक्षा प्रकट होने वाले आपके स्वभाव को भिन्न करेगा (समझगा) ?

अनेकात जगत का एक छत्र शासक है। जगत के जड चेतन सभी पदाथ उससे शासित है। मानव चाहे ससार के कदम मे धसा रहे अथवा मुक्त लोक के निर्मल पथो पर कदम बढाये वह अपने अनेकात स्वरूप का त्याग नही कर सकता। अत अनेकात द्वारा जीव का सामान्य बोध होता है। उनमे कौन देव है कौन अदेव/कुदेव है, इसके निर्णय की कसौटि अनेकान्त के पास नही है। इसकी कसौटि तो आत्म गुणो के भिन्न ही प्रकार के उदय और उनके भिन्न ही प्रकार के अनुभव रस में मानव को प्राप्त होती है। अदेव रूप जो रहे बहुभाग ससारी जनो की तो बात ही क्या स्वग के अवधि ज्ञानी देवता भी सारे बाह्य वभव के बीच अन्त सक्लेश से मुक्त नही हो पाते आयु के अन्तिम छह माह मे विवर्ण हो जाते ह और च्युत होकर हीन पर्यायो मे जन्म लेने को बाध्य होते है। अर्हन्त का केवल ज्ञान अनन्त रूप से उदित होता है और सुख वीय आदि अन्य अनन्त गुण वैभव की महान विशुद्धियो के बीच किंचित भी सक्लेष का कारण उनके भीतर बाहर कही भी विद्यमान नही रहता। आयु के अन्तिम अन्तमुहूर्त मे चित्त मे कही कोई खिन्नता उत्पन्न होने के स्थान पर लोक पूरण स द्घात के महायोग का उद्भव होता है और अर्हन्त सर्व कम-नोकर्म रूप पुद्गलश्लेष से मुक्त होकर सिद्धालय को उर्ध्वगमन कर जाते है। ऐसे सब क्षुधादि दोष मुक्त ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय युक्त अजर अमर रूप जो जीये वह देव है अन्य कोई भी अल्पज्ञ छद्मस्थ देव माने जाने योग्य नही है ॥६॥

७ हे देव ! भाव और अभाव के समूह स विकसित होने वाले भाव रूप स्वभाव जिनका है एस आपकी महिमा जो कि परस्पर एकरूपता क रसस ही मानों एक दूसरे में मिलते हुए मुख्य-गौण (ऊच-नीच) विरुद्ध धर्मो क समूह से अपन निर्माण को बढाती है, उच्चरूप स अनवस्थित होकर भी सदा अच्छी तरह अवस्थित सुशोभित हो रही है।

मानव जीवन अनेकान्त की गोद मे पलता विकसित होता है। उदाहरणार्थ कभी उसमे व्यष्टि भाव प्रमुख होता है समष्टि भाव गौण हो जाता है। उसे लगता है कि वह अकेला है, अन्य से उसे कोई लेना देना नही है, अपनी ससार रचना को उसे खुद अपने पुरुषार्थ से तोडना है। तथा कभी यह व्यष्टि भाव अलग से कुछ नही उसे समष्टि का अग लगता है। अन्यो के अज्ञान क्लेश मिटाने मे वह अपने अज्ञान क्लेश भूल जाता है और इस प्रकार उन्हे मिटा लेता है। जो अन्य प्रदेशापेक्षा उसके अभाव रूप है वे अपने से एकमेक हुए उसे लगते है। मानव का निर्माण उसकी स्वशक्तियो का विकास मक्खन निकालने वाली गोपी की तरह इसी तरह मख्य गौण कर विरुद्ध धर्मों/दृष्टियो के बीच व्यवहार चातुर्य से सभव होना है। अनेकात मे अशिक्षित जन इस बदलते मुख्य/गौण व्यवहार को मानव की कमजोरी मान तो मानें वे व्यष्टि पक्ष को पकडकर बठें और समष्टि पक्ष को मानव की दुबलता मान बठ अथवा समष्टि पक्ष का बहुमान करें और व्यष्टि पक्ष को माया/भ्रम कहे तो कहे पर वस्तुत इन विरोधियो का सख्य भाव तो ससार मे ही क्या, अहन्त सिद्ध अवस्थाओ तक भी नही टूटता केवल रूप ही बदलता है। मानव को यदि महिमा के शिखर चढना है तो उसे विरुद्ध धर्मों के बीच मुख्य गौण का व्यवहार सीखना होगा किसी के भी लोप मे अपनी अवस्थिति का भ्रम छोडना होगा ॥७॥

८ जो सूयसम चित्पिण्ड अपनी आत्मा मे द्रव्य रूप उपलब्ध होन से निरुत्सुक हुआ निवास कर रहा है ऐसा आपका चिन्मात्र, परिशुद्ध, उद्धत रस से परिपूर्ण, एक क्रम और अक्रम रूप से निरन्तर चतन्य शक्तियो के समूह के साथ क्रीडा करन वाला यह अनेक रूप शाश्वत तेज हमारे समक्ष जयवन्त वतता है।

जब मानव यह बात समझ लेता है कि सूर्यों का सूर्य शाश्वत केवल ज्ञान अनन्त अन्य गुण वभव के साथ आत्मा मे द्रव्य रूप से अनादि से विद्यमान है तो वह अतीत-अनागत एव वतमान रूप काल के प्रति अन्य जड चेतन पदार्थो के प्रति निरुत्सुक हो जाता है। उसे स्वय का अहसास अकारण अकृत्रिम अनन्त शक्ति पुज रूप होता है जिसे न काल का वर्तन हानि पहुचायेगा न ही वृद्धि करेगा। इसी प्रकार अन्य भी दूर निकट का कोई पदार्थ/शक्ति उसके अपने मे द्रव्य रूप से स्थित गुण वभव को हानि पहुचाने अथवा लाभ करने मे समर्थ नही है। यह निरुत्सुकता उत्पन्न होते ही मानव की सर्व आकुलताय और अल्पताय चतु स्थानीय के स्थान पर द्विस्थानीय रह जाती है जिन्हे उखाडना उसे एक खल सा लगने लग जाता है और वह सब चिन्ताय छोड चिन्मात्र शुद्ध आनन्दपूण सदा एक साथ ही अनेक रूप शाश्वत तेज की सुख वीर्य आदि चतन्य शक्तियो के साथ क्रम से तथा एक साथ क्रीडा मे मग्न हो जाता है। उसे विश्वास होता है कि जगत मे कुछ भी ऐसा नही है जो इस क्रीडा मे व्याघात उत्पन्न कर सके क्योकि इसका उद्गम अन्यत्र कही से नही द्रव्य रूप से उसकी आत्मा मे स्थित सूर्य समान चित्पिण्ड से है और इसीलिए यह सदैव निर्बाध, जयशील है ॥८॥

९ भावी और भूत विवर्तो (पर्यायो) मे व्याप्त तया से जिनकी दीर्घता द्रव्य रूप से सुरक्षित है तथा पर्याय रूप से जिनकी महिमा बिखरी हुई है ऐसे आप अवस्थिति को

प्राप्त नही है। हे ईश ! इस प्रकार अखण्ड खण्डित निज स्वभाव से धीर तथा देदीप्यमान चतन्य के समूह से युक्त आप एक होकर भी किस देखने वाले के परम आश्चय को विस्तृत नही करते है ?

आत्मा द्रव्य रूप से एक अखण्ड तेज युक्त महा पदाथ है। उसकी महिमा समस्त भूत एव भावी के विस्तार मे दीर्घ रूप से सुरक्षित है। हर पर्याय मे एक ही तेजोमयता निरन्तर उदयमान है। जहाँ तक इस प्रकार अखण्ड/एक महिमा की बात है देखने वाले को यह आश्चर्य उत्पन्न नही करती। जब यह महिमा हर पर्याय मे रूप बदल बदलकर प्रकट होती है तो ज्ञानी जन भी अखण्ड खण्ड दोनो रूपो को देखकर आश्चर्य मे पड जाते है। उन्हे भी आश्चय होता है कि पर्याय पर्याय मे यह भिन्न ही रूप कहाँ से उभर आता है।

१० हे भगवन ! जिस कारण आप नास्ति रूप विभासित होते हैं और जिस कारण आप अस्तिरूप विभासित होते है उस कारण हे देव ! आप भावाभावमय कोई जात्यन्तर (विलक्षण) द्रव्य है। इस प्रकार नित्य उद्योत के विकास रूप हास स सुशोभित चतन्य पिण्ड स जो तेज पूण है एस आप भावाभाव दोनो रूप होते भी अभाव के प्रभाव से अभाव रूप नही होते है।

आत्मा न केवल भाव रूप ही है न केवल अभाव रूप ही है वरन् भावाभाव रूप है। उसका अभाव रूप नास्ति पक्ष भाव रूप अस्ति पक्ष को सुदृढ करता है। नास्ति पक्ष के कमजोर पड जाने पर अस्ति पक्ष सकर दोष से दूषित हो जाता है तथा अस्ति पक्ष के कमजोर होने पर तुच्छता उत्पन्न हो जाती है ॥१०॥

११ भावाभाव स व्याप्त ज्ञान ही जिनका शरीर है एसे आपके स्पष्ट रूप स प्रकाशित होन पर समस्त पदार्थो के आकार सम्बन्धि विकाश के बहुत भारी परिज्ञान रूपी प्रभा के सदभाव मे अन्तर्निमग्न होने पर भी जो उस उस स्वभाव रूप लक्ष्मी के द्वारा सब ओर प्रकाशमान हो रहा है एसा यह त्रिलोक चतन्य रूपी लता के एक पल्लव को प्राप्त होता है।

विश्व पदार्थो का ज्ञान आत्मा का अन्तरग है ज्ञान शरीरी आत्मा मे अन्तर्निमग्न है। जब ज्ञान शरीर कषायमल और अन्य आवरणो से मुक्त हो स्पष्ट प्रकाशित होता है तो तत्काल ही त्रिलोक के समस्त पदार्थो के आकार उसमे उद्भासित हो उठते ह। ज्ञान मे उद्भासित पदार्था कार वे ही है जिनसे विश्व के पदाथ बाह्य मे सुशोभित हो रहे है। ज्ञान मे सिमटा हुआ विश्व ऐसा लगता है मानो वह आत्मा की चैतन्य लता का एक पत्ता है। जसे पत्ता लता की शोभा होता है वसे ही विश्व पदार्थ चेतन आत्मा की शोभा है ॥११॥

१२ अन्तरंग में निश्चल और सावधान हृदय वाले देव और असुरों द्वारा तर्क का विषय बनाया हुआ चतन्य क सकोच और विकाश स आश्चय चकित करन वाला आपका यह कौन स्वभाव है कि जिसस चतन्य शक्तियाँ एक अपनी महिमा मे निमग्न तेज होती हुई भी स्फूर्ति से इस अनन्त विश्व को सव ओर स प्रकाशित कर स्वय मे स्थित हो रही है।

आत्मा देवो का देव है। जिनके चित्त कषाय से कलुषित एव चचल नही है तथा स्थिर एकाग्र होकर जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा के स्वभाव को समझने मे तत्पर हुये है ऐस विशेष ज्ञानी जनो को/देव एव असुरो को आत्मा का स्वभाव आश्चर्य चकित करता है। वह सकोच एव विकाश दोनो रूप है। सकोच रूप मे उसे जगत के सभी पदार्थों से पृथकता होने से केवल अपनी चतन्य शक्तियो की महिमा है, केवल उनसे काम है अन्य किसी से उसे कोई लेना देना नही है। इस अर्थ मे सकोच को स्वीकार कर जगत् के पदार्थों से आत्मा सम्बन्ध विहीन भी नही हो जाता, वरन् दर्शन-ज्ञान मे समस्त विश्व को भी साथ ही समेटता है। दर्शन ज्ञान मे समस्त विश्व को समेटे अपने मे स्थित रहना उसका स्वभाव है ॥१२॥

१३ निष्कप एव दृढ उपयोग क सवस्व समपण से जो प्रकट हुई है, जिनकी अनन्त किरण स्पष्ट है, जो चारो ओर से प्रकाशमान है एव क्रमिक सन्निवेश क वश स वलपूर्वक समस्त विश्व पर आक्रमण कर (याप कर) सुशोभित होन पर भी जिनका वेग बरबस रुक गया है एसी आपकी अपनी ये शक्तिया आप मे ही लीन हो गई हैं।

आत्म शक्तियो का जागरण निष्कप दृढ उपयोग की सामथ्य से सम्पन्न महान वीयवान जनो द्वारा ही सभव हो पाता है। जो वाह्य उपसर्ग एव परीषहो स आतकित हो कषायाधीन/विषयाधीन हो जाते है उनकी आत्म शक्तियो का जागरण नही हो पाता उनका सारा श्रम निष्फल चला जाता है। जिनके आत्म शक्तियो का जागरण होता है वे पाते है कि उनकी दशन ज्ञान शक्तियाँ देश काल मे क्रम स स्थित एव वर्तन करते हुए विश्व पदार्थों को अधिकाधिक व्याप कर आत्मा मे ही उन्हे निमग्न कर रही है। वास्तव मे, आत्माधीन हुए वीर्यवान ज्ञानी जनो को आत्मा की अपनी ही शक्तियाँ उन्हे अन्यत्र निमग्न कर भी कस सकती हैं ?

१४ हे देव ! दशन और ज्ञान से देदीप्यमान आत्मा के द्वारा आप सीमा रहित है और प्रदेश लक्ष्मी द्वारा सान्त (सीमा सहित) है। इस प्रकार उस उपयोग स्वरूप की अपेक्षा आपकी कही भी सीमा सुशोभित नही होती है। किन्तु फिर भी, निज प्रदेशो मे नियत अनन्त उन्नत क्रीडाय, अखण्ड विश्व को व्यापन वाला चतन्य का उल्लास स्वय सान्तता को धारण करता है।

१५ चतन्य रूप चादनी के सागर में डूब रहा सा यह जगत दूर उभरा सा/ स्थित लगता है, तथापि आप मे ही सदा मग्न है। हे प्रभो ! आप लोक क अन्त तक

"याप्त महिमायुक्त प्रतिभासित हो रहे है। पदार्थों के स्वभाव की अचल अविचि"य महिमा प्राय" अद्भुत ही है।

१६ जिनके कवल्य की कलाओ का समूह अपने अन्तरग में नियन्त्रित होने पर भी एक साथ सवत्र व्याप्त हो रहा है अपनी महिमा मे लीन जिनके लिये यह सकल अनन्त तीनो कालों की पक्ति पूजा की माला के मकर" बिन्दु कलिकाओं की श्र णी की शोभा को प्राप्त हो रही है तथा जिनके क्रीडारत अन्तरग मे विश्व की महिमा गहीत है एसे यह कौन अवभासित हो रहे है ?

१७ पूव पश्चात का स्पश नही करता है तथा पश्चात् पूवपने को प्राप्त नही करता है। निरन्तर होने वाले पूर्वापरीभाव से पदार्थों की स्थिति अन्य नही है। [तथापि] दूर तक विस्तृत अनन्त चतन्यघन रस की अतिशयता से जो रम्य उदय वाले है तथा अपनी महिमा से जिन्होंने तीनो कालो के क्रम को व्याप्त कर रखा है एसे आप नित्य होकर भी विवतन कर रहे है।

१८ विश्व के उदर रूप गहरी गुफा मे सवृत्त (घिरा हुआ) काल रूपी पवन के चलन से नित्य उठन वाले बहुत भारी सुशोभित हो रहे तरगो के समूह से प्रारम्भ हुए क्रमिक सचार के बहान परिवतन की लीला से जो सुशोभित हो रहा है ऐसा आपका चतन्य जल का प्रवाह आत्मा मे ही निश्चय से विवतन को प्राप्त है।

१६ हे स्वामी ! द्रव्य की अपेक्षा निष्प्रकम्प होते भी तूल (रुई) क समान चित्त होन से चचल हो रहे एक प्रचण्डता गुण से आप काल क थपेडो से चचल उन कलाओं को प्राप्त कर रहे है जो आन्तरिक क्षोभ समूह क आघात की विवशता से उत्पन्न चचलता से व्याकुल है तथा बार-बार अनत आघातों से जिनक समस्त स्वभावों मे अन्तर उत्पन्न हो रहा है।

२० अनन्त विस्तृत ज्ञान रूपी अमृत के झराने से जो अपने ही उल्लासो से तृप्त है एसे आप सब ओर विस्तृत होन वाली दृष्टि के द्वारा परम तृप्ति को प्राप्त है। [तथा] प्रगाढ आन"द के भार से छलकते हुए निज रस क आस्वाद से जिनका तेज आर्द्र होता हुआ वृद्धि को प्राप्त हो रहा है एसे आप अपन मे ही निराकुल है तथा अपन मे ही सदा स्थिति को प्राप्त हैं।

२१ कर्तृत्व एव इच्छा से रहित आपको गाढ उपयोग ग्रह से अनन्त जगत को ग्रस्त करने पर भी अन्य से काय नही है। ग्राह्य आकार समूह स युक्त आत्म शरीर का जो साक्षात अवलोकन है वह निश्चय से शुद्ध अद्वितीय, अस्खलित उपयोग रूप तेज का स्वभाव है।

जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा का स्वभाव एव बाह्य जगत से उसका सम्बन्ध अचल/अविनाशी है विचार के सकीर्ण घेरे मे वे पूरे ग्रहण नही होते अत मानव को आश्चयकारी है। उन्हे भली प्रकार समझे और स्वीकार किये बिना मानव अपनी पुष्कल आत्म शक्तियो के स्पर्श से/निज रस से वचित अवस्तु रूप हुआ जीता है।

आत्म के दो पक्ष है—एक प्रदेश पक्ष दूसरा उपयोग पक्ष। प्रदेशो की अपेक्षा आत्मा देह प्रमाण सान्त है, दर्शन ज्ञान रूप उपयोग की अपेक्षा त्रिकाल त्रिलोक व्यापी अनन्त है। यदि मानव को जिनेन्द्र स्वरूप अपने आत्मा को उपलब्ध होना है तो उसे अपने सान्त और अनन्त इन दोनो पक्षो को अक्षुण्ण रखना है। सान्त पक्ष से जहाँ बाह्य विश्व पर है वहा अनन्त का पक्ष विश्व की महिमा को ग्रहण किये हुए है त्रिकाल व्यापी त्रिलोक के पदार्थों की पक्ति पूजा की माला के मकरन्द/पराग की बिन्दु कलिकाओ की भाँति पावन रूप मे उपयोग के आगन मे शोभा को प्राप्त हो रही है।

दशन-ज्ञान रूप उपयोग आत्म प्रदेशो मे स्थित रहता हुआ ही समस्त त्रिकाल त्रिलोक को अपने म समेट कर प्रतिक्षण क्रीडारत है यह एक महान ही आश्चय का विषय है। जब ज्ञान इन्द्रिया प्रकाश आदि के अवलम्बन से बाह्य पदार्थों के सम्पक मे आकर उन्हे जानता है तो वह बौना ही बना रहता है उसकी गति वर्तमान मे ही थोडे पदार्थों तक होती है। पर जब मानव ज्ञान की अचिन्त्य कवल्य शक्ति मे श्रद्धा कर उसे उपलब्ध करने मे सम्यक प्रकार से उद्यत होता है और उस सामथ्य को प्रकट कर लेता है तो वह बिना इन्द्रियो और प्रकाश आदि की सहायता के ही त्रिकाल त्रिलोक के समस्त पदार्थों को उनके सम्पूर्ण क्रम को उलाघता हुआ एक साथ जान लेता है। यह उन्हे एक बार जानकर रुक नही जाता वरन जगत मे काल के नर्तन से इसके चैतन्य जल मे तरगे उठती है और वह विवर्तन को प्राप्त होता है। यद्यपि द्रव्य रूप से आत्मा की त्रिकाल त्रिलोक व्यापी कवल्य ज्योति निष्कप है नित्य है, वह कभी अन्यथा होने वाली नही है तथापि वह अन्त क्षोभ से प्रतिक्षण विवर्तन को प्राप्त है। जसे समुद्र मे अन्त क्षोभ से ज्वार आते है और बाह्य पवन आदि उसमे आलम्बन होते है वसे ही चैतन्य का महासागर जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा अन्तर्बाह्य कारणो से नित्य परिणमन को प्राप्त होता है। कारणो के इस अन्तर्बाह्य द्वैत मे अज्ञानी जन बाह्य से कर्तृत्व और इच्छा/आकाक्षा का प्रसार किये कषायाधीन/विषयाधीन/पराधीन बने कैवल्य ज्योति को धूमिल किये रहते है। वे नही जानते कि बाह्य पदार्थों के प्रति कर्तृत्व का भाव उनकी महिमा की और उनके सम्बन्ध मे इच्छा/आकाक्षा अपनी महिमा की अज्ञान मय अस्वीकृति है। अत ज्ञानी जन बाह्य के सब कर्तृत्व और इच्छा आकाक्षा से उपरत हो त्रिकाल त्रिलोक व्यापी निर्मल ज्ञान-दर्शन रूप आत्मा के अवलोकन वेदन के अमृत से ही तृप्त होते है। उनका उपयोग

कषायाधीन/पराधीन होने के स्थान पर आत्म नियन्त्रित हो जाने से निर्मल होता हुआ शीघ्र ही कैवल्य के स्तर को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार त्रिकाल अलोक के बाह्याकारो को धारण किये आत्म शरीर का यथाशक्ति गहन विशद अवलोकन ही शुद्धात्मानुभूति है शुद्धात्मा की उपलब्धि है और मानव को महान तृप्तिदायक है ॥१४-२१॥

२२ आपकी उद्दाम, उद्यत, अनन्त वीर्य के व्यापार से विस्तारित बहुत भारी बडी-बडी तरगो से परिपुष्ट दृष्टियों के समूह के क्रीडा करते हुए हमारी कान्ति की अत्यधिक खीची हुई मम सम्बन्धि महिमा के विस्तार पर आक्रमण कर पदार्थों की ये पक्तिया निश्चय से अपने प्राण छोड रही है।

जसी दृष्टि वैसी सृष्टि। औदयिकताओ के कीचड मे धँसे हुए क्षुधा-तृषा से पीडित हीन वीर्य मानव को जिनेन्द्र स्वरूप अपने जयशील आत्मा की क्या सुध-बुध ? अन्य भी विषयाभिलाषी जन पर पदार्थों की दासता नही छोड पाते बाह्य पदार्थों के सयोग वियोग उन्हे क्षण मे रुष्ट क्षण मे तुष्ट कर देते है। जिन मानवो मे जिनागम मे वर्णित स्व-पर पदार्थों के स्वरूप के अध्ययन/अनुभव से पुरुषार्थ जागा है, आत्म तेज का स्फुरण हुआ है उनके लिए बाह्य के सब प्रलोभन परीषह उपसर्गों के भय व्यर्थ होते है उनकी शान्ति कान्ति को क्षति पहुचाने की सामर्थ्य जगत के किसी भी पदार्थ मे नही होती ॥२२॥

२३ हे ईश ! दर्शन और ज्ञान के एकतामय उपयोग रूपी तेज के सब ओर विस्तृत होने पर तीक्ष्णता को अच्छी तरह धारण करने वाले आपकी इस विश्व व्याप्ति हेतु जिन्होने अद्भुत रस की प्रस्तावना का आडम्बर किया है एसी अति उत्साहित प्रगाढ वीर्य के गरिमापूर्ण व्यायाम की चेष्टाय बलपूर्वक अत्यन्त प्रकट हो रही है।

२४ निष्कम्प, निर्बाध उपयोग की गरिमा के आलम्बन से जिनके स्वात्मा रूप बगीचे का महान अभ्युदय सभव हुआ है ऐसे आपका क्या वर्णन किया जाये ? जिसके आज भी थोडा चचल ज्ञान प्रकट हुआ है उसके अचल की क्रीडा से अनायास ही आन्दोलित हुआ आकुल विश्व इधर उधर बाहर ही घूमता/भूमता रहता है।

छद्मस्थ मानव के दर्शनोपयोग एव ज्ञानोपयोग एक के बाद एक होते है। अनन्त वीर्यवान जिनेन्द्र के अत्यन्त तीक्ष्ण दर्शन और ज्ञान गुण एक साथ कार्य करते है। हीन वीर्य छद्मस्थ मानव अपने क्रामक उपयोग से विश्व को आशिक रूप मे व्याप सकता है, केवल ज्ञानी परमात्मा एक साथ सम्पूर्ण को व्याप लेते है। सतत जागते निष्पलक केवली परमात्मा अनन्त वीर्य के व्यापार से विश्व को दर्शन-ज्ञान से व्यापने के कार्य मे सलग्न हो महान ही अद्भुत आनन्द रस का पान करते है। छद्मस्थ मानव को उनके महा उल्लास की अनुभूति सभव नही है। वह उनके महान आत्मोदय को जो निष्कप उपयोग के आलम्बन से सम्भव हुआ है समझने मे असमर्थ रह जाता है पर उसे

क्षायोपशमिक अल्पज्ञान की क्रीडा के रस का अनुभव है कि वह कितना मधुर है उसे कितना मग्न करता है और किस प्रकार ज्यो-ज्यो ज्ञान शक्ति का विस्तार हो जाता है अनायास ही विश्व के पदार्थों का स्वरूप/मर्म कसे उसके सम्मुख उद्घाटित होता चलता है। उसे लगता है कि जगत के पदाथ उसके ज्ञान लोक मे प्रवेश करन को मानो आकुल हैं ॥२३–२४॥

२५ (हे भगवन !) आपके मध्य मे उछलते हुए निमल कवल्य रूपी जल के श्रेष्ठ पूर मे जो अत्यन्त नहा रहा है, जो सतत आलस्य रहित है, लीला से आन्दोलित चतन्य के विलास की तरगों को स्पष्ट उच्छालन की क्रीडा से जो जर्जरित हो रहा है तथा सब ओर से जो विलीन हो रहा ह एसा मेरा स घव नमक के समान बाहर निकलना ही नही है।

हम जिनेन्द्र स्वरूप मे जिने द्र स्वरूप अपने आत्मा मे पानी म नमक की भाँति लीन हो जाय और कभी काषायिक औदायिकताओ के कीचड मे पुन प्रवेश न कर तो हमारा जीवन धन्य हो जाये। इस हेतु आवश्यक है कि हम जिनेन्द्र के वाङ् मय की पल्लवग्राही जानकारी से ही सतुष्ट न हो वरन् उसमे गहरे पैठ उसके निमल जल मे पुन पुन अत्यन्त स्नान करें और इस प्रकार चित्त को कषाय कालुष्य से रहित कर। ऐसा होने पर हम पायगे कि हमारी क्षायोपशमिक लब्धियो का विस्तार हो रहा है और उपयोग के स्तर पर नई-नई अनुभूतियाँ/बोध मणियाँ उभरने को उद्यत ह। आत्मा की गहराईयो से उभर रही इन चतन्य तरगो का आलस्य रहित होकर आरम्भ-परिग्रह से यथा शक्ति उपरत होकर हम स्वागत कर उन्हे स्पष्ट ग्रहण करने उनमे मग्न होने मे यत्नशील हो। तब हम देखगे कि एक ओर जिने द्र के वाङ मय की गहराइयो का कोई अन्त नही है एव निरन्तर और और अवगाहन के लिए सदा अवकाश है तथा दूसरी ओर आत्मा की गहराइयों से अपूर्व अनुभूतियो/ बोध मणियो के उद्भव का कोई अन्त नही है। ऐसे अनेक विध आनन्द लोक से निकल कर कौन बुद्धिमान चतुर्गतिरूप अनात्म/अजिनेन्द्र रूप अज्ञान कषाय आदि के लोक को लौटना चाहेगा ॥२५॥

२५

१ हे स्वामी ! उत्कट कमकाण्ड के वेग से भीतर और बाहर भ्रमण करने वाले पुरुषो द्वारा आप कसे भी हठात् स्पष्ट कर पुन छोड दिये जाते है। अत आपकी एक कला के अवलोकन से जिनका प्रत्यय (श्रद्धान) प्रौढ हो गया है तथा अत्यधिक निजरा से जिनका अपना कम पटल गल रहा है उनके द्वारा सब रूप से उदित आप खोजे जाते है/ प्राप्त किये जाते है।

आत्मा-परमात्मा ससार मोक्ष देह और बाह्य पदार्थो से वराग्य आदि की चर्चा सभी धर्म दशनो मे सामान्यत प्राय पायी जाती है और मानव भाति भाँति से चिन्तन-मनन-ध्यान-समाधि

आदि रूप अन्तरंग कर्मकाण्ड एवं उपवास-त्याग-तप-तीर्थाटन इष्ट देव-गुरु की भक्ति आदि बाह्य कर्मकाण्ड करते हैं। इन्हें जिनेन्द्र स्वरूप वीतराग आत्मा की थोड़ी झलक कभी मिल भी जाती है पर उसमें मजबूती से टिकने के स्थान पर चतुर्गति स्वरूप अनात्म लोक को ही अपने कर्मकाण्ड से साथ अपना कर्म लेप बढ़ाते रहते हैं प्राय दिशाच्युत रह संसार भ्रमण को तोड़ नहीं पाते। जो जन वीतरागी ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय धारी जिनेन्द्र के समान स्वस्वरूप को एक बार समझ दृढ़ श्रद्धा के साथ संयम-तप के मार्ग पर चलकर अपने कर्मावरण को नष्ट करने में लग जाते हैं वे परमात्म स्वरूप के प्रकाशन/उपलब्धि की दिशा में निरन्तर ही बढ़ते जाते हैं ॥१॥

२ हे देव! जिसके अन्तरंग में रागादि की गरिमा प्रकट प्रतिष्ठित हो रही है एसे मनुष्य के आपके सम्बन्ध में आवरण के कोई कारण हैं जो अल्पज्ञ मनुष्यों के गम्य नहीं है। उन रागादि के घात से दूर दृष्टि हुए पुरुषों का प्रतिदिन प्रचण्ड होता हुआ स्पष्ट समता के अमृत सहित क्रियाडम्बर क्रम-क्रम से आपके साक्षात्कार का निश्चय से स्पष्ट हेतु है।

जिनेन्द्र के मार्ग में सब राग के प्रति गरिमा भाव को छोड़ना होता है। देह है तो रहे पर उसे सजाने सँवारने का भाव कर्म लेप बनाता है अतः दिगम्बरता इस मार्ग की पहली शर्त है। देह को लेकर अपना देश परिवार आदि का भाव छोड़ मानव मात्र ही नहीं जीव मात्र के प्रति समता भाव धारण करना होता है। देह के अनुकूल एवं प्रतिकूल बाह्य जड़-जीव सभी पदार्थों के प्रति समभाव धारण करने के बाद जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा के साक्षात्कार हेतु किया जाने वाला सब कर्मकाण्ड क्रम क्रम से पूर्ण फलवान होने की सामर्थ्य प्राप्त करता है उसके पूर्व नहीं ॥२॥

३ जो पूर्ववर्ती असंयम के द्वारा संचित कर्म धूलि को शीघ्र ही नष्ट करने के लिए कठिन उत्कृष्ट संयम समूह को हृदय देकर आदर से युक्त हुए बलपूर्वक कपट की गांठ को विदीर्ण कर क्षीण पाप होते हुए देखते हैं वे तत्क्षण सत्क्रिया से युक्त सहज अवस्था में स्थित अन्तस्तेज को प्राप्त होते हैं।

४ जो नित्य उत्साह से कषाय धूलि के तीव्र उदय वाली स्पधक श्रणी को लाघने की कुशलता से स्वय को भीतर बाहर भारहीन करते है वे स्वय सकल स्वभाव को प्राप्त कर अत्यन्त स्पष्ट रूप से उत्कट उपयोग की गरिमा से आत्म वभव को ग्रास बनाते हुए विज्ञान घन हो जाते है।

विज्ञान घन रूप अर्हन्त अवस्था प्राप्त करने हेतु आवश्यक है कि मानव शक्ति सम्पन्न एकाग्र स्थिर उपयोग से आत्म शक्तियो को विशदता से अनुभव मे ले। जो जन उपयोग के इस महाकाय को करने म नही लग पाते है व कितना ही कुछ करें कैवल्य प्राप्त नही कर सकते। उपयोग इस कार्य मे तत्पर हो सके इसके लिए आवश्यक है कि तुच्छ असारभूत वैभाविक जीवन के बोझ को अपने शिर से मानव उतार दे उनसे स्वय को हल्का करे। सयम धारण बाहर से हल्का करने रूप ही है। कुशल सयमी वे ही है जो बाह्य परीषह आदि मे नही अटक जाते उन्ह उलाघने की सामर्थ्य उत्पन्न कर लेते है। इसी प्रकार अन्तरग मे कषायो के उदयो को सम्यक् विचार से व्यर्थ कर अन्तर्बाह्य मे हल्के होकर निरन्तर शक्तिपु ज स्व स्वरूप के वेदन मे तत्पर रहन वाले शीघ्र अनन्त चतुष्टय सम्पन्न केवली परमात्मा बन जाते हैं ॥४॥

५ जिनके स्वच्छन्द दशन-ज्ञान बाह्य और अभ्यन्तर की परिवृत्ति (परिभ्रमन) मात्र से सुशोभित हो रहे है, जो समस्त श्रामण्य को प्राप्त कर सहज अवस्था का अवलोकन करते है तथा कमकुशल है वे शीघ्र ही पूव मे प्राप्त हुए शान्त भाव को प्रकट अपूर्वता प्राप्त कराते हुए क्रम से कम रूपी वृक्ष को जड से उखाड देते है।

सर्व आरम्भ परिग्रह का त्याग कर श्रमण जीवन अगीकार करना आत्मा पर से कर्मावरण नष्ट करन की पहली शर्त है। सम्यग्दर्शन प्रकट कर चतुर्थ गुण स्थान वर्ती मानव आत्मा की शान्त आनन्दमयता का वेदन तो कर लेता है पर इसमे वृद्धि वे ही कर पाते है जो श्रमण बनकर काय वाणी आदि के प्रत्येक व्यापार मे समिति गुप्ति का पालन करते हुए पापास्रव से स्वयं को बचाते है तथा सतत सहज आत्मा बनकर जीते है अर्थात् तनाव एव प्रक्षेप से रहित होकर स्व-पर रूप अन्तर्बाह्य जगत के पदार्थों को अपने विशद दर्शन-ज्ञान का विषय बनाने रूप स्वानुभव मे मग्न रहते ह। वे अपूव-अपूर्व शान्ति का वेदन करते हुए सकल कर्मावरण नष्ट कर शीघ्र ही सर्वज्ञ परमात्मा बन जाते हैं ॥५॥

६ हे ईश ! जो जन आत्म गरिमा से ग्रस्त अन्तरग मे उदात्त गुण समूह से युक्त उपयोग को सब ओर कषाय के क्षीण होने पर अ यग्र गाढ पकड से ग्रहण करते है वे अखण्ड रूप से एकत्रित निज व्यापार के सार रूप उस उपयोग की तीक्ष्णता को प्राप्त कर स्वय उस शान्त तेज को देखते है जो सम्यक् स्वतत्त्व से अदभुत है।

आत्मा शान्त तेजोमय आनन्दमूर्ति एक महापदार्थ है। इसके गुण वैभव की जिसे महिमा नहीं है, उस मानव का उपयोग निष्प्रभ कषाय-कलुषित हुआ बाह्य पदार्थों के जंगल में भटकता रहता है और कभी भी उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती। जिन्हें आत्माश्रय प्राप्त नहीं हुआ उन्हें अन्यत्र आश्रय कहाँ? जिन्हें अनन्त गुण सम्पन्न जिनेन्द्र स्वरूप स्वात्मा का भान आया है उन बाह्य में आरम्भ-परिग्रह मुक्त एवं अन्तरंग में कषाय मुक्त संयमी जनों के अन्तस्तल से अद्भुत बोधमणियाँ अमृत अनुभूतियाँ निरन्तर उभरती हैं और वे शान्त सहज भाव से उसमें मग्न रहते हैं। संयमी जीवन के अखण्ड पुरुषार्थ के परिणामस्वरूप आयी ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग की तीक्ष्णता से ही मानव शान्त तेजयुक्त आत्मा के दर्शन में समर्थ होता है ॥६॥

७ चैतन्य के सामान्य (दर्शन) तथा विशेष (ज्ञान) रूप का, स्वयं अपने में परिणमन करने वाले विश्व को/अथवा पर्यायों में परिणमन करते हुए स्वयं विश्व का सब ओर से भले प्रकार स्पर्श कर जो सामान्य रूप को/स्तर को प्राप्त हुए हैं अन्तरंग और बहिरंग संयम में निरन्तर जाग्रत रहने वाले वे कृति (कुशल) मनुष्य जो करने योग्य है उसे समस्त रूप में ही करते हैं और जानते हैं।

चैतन्य का सामान्य रूप स्व-पर रूप विश्व का अभेद मूलक दर्शन है तथा विशेष रूप स्व पर रूप विश्व का भेदमूलक ज्ञान है। संयम में निरन्तर सावधान रहने वाले जिन मानव श्रेष्ठों ने इस प्रकार निरन्तर परिणमन करने वाले स्व-पर रूप विश्व को पुनः पुनः [illegible] आगम युक्ति और अनुभव से समझा है [illegible] क्या करना चाहिए क्या नहीं [illegible] क्या करने में [illegible] ... और क्या करने में [illegible] कुशलतापूर्वक तदनुरूप प्रवृत्ति करते हैं। [illegible] विषम परिस्थिति में क्या कितना करणीय है इसका [illegible] ... [illegible] ॥७॥

१० यदि आत्मा तत्त्व रसिकता से वाह्य पदार्थों को छोड़कर आत्मा के द्वारा स्वात्मा मे रमण करने वाले अपन आत्मा को चाहता है तो अत्यधिक सकोच स कुबडा न हो। पुन पुन वरवस वाह्य मे फेंकन वाले मोह ग्रह को नष्ट कर राग द्वे प स विवर्जित हो समदृष्टि रा सव प्रकार 'स्व' को देखे।

११ जो अपनी दृष्टि को वाहर रख रहा है तथा जिसकी आत्म दीप्ति अपने कर्म पुद्गल के वल से क्षोभ को प्राप्त हो रही है ऐसे किसी पशु (अज्ञानी) के आप जिस कारण देखे जाने पर भी पुन श्रम के करने वाले होते हैं उसी कारण वहुत भारी पिष्ट पेषण के हठ से छूटे हुए/रहित अपने कर्त्तव्य के इच्छुक योगी जन सम्यक प्रकार से अपने योग्य कर्म काण्ड के पालन में नित्य उद्यत रहते है।

आत्मा सामान्य विशेष रूप चेतन पदार्थ हैं। सामान्य रूप म आत्मा सदा एक मात्र चेतन है। यह आत्मा का नित्य, एक पक्ष है जिसे जगत के पदार्थों के आलम्बन से वन रहे नानाकारो मे मानव खोकर दिग्भ्रमित हो जाता है। ध्रुव तारे के समान चैतन्य सामान्य जिसकी दृष्टि से ओझल नही होता वह नानाकार अभिव्यक्तियो म निमग्न रहते भी कषाय कलुषित न हो दृढ तेजयुक्त उपयोग से सदव सुशोभित होता है। चैतन्य सामान्य रूप स्वानुभूति म मानव प्राय नानारूप ज्ञयाकारता को वाधा समझ उनसे अपना पिण्ड छुडाना चाहता है। पर, पदार्थ चाहे जड हो चाहे चेतन विशेष अभिव्यक्तियो/पर्यायो स रहित शुद्ध सामान्य की उपलब्धि कही नही होती। सभी पदार्थों के स्वभाव की भाँति आत्मा का भी यह ही स्वभाव है। अत हम मात्र इतना कर कि विशेषो के बीच वह रही चेतना की नित्य सामान्य धारा को न केवल स्वीकार करे वरन् उसे प्रथम स्थान का आदर द अभिव्यक्तियो को दूसरा उससे नीचा। हम स्मरण रख कि इस जगत म यदि हम प्रथम को चाहते है तो विना द्वितीय के प्रथम नही होता तथा प्रथम को द्वितीय का दर्जा देते है तो सक्लेष/राग-द्वे प उत्पन्न होते हैं।

यह सही है कि मानव के लिये तत्त्व रूप उसकी आत्मा ही है। जगत के पदार्थ जो उसे स्पर्श भी नही करते वे उसके लिये तत्त्व रूप कैसे हो सकते हैं? उन्हे अपने लिये तत्त्व रूप मानना अपना अन्तरग मानना उनम अपने हानि-लाभ देखना मानव का अज्ञान-मोह-राग-द्वे प आदि रूप अपराध है जो कर्म वन्ध कारक है। ऐसा होते भी यदि हम उन्हे अपनी ज्ञान क्रीडा का आधार नही वनायेंगे तो हमारी ज्ञान क्रीडा सभव नही होगी नाना रूप अभिव्यक्तियो के विना चेतना ही रुद्ध कु ठित हो जायेगी। जसे इधन के विना अग्नि वुझ जाती है वाह्य विश्व ज्ञय रूप से अपने म निमग्न किये विना हमारी चेतन ज्योति ही वुझ सी जायेगी। अत राग-द्वे ष उत्पन्न होकर हम वहिर्दृष्टि अनात्मा न हो जाये इसके लिये राग-द्वे प को नष्ट करे उन की क्षुद्रताओ से ऊपर उठ और विश्व के पदार्थो को हाथ मे धरे आवले की भाति महा अद्भुत अपने ज्ञानमय स्वरूप का पूरा देखे/वेदन करें। इस कठिन मार्ग पर कुशलतापूर्वक चलकर ही हम अपने तेजोमय स्वरूप को प्राप्त हो सकते है।

बाह्य पदार्थों को विषय बनाते हुए दर्शन-ज्ञान का व्यापार करने वाले मानव की आत्म शक्तियों का जागरण अवश्य होता है उसी आत्म तेज का स्पष्ट अवश्य होता है। इन शक्तियों के जागने पर भी प्राय मानव बधाधादि कर्मों के उदय से भटक कर ससार वृद्धि कर लेता है। अत सावधान योगीजन आत्म पथ से न भटकने हेतु ही सब हठ छोड उचित मात्रा म उपवास पायश्चित्त सामायिक आदि अन्तर्बाह्य कर्मकाण्ड करते है ॥८–११॥

१२ राग समूह का सर्वथा निग्रह करने के लिये परम उत्कृष्ट प्रयत्न करना चाहिए क्योकि उसकी दृढ पकड से किया हुआ योगों का निग्रह कभी फलदायक नही होता। वैराग्य की ओर उन्मुखता की महिमा वाला योगी योग प्रवृत्ति सहित होने पर भी क्रम क्रम से मुक्त हो जाता है, पर गाढ नीद मे सोये को तरह मुकलित (सकोचित) अन्त करण वाला पशु (अज्ञानी) योगो की प्रवृत्ति करते हुए भी बन्ध को प्राप्त होता है।

१३ क्रम से कम से विरत होने वाले कुशल मनुष्य के कर्म ही तब तक शरण है जब तक बटी हुई रस्सी के समान वह स्वय ही सर्वांग से खुल [नही] जाता है। वस्तुत अदभुत ज्ञान घन को प्राप्त मनुष्य के लिये काय वचन और मन की वर्गणाय यन्त्र चालित मात्र होन से होते हुए भी नही होने के समान है।

मन-वचन-काय के स्पदन/क्रिया रूप योगो से प्रकृति एव प्रदेश बध होते है तथा कषाय से स्थिति एव अनुभाग बध होते है। पुन योगो से कर्मास्रव होता है तथा यदि कषाय का सर्वथा अनुदय है तो कर्म एक समय मात्र के लिये बन्ध को प्राप्त होते है और वह भी साता रूप ही। आगम की इस प्ररूपणा से हमे लगता है कि हम योगो का निग्रह करे ताकि कर्मास्रव एव प्रकृति प्रदेश बध ही न हो और हम कर्म बध से बचकर अपना ससार अल्प कर ल। हिंसादि रूप अशुभ योगो का निग्रह यथा सभव मानव को करना ही चाहिए पर क्या शुभ शुद्ध योगो का निरोध भी कर्मास्रव मे कारण होने मात्र से मानव करे ? यदि योग प्रवृत्ति से कर्मास्रव होता है तो यह योग प्रवृत्ति ही केवली समुद्घात के रूप मे कर्म निर्जरा का कारण भी है। छद्मस्थ अवस्था मे भाति भाति के तपो के अनुष्ठान सर्दी गर्मी आदि परीषह-जय ध्यान-अध्ययन आदि न वीतरागता की महिमा हृदयगम कर मानव यदि मन-वचन काय से प्रवृत्त न हो दृढता पूर्वक न लगे तो उसके पोर पोर में व्यापे हुए राग के कण नष्ट नही हो सकते और मुक्ति के पथ पर मानव आगे बढने के स्थान पर सुप्त सा शिथिल जीवन जीता हुआ आत्म गुणो पर आवरण ही बढायेगा उसका संसार ही दीर्घ होगा।

यह सही है कि मानव को एक दिन मन-वचन-काय की सर्व प्रवृत्तियाँ छोड अयोगी सिद्ध परमात्मा बनना है अन्तर्बाह्य के करने धरने मे ही नही पडे रहना है। पर यह तो तेरहवें गुण स्थान मे सर्वज्ञ परमात्मा बनने के बाद आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त के लघु काल शेष रहने पर ही

१० यदि आत्मा तत्त्व रसिकता स बाह्य पदार्थों का छोड़कर आत्मा के द्वारा स्वात्मा मे रमण करन वाल अपन आत्मा को जानता है तो अत्यधिक सताप म कुरड़ा न हो। पुन पुन वरवस बाह्य मे फँसन वाल मोह ग्रह का नष्ट कर राग द्वष स विवर्जित हो समदृष्टि ५ सव प्रकार 'स्व' को दखे।

११ जो अपनी दृष्टि को बाहर रख रहा है तथा जिसकी आत्म दीप्ति अपन कर्म पुदगल के वल से क्षोभ को प्राप्त हो गयी है उसे किसी पशु (अज्ञानी) ने आप जिस कारण देखे जान पर भी पुन भ्रम म फसन वाले होते हैं उसी कारण बहुत लोग पिष्ट पषण के हठ से छूटे हुए/रहित अपन कर्तव्य मे इच्छुक योगी जन सम्यक् प्रकार स अपन योग्य कर्म काण्ड के पालन म नित्य उद्यत रहत हैं।

आत्मा सामान्य विशेष रूप सत्ता वाला है। सामान्य रूप म आत्मा सत्ता रूप मात्र चेतन है। यह आत्मा का निरत्न गुप्त पक्ष है जिस जगत के पदार्थों के आलम्बन से वन कर नानाकारो म मानव जीवन दिग्भ्रमित हो जाता है। इस कारण ही सत्ता चैतन्य सामान्य जिसकी दृष्टि स ओझल नही होता वह नानाकार अभिव्यक्तियों म निमग्न रहते भी सताप सक्लिष्ट न हो इस संयुक्त उपयोग से सदैव सुशोभित होता है। चेतन्य सामान्य रूप स्वानुभूति म मानव प्राय नानारूप सत्ता कारता को बाधा समझ उसमे अपना चित्त छुड़ाना चाहता है। पर पदार्थ चाहे जड हो चाहे चेतन, विशेष अभिव्यक्तियो/पर्यायो स रहित शुद्ध सामान्य की उपलब्धि कही नही होता। सभी पदार्थों क स्वभाव की भाति आत्मा का भी यह ही स्वभाव है। अत हम मात्र इतना करें कि विशेषों के बीच वह रही चेतना की नित्य सामान्य धारा को न केवल स्वीकार करें वरन् उसे प्रथम स्थान का आदर दें अभिव्यक्तियो को दूसरा, उससे नीचा। हम स्मरण रख कि इस जगत मे यदि हम प्रथम को चाहते है तो बिना द्वितीय के प्रथम नही होता तथा प्रथम को द्वितीय का दर्जा देत हैं तो सक्लेश/राग-द्वष उत्पन्न होते ह।

यह सही है कि मानव क लिय तत्त्व रूप उसकी आत्मा ही है। जगत के पदार्थ जो उसे स्पर्श भी नही करते व उसके लिये तत्त्व रूप कैसे हो सकते ह ? उन्हे अपने लिय तत्त्व रूप मानना अपना अन्तरग मानना उनमे अपने हानि-लाभ देखना मानव का अज्ञान मोह राग-द्वष आदि रूप अपराध है जो कर्म बन्ध कारक है। ऐसा होते भी यदि हम उन्हे अपनी ज्ञान क्रीड़ा का आधार नही बनायेंगे तो हमारी ज्ञान क्रीडा सभव नही होगी नाना रूप अभिव्यक्तियो के बिना चेतना ही रुद्ध कुठित हो जायेगी। जैसे इधन के बिना अग्नि बुझ जाती है बाह्य विश्व ज्ञेय रूप मे अपने म निमग्न किये बिना हमारी चेतन ज्योति ही बुझ सी जायेगी। अत राग-द्वष उत्पन्न होकर हम बहिर्दृष्टि अनात्मा न हो जाये इसके लिये राग-द्वष को नष्ट कर उन की क्षुद्रताओ से ऊपर उठ और विश्व के पदार्थों को हाथ म धरे आवले की भाति महा अद्भुत अपने ज्ञानमय स्वरूप का पूरा देखें/वेदन करें। इस कठिन मार्ग पर कुशलतापूर्वक चलकर ही हम अपन तेजोमय स्वरूप को प्राप्त हो सकते है।

सम्पत्ति ह और इसीलिये वैराग्योन्मुख होने पर निर्जराकारक भी है) तथा विश्व पदार्थों के स्वरूप को ग्रहण कर ज्ञान को तीक्ष्ण/निर्मल करने मे इसलिये प्रवृत्ति " करे कि वे पदाथ पर है तो कम और ज्ञान दोनो मे स्वेच्छाचारी शिथिल सुख सा हुआ सुखता को ही भ्रम से आत्मा की प्राप्ति मानता हुआ वह अपनी आत्म हिसा करता है स्वय को सुख स्थावर लोको म धकेलता है और इस जीवन को देह-मन से रुग्ण आस कातर निस्तेज रूप मे पूरा करता है। इतना ही नही अन्यो को भी इस मिथ्या एकान्त की राह दिखा स्व हिंसा मे प्रवत्त करता है।

मुक्ति का माग कर्म और ज्ञान रूप दो परो से तय किया जाता है। एक ओ" भाँति भाँति के तप परीपह-जय आदि द्वारा सत्ता में पड़े कर्मो को पका कर उनकी उदीरणा कर दी जाती है। कम मैल को इस प्रकार हटाकर प्रकट हुए आत्मा के निर्मल दर्शन-ज्ञान के विश्व व्यापी लोक मे दूसरी ओर मुमुक्षु श्रमण उप रूप से क्रीडारत होता है और कम मल के हटने को सार्थक करता है। इस प्रकार दोनों पैरो से चलते हुए वह एक दिन केवल ज्ञानी परमात्मा हो जाता है ॥१५॥

१६ जिनके अपनी बलवान अभि्यक्तियो में आदर नही है [अत] जो तीक्ष्णता खो बठे है क्षण भर के लिये सामा'य को ऊचा उठाकर शीघ्र ही सम्पूर्ण रूप से सामान्य से पतित होते हुए मोह स आच्छादित ये अज्ञानी जन दु शिक्षा क कारण घघर घोर शब्द करत हुए श्वास की वायु स एकाग्रता को छोड कर शयन करत है।

मानव की आत्म शक्तियो की अभिव्यक्ति उसके मन वचन-काम के योग एव जानने-देखने रूप उपयोग द्वार से होती है। मानव को उसका अपना आत्म स्पर्श इन्ही द्वारो से प्राप्त होता है। जितने बलवान विशद गहन योग-उपयोग मानव करता है उतना ही वह आत्मवान है उतना ही कर्मावरण हटकर उसे उसकी आत्मा प्राप्त होती है। अत आत्म हितेच्छु मानव को प्रत्येक योग उपयोग बलवान हो इसका ध्यान रखना होगा शिथिल अनादर भाव से किया गया योग-उपयोग उसकी शक्तियो को क्षीण करेगा। जो जन चैतन्य के सामान्य अनुभव को ही आत्मानुभूति रूप मे आदर देते है वे थोडे समय आत्म चिंतन-चर्चा कर एक झू ठा ही सतोष कर लेत हैं। क्या उस अल्प काल मे किये गये आत्म चिंतन से और शेप बहुभाग काल को आलस्य मे गुजार देने से उनकी आत्म शक्तियों का कोई विशेष जागरण सभव हो पाता है? क्या उन्हें वस्तुत उस काल मे भी कोई विशद गहन, बलवान स्वानुभव हो पाता है ? क्या आत्मा इतना ही मात्र है ? वस्तुत तो अज्ञान एव कषाय मल से रहित बलवान विशद गहन स्व-पर हितकारक प्रत्येक ही योग एव उपयोग आत्मा की ही अभिव्यक्ति है इस बात को जो आत्माभिलाषी मानव स्वीकार नही करता वह वास्तव मे अज्ञानी है, गलत शिक्षा का शिकार हो गया है। आत्मा तो उसे मिली नही है, श्वास के आने जाने को देखने तक ही उसका स्वानुभव है। ऐसा वह मानव वास्तव में सोने मे ही अपना अमूल्य मानव जीवन गुजार रहा है ॥१६॥

१७ जो जन इस जगत में तीक्ष्ण-तीक्ष्ण, अचल अपन आलम्बन में बद्ध उद्धत (उग्र) काल खण्ड को खण्डित करन वाले उपयोग को विश्वास कर साक्षात् धारण करत

सभव होगा। उसके पूव वहाँ तक पहुचने म तो इन योगो की प्रवृत्ति ही मानव की शरण है। जसे जल मे डूबते हुये को ठीक प्रकार हाथ पैर चलाने पर जल ही जल के बाहर आ जाने मे सहायक होता है उसी प्रकार सम्यक् प्रकार योग प्रवृत्ति करने पर कर्म जल मे डूबते मानव को पुण्य रूप हो कर्म ही बाहर निकलने म सहायक हो जाते हैं।

अज्ञानी जनो के उग्र और शिथिल दोनो ही प्रकार के योग पाप रचना कर उन्हें ससार मे अधोगमन कराते है। ज्ञान के निमल लोको मे जीने वाले कुशल मानव क मन-वचन-काय की प्रवृत्तियाँ स्वचालित यन्त्रवत् सहज होती हैं उसके ससार रचना नही करती उसके ज्ञानमय मुक्त जीवन म बाधक नही होती ॥१२-१३॥

१४ आप निष्कप हृदय मे प्रतिभासित होत हैं। पर यह निष्कपता तीव्र वेग शाली उत्तमजाति के घोडे की तरह जो बाह्य मे लगाम लगान से रुक तो जाता है पर आगे बढन के लिये क्षुब्ध रहता है, रोकने पर भी नही होती। निश्चय से जिसमे बिना रोके ही मन लगडेपन को प्राप्त हो जाता है उस किसी कारण को प्राप्त मनुष्य के हृदय मे आप स्वय ही प्रकट होत है।

दपण मे पदाथ का बिम्ब भले प्रकार आये इसके लिये दपण का स्थिर रहना आवश्यक है, हिलता हुआ न हो। उसी प्रकार जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा का प्रतिभासन भी स्थिर चित्त मे ही होगा डोलते हुए मे नही। चित्त का यह डोलना जहाँ तक योग प्रवृत्ति रूप है, रहे तो रहे, प्रभु दर्शन म बाधक नहीं है। पर यदि वह राग से क्षुब्ध है तो कदापि जिनेन्द्र दशन/आत्म दर्शन सभव नही। अत हम चित्त को राग मुक्त करने मे तत्पर हो उसके स्पन्दन निरोध के चक्कर मे विक्षप न पड ॥४२॥

१५ जिसमें आक्रमण कर अक्रमपाक रूप से कम धूलि को जला दिया जाता है तथा जो शक्तिशाली रूप से प्रकट हो रहे स्वभाव से अद्भुत है एसे कर्म और ज्ञान के समुच्चय मे जिनकी स्वरुणी मति रमती नही है वे शान्त तेज की छाया मात्र के स्पश के रस से मत्त प्रमत्त आशय वाले आँखे मीचे गज की भाँति श्रामण्य से पतित हो पुन हिसा को प्राप्त होते है।

जन्म-मरण रूप संसार चक्र अत्यन्त भयावह है। इससे बाहर निकलने हेतु ही मानव सर्व आरम्भ-परिग्रह छोड श्रमण जीवन स्वीकार करता है। यदि वह ससार से मुक्त होने की कला को भले प्रकार न समझ पाये और मन वचन आदि की योग प्रवृत्ति तो इसलिये छोड बैठे कि इससे कर्मास्रव होता है कि योग आत्मा का विभाव रूप परिणमन है (वह यह नही जानता कि वैभाविक होते भी ये मात्र औदयिक ही नही हैं वरन् क्षायोपशमिक और क्षायिक भी होने से आत्मा की निज

आरम्भ-परिग्रह के फेरे लगवाती रहती है भाँति भाँति से भयाक्रात उसे कही भी चन नही है। विश्व प्रकाशक कवल्य भूमि प्राप्त कर लेने पर मानव सर्व दोष मुक्त, परमौदारिक देहधारी परीषह-उपसर्ग से अतीत सहज ही निराकुल बन जाता है। कवल्य भूमि पर आरोहण का साधन मानव का दृढ उपयोग है। उस ऊँचाई पर आरोहण शिथिल चचल डगमगाते उपयोग के वश की बात नही है। उपयोग को बलवान बनाने हतु मानव को उसे अतत्त्व कुतत्त्व की ओर जाने से रोकना होगा सयमित कर उसे आत्मा क शान्त तेज के स्पर्श से पुष्ट करना होगा। केवल ज्ञानी प्रत्यक्ष मे विश्वज्ञ है उसे श्रुताभ्यास से परोक्ष रूप से ही अपनी अल्पज्ञता को विश्वज्ञता मे परिणित करने का यत्न करना होगा। सुख वीय आदि आत्म गुणो को अधिक अधिक वेदन मे लेते हुए विश्व पदार्थो के मध्य विशद ज्ञान क्रीडा करते करते एक दिन वह सर्व कर्मावरण नष्ट कर प्रकट केवल ज्ञानी परमात्मा हो जायेगा ॥१८॥

१९ आपका यह शुद्ध तेज का स्वाद, जो जन्म से लेकर आज तक प्राप्त नही हुआ है, सर्वांग में मद उत्पन्न करता हुआ बरबस किसे प्रमाद युक्त नही कर देता है? सयम में तीव्र रुचि रखने वाले पुरुष उससे मत्त होते हुए भी प्रमत्त नही होते। उन्ही के पाप नष्ट हो जाने पर योग्य काल मे आप पूर्णतया प्रकट हो जाते है।

ज्ञान-दशन वीर्यादि आत्म शक्तियो का जागरण मानव को मतवाला बना देता है और नदी के दोनो तटो को तोडते हुये बाढ के जल की भाँति अनगल भोग विलास एव अन्य रौद्रताओ मे साधारण मानव प्रवृत्त हो जाता है। स्व-पर प्रकाशक, तेजोमय जिनेन्द्र स्वरूप आत्मा के अनुभव/स्पश से तो मानव के पौर पौर मे आत्म शक्तियो का अलौकिक ही विलास का उद्भव होता है। वह विनाशकारी बन 'द्वारका भस्म करने के साथ साथ स्वय द्वीपायन' को भी भस्म न कर दे इस हेतु आवश्यक है कि मानव विषय-कषाय रूप प्रमत्तता से ऊपर उठ सयम मे तीव्र रुचि धारण करे। यदि मानव इस सयम को अक्षण्ण रूप से धारण किये रहता है और जिनेन्द्र रूप आत्मानुभव मे लगा रहता है तो शीघ्र ही ज्ञानवरणादि घातिया पापो को नष्ट कर केवलज्ञानी परमात्मा बन जाता है ॥१९॥

२० इस जगत में जो वस्तु बाह्य मे मिथ्या भी मालूम होती है वह दीप्ति रूप अन्तरग में अवतीर्ण हुई सम्यक है। वह मिथ्या ज्ञान का विषय नही है क्योकि वह भी आत्मा ही की अभिव्यक्ति है। जिनके मल साक्षात् क्षीण हो गये है उनके कोई बाह्य वस्तु समीचीन ज्ञान का विषय बनती है और उसका रूप बदल जाता है ता उससे क्या? उससे ज्ञान अज्ञान नही हो जाता।

दीप्तिमान निर्मल आत्मा की प्रत्येक ही अभिव्यक्ति समीचीन है चाह बाह्य या नही। बाह्य मे उपस्थित पदार्थ को ग्रहण करती भी कषाय मुक्त चित्त की प्रत्येक

है वे भूतार्थ के विचार में सुस्थिर दृष्टि वाले सर्वत्र समभाव रखते हुए चैतन्य के सामान्य विशेष भाव से परिपूर्ण अतिस्पष्ट स्व मे निवास करते है।

व्यवहार से मानव घर, परिवार, देश विदेश मे निवास करता है। निश्चय से देखे तो मानव देह मे भी नही अपने आत्मा मे निवास करता है अथवा अज्ञान कषाय आदि कर्मोदय रूप अनात्मा मे निवास करता है। दोनो मे ही निवास का द्वार उसका उपयोग है। जब कर्मोदय के मल रूप अज्ञान कषाय आदि का प्रवाह उपयोग के लोक मे बहता है और मानव क्षुब्ध/चचलमति रहता है जब कर्मावरण के तीव्र उदय से मानव का उपयोग तीक्ष्ण न होकर भौटा/अकार्यकारी होता है जब मानव त्रिकाली आत्मा की तलाश मे वर्तमान की सीमा मे कार्य करते उपयोग को मूल्य नही देता और इसलिये उपयोग शिथिल होकर वर्तन करता है जब उपयोग के नानाकार रूप वर्तन मे आलम्बन रूप बाह्य पदार्थो के ग्रहण/बद्धता को कर्म बध का कारण मानकर/पर पदार्थो मे राग रूप मानकर उपयोग को उनके ऊपरी ऊपरी परिचय से आगे बढने नही दिया जाता अथवा उनसे मुँह मोडे रहने को गुण माना जाता है और इस प्रकार चेतना के विशेष पक्ष को कमजोर किया जाता है—तो मानव कुवस्तु या अवस्तु रूप अनात्म लोक मे निवास करता है। इन अनात्म रूपो की नास्ति करते हुए उसे यदि अति स्पष्ट स्वानुभव के लोक म जीना हो तो उसे वर्तमान की स्पष्ट सीमा मे वर्तन करते हुए उपयोग मे विश्वास करना होगा कि वह ही अचल अक्षुब्ध रूप म उसे त्रिकाली आत्मा के परिचय/स्पर्श का माध्यम है कि उसकी स्व-पर की ग्राहकता से प्रकट हो रहा चेतना का सामान्य विशेष रूप आत्मा का स्वभाव है कि ज्ञेय पदार्थ मे बद्ध होकर कार्य करना उपयोग का कोई दोष या अपराध नही है वरन् इसी प्रकार तीक्ष्णता को व्यक्त करता हुआ वह मानव की आत्म शक्तियो के जागरण के द्वार खोलता है। पर पदार्थो मे आपा बुद्धि, राग-द्वेष दोष है पर ज्ञान म समभाव पूर्वक उनका स्पष्ट ग्रहण तो आत्म वेदन का अग ही है। उनके स्पष्ट ग्रहण बिना चैतन्य का सामान्य-विशेष रूप जो कि मानव का 'स्व' है उसके अनुभव का विषय नही बनता ॥१७॥

१८ अत्यन्त दृढीकृत उपयोग के द्वारा जिसने श्रुत ज्ञान की भूमि को अत्यन्त व्याप्त किया है अत्यधिक सयमामृत के रसो से जो नित्य अभिषिक्त रहता है, हठपूर्वक प्रहार से जिसने मोहान्धकार का नाश कर दिया है ऐसा कोई एक कृती (पुरुषार्थी) [मानव] स्वतत्त्व का स्पर्श करता हुआ विश्व को प्रकाशित करने वाली विशाल कैवल्य भूमि पर आक्रमण कर (प्राप्त कर) विश्राम करता है।

छद्मस्थ मानव और अर्हन्त परमात्मा के बीच भारी अन्तर है। स्वरूपत दोनो एक समान आत्मा है। पर छद्मस्थ मानव मोहान्धकार ग्रस्त है और इसलिये ही उसके ज्ञान में विश्व प्रकाशकता की सामर्थ्य नही है। यह सामर्थ्य प्रकट किये बिना अल्पज्ञ रहते मानव को विश्राम का अवसर नही है। इसकी देह अशुचि दोषों का घर बनी रात-दिन कोल्हू के बैल की तरह उसे

२४ सम्पूण पदाथ मण्डल के रस समूह को पूणतया पीकर मत्त हुए की तरह अत्यन्त निमल ज्ञान की अभिव्यक्तिया जो यह स्वय उछल रही है सो मै मानता हू कि यह वह भगवान चतन्य रूपी सागर ही तरगों से चचल हो रहा है जो भिन्न रस से युक्त है, एक होकर अनेक रूप होता हुआ आश्चर्यो का भण्डार है।

जो मानव द्रव्य सयम धारण कर जिनेन्द्र समान अपने शुद्धात्म स्वरूप का पुन पुन स्पश करते है और इस तरह सब प्रकार अपने अज्ञान दुबलता कषाय कालुष्य को नष्ट करने मे निरन्तर लगे रहते है वे एक दिन सयम लब्धि को प्राप्त कर लेते है उनका कम मल गुण श्रेणी रूप से पुष्कल मात्रा मे नष्ट होने लग जाता है। ऐसे श्रमण का चित्त अन्दर बाहर से शान्त, अक्षुब्ध हो जाता है अद्भुत तेजोमय हो जाता है। उसके चित्त मे कर्म मैल की बाधा हट जाने से आत्मा की गहराईयो से तीक्ष्ण निमल ज्ञानानन्द के पूर उमडते है। वह ही यह बात बता सकता है कि भगवान चतन्य सागर का अपना तो क्या है और क्या कर्म कालुष्य जनित है। ऐसे महापुरुषो का स्पष्ट कहना है कि यह भगवान चतन्य सागर एकानेक रूप है। मानव के चित्त मे उठने वाली सब निर्मल दर्शन ज्ञानादि रूप संवेदनाय अन्य कोई नही इस ही महासमुद्र की चचल तरगे है। इन तरगो मे अन्तर्बाह्य सम्पूण विश्व समाया/पिया हुआ है और उनका स्पर्श मानव को आनन्द विभोर करता है एक अदभुत मस्ती देता है ॥२३-२४॥

२५ निरन्तर सब ओर से प्रदीप्त मेरे इस भीतर बाहर प्रकट हुए उद्धत सयम का पुटपाक ज्ञानाग्नि मे सम्पन्न हो जिससे समस्त कषाय कीट के गल जाने से जिनका वमव स्पष्ट हो रहा है एसी समस्त स्वभाव रूप लक्ष्मियाँ अनुभूति के माग मे पडकर अच्छी तरह सुशोभित होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचियता महान दिम्बर सन्त आचार्य अमृतचन्द्र कहते है कि वे सब ओर से प्रदीप्त है उनके कही कोई कुण्ठा नही है दुर्बलता नही है, भ्रम के अधेरे नही है आलस्य एव निराशा नही है सतत ज्ञान ध्यान मे ही मग्नता है। साथ ही उनके भीतर-बाहर उग्र सयम प्रकट हो गया है उनका प्रत्येक योग एव उपयोग सहज ही गुप्ति एव समिति के पालन रूप ही होता है, अहिंसादि महाव्रत निरतिचार रूप से पलते है। इस सब साधना का फल आचाय अन्य कुछ नही केवल यह चाहते है कि उनमे ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो उठे। उस अग्नि के प्रज्वलित होने पर ही भिन्न कर्म कीट नष्ट होकर स्वच्छ होता है। ज्ञान से प्रकाशित स्वच्छ चित्त मे ही उभरता हुआ आत्मा के स्वभाव का वैभव उसकी निरन्तर बहती धारा मानव के स्पष्ट निर्बाध अनुभव का विषय बनती है और तब ही मानव सर्व दुखो से तुच्छता दीनता आदि के क्लेशो से मुक्त होकर धन्य होता है ॥२५॥

६

(१) जो वेग से स्वय गहन रूप से पीडित है तथा ज्ञान के विकास (निमल) रस की तरगों से जो उल्लसित है एसी अपनी इस शक्ति के बहुत शब्द मणियो का कवीन्द्र अमृतचन्द्र पुन पुन आस्वादन कर।

पच्चीस पच्चीसियो के ६२५ पदो मे जिनेन्द्र के गुण वर्णन के रूप मे आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी ही आत्म शक्तियो का वर्णन किया है। सकल और एक देश का भेद यहाँ नही

असमीचीन कुज्ञान है। इसी प्रकार वीतरागी महापुरुषो द्वारा प्रदत्त ज्ञान परम्परा पदार्थों के रूप बदल जाने से असमीचीन/व्यर्थ नही हो जाती। उनके अब हम कैसे अर्थ लगायें इसका प्रयत्न कर सके तो अवश्य करें ही ॥२०॥

२१ भीतर और बाहर जो कुछ भी रागादि या रूपादि है उन्हे जो विशेष रूप से ज्ञानाग्नि का इधन नही करता है ऐसा प्रमाता प्रमेय रूप देह को धारण करने वाले विश्व के द्वारा सम्पूर्णतया समुत्तजित हुआ यद्यपि निरन्तर जानने मे तत्पर रहता है और समता भाव भी रखता है तो भी वह साक्षात् कर्म कालिमा को धारण करता है।

२२ जिसने ज्ञान की महिमा को प्राप्त किया है, अखण्ड चारित्र समूह की तीक्ष्णता से जिसकी चिरसचित कालिमा नष्ट हो रही है, जो शुद्ध भाव का स्पर्श कर रहा है ऐसे हमारे मन मे अत्यन्त अद्भुत विशद उद्योत से स्फुरित होता हुआ जो उत्तरोत्तर सुशोभित हो रहा है तथा जो सब ओर से प्रकाशमान है ऐसा एक अन्य ही तेज वृद्धि को प्राप्त हो रहा है।

अन्तरग-बहिरग के रागादि रूपादि रूप हर पदार्थ का स्वरूप ज्ञानाग्नि का समान रूप से पवित्र इधन है। यदि मानव को अपनी कर्म कालिमा नष्ट करनी है तो उसे अपने मे यह सामर्थ्य एव दृढता उत्पन्न करनी होगी कि जगत की हर परिस्थिति प्रसग को जड-चेतन पदार्थों के प्रत्येक व्यवहार को वह निष्कप अविचलित भाव से अपने ज्ञान के स्पष्ट ज्ञेय के रूप मे स्वीकार कर सके। चित्र विचित्र सम्पूर्ण विश्व पदार्थों को अपनी वीतराग ज्ञानाग्नि का इधन बनाने की तत्परता उस मानव श्रेष्ठ की सब कर्म कालिमा नष्ट कर उसे कैवल्य तेज से सम्पन्न कर देगी। जिनमे यह सामर्थ्य निर्मित नही हुई है और जो इस पुनीत कार्य मे तत्पर नही है वे कितना ही अन्यथा ज्ञान का अभ्यास कर और समता भाव बनाये रखें पर अभी वे जगत के रागादि-रूपादि समस्त पदार्थों के प्रति दुराव को छोड नही पाये है अत परीक्षा की अग्नि मे नही तपा होने से उनका समता भाव निर्बल/कच्चा ही है और वे प्रकट कर्म कालिमा धारण किये हुए है। इस कठिन परीक्षा मे वे ही उत्तीर्ण हो सकते है जिन्होने (1) ज्ञान की महिमा को स्वीकार किया है (2) चारित्र का अखण्ड रूप से पालन कर कषाय कालुष्य को जो गला रहे है (3) जो शुद्ध आत्म गुणो के लोक मे सतत जी रहे हैं और इस प्रकार असाधारण ही तेजस्विता जिनमे प्रकट हो गई है। अन्य जनो के यह बस की बात नही है और उन्हे अपनी नम्रता का अतिक्रमण भी नही करना चाहिए ॥२१-२२॥

२३ जो पुरुष सम्पूर्ण कर्म कालिमा रूपी स्याही को धोते हुए साक्षात् सुशोभित हो रहे है तथा दूर प्रकट हुई विचित्र सयम रस रूपी नदी का समागम जिन्हे प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुष के अनन्त तेज से युक्त अन्तरग की शान्त महिमा मे परमात्मा की ये वे निज कलाय प्रकट होती है जो निरन्तर प्रवर्धमान एव तीक्ष्ण है।

२४ सम्पूर्ण पदाथ मण्डल के रस समूह को पूर्णतया पीकर मत्त हुए की तरह अत्यन्त निमल ज्ञान की अभिव्यक्तियाँ जो यह स्वय उछल रही है सो मैं मानता हू कि यह वह भगवान चतन्य रूपी सागर ही तरगो से चचल हो रहा है जो भिन्न रस से युक्त है, एक होकर अनक रूप होता हुआ आश्चर्यों का भण्डार है।

जो मानव द्रव्य सयम धारण कर जिनेन्द्र समान अपने शुद्धात्म स्वरूप का पुन पुन स्पश करते है और इस तरह सब प्रकार अपने अज्ञान दुर्बलता कषाय कालुष्य को नष्ट करने मे निरन्तर लगे रहते है वे एक दिन सयम लब्धि को प्राप्त कर लेते है उनका कर्म मल गुण श्रेणी रूप से पुष्कल मात्रा मे नष्ट होने लग जाता है। ऐसे श्रमण का चित्त अन्दर बाहर से शान्त अक्षुब्ध हो जाता है अद्भुत तेजोमय हो जाता है। उसके चित्त मे कर्म मल की बाधा हट जाने से आत्मा की गहराईयो से तीक्ष्ण निर्मल ज्ञानानन्द के पूर उमडते है। वह ही यह बात बता सकता है कि भगवान चतन्य सागर का अपना तो क्या है और क्या कर्म कालुष्य जनित है। ऐसे महापुरुषो का स्पष्ट कहना है कि यह भगवान चतन्य सागर एकानेक रूप है। मानव के चित्त मे उठने वाली सब निर्मल दर्शन ज्ञानादि रूप सवेदनाय अन्य कोई नही इस ही महासमुद्र की चचल तरगे है। इन तरगो मे अन्तर्बाह्य सम्पूर्ण विश्व समाया/पिया हुआ है और उनका स्पर्श मानव को आनन्द विभोर करता है एक अद्भुत मस्ती देता है ॥२३-२४॥

२५ निरन्तर सब ओर से प्रदीप्त मेरे इस भीतर-बाहर प्रकट हुए उद्धत सयम का पुटपाक ज्ञानाग्नि मे सम्पन्न हो जिससे समस्त कषाय कीट के गल जान से जिनका वभव स्पष्ट हो रहा है एसी समस्त स्वभाव रूप लक्ष्मियाँ अनुभूति के माग में पडकर अच्छी तरह सुशोभित होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता महान दिग्म्बर सन्त आचार्य अमृतचन्द्र कहते है कि वे सब ओर से प्रदीप्त है उनके कही कोई कु ठा नही है दुर्बलता नही है भ्रम के अधेरे नही है आलस्य एव निराशा नही है सतत ज्ञान-ध्यान मे ही मग्नता है। साथ ही उनके भीतर-बाहर उग्र सयम प्रकट हो गया है उनका प्रत्येक योग एव उपयोग सहज ही गुप्ति एव समिति के पालन रूप ही होता है, अहिंसादि महाव्रत निरतिचार रूप से पलते है। इस सब साधना का फल आचाय अन्य कुछ नही केवल यह चाहते है कि उनमे ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो उठ। उस अग्नि के प्रज्वलित होने पर ही चित्त कर्म कीट नष्ट होकर स्वच्छ होता है। ज्ञान से प्रकाशित स्वच्छ चित्त मे ही उभरता हुआ आत्मा के स्वभाव का वभव उसकी निरन्तर बहती धारा मानव के स्पष्ट निर्बाध अनुभव का विषय बनती है और तब ही मानव सब दु खो से तुच्छता दीनता आदि के क्लेशो से मुक्त होकर धन्य होता है ॥२५॥

(१) जो वेग से स्वय गहन रूप से पीडित है तथा ज्ञान के विकास (निमल) रस की तरगों से जो उल्लसित है एसी अपनी इस शक्ति के बहुत शब्द भणियो का कवीन्द्र अमृतचन्द्र पुन पुन आस्वादन कर।

पच्चीस पच्चीसियो के ६२५ पदो मे जिनेन्द्र के गुण वर्णन के रूप म आचाय अमृत चन्द्र ने अपनी ही आत्म शक्तियो का वर्णन किया है। सकल और एक देश का भेद यहां नही

रूप आत्मा ही की अभिव्यक्ति/स्पर्श है। दोनो ही स्तरो पर मानव का आत्म शक्तियाँ अभिव्यक्ति हेतु वेग पूर्वक आतुर है। ज्ञान के निर्मल रस की लहरो मे भीगी हुई उन शक्तियो का ग्रन्थ के ६२५ पदो मे किया गया वर्णन अद्‌भुत है। प्रत्येक पद हम अपनी ज्ञान रस मे भीगी आत्म शक्तियो का आस्वादन कराता है। ग्रन्थकर्त्ता अपने इन पदो पर स्वय इतने मुग्ध हैं कि वे पुन पुन उनका पारायण करना चाहते है तथा इसी प्रकार नूतन ग्रन्थ रचना चाहते है।

(२) स्याद्वाद के मार्ग मे, निज और पर के श्रेष्ठ विचार मे ज्ञान और क्रिया के अतिशयपूर्ण वैभव की भावना मे, शब्द और अर्थ के सघठन की सीमा मे तथा रस की अधिकता मे विशेष समझ प्राप्त करने के इच्छुक बालको (अल्पज्ञो) के लिये यह रचना दिशा प्रदान करने वाली है।

वैसे तो प्रस्तुत ग्रन्थ आत्महितेच्छु सर्व जनोपयोगी है पर उनके लिये विशेष उपयोगी है जो कही भटक गये है यथा—(1) जो मानव एकात की अर्थक्रियाहीन चर्चा चिंतन से थक गया हो वह इस ग्रन्थ को पुन पुन पढे मनन करे और अपने को सर्व सकीर्णताओ एव साम्प्रदायिक अभिनिवेश से मुक्त कर सर्वत्र मानव चित्त मे उभरे/उभर रहे विचारो/दृष्टियो को स्याद्वाद से सस्कृत कर/उसका ठीक अर्थ लगाकर अमृत पान करना सीखे। (2) जो मानव स्वय के तथा अन्य जड चेतन के तुच्छ विद्रूप परिचय से तुच्छ-विद्रूप हुआ जा रहा हो और इसलिये स्वय मे या अन्यो से पलायन मे अपनी मुक्ति मानने के भ्रम मे पड गया हो और जिसे कोई राह न सूझ रही हो वह इस ग्रन्थ को गम्भीरता से पढकर स्व तथा पर पदार्थो के महिमामयी वस्तुस्वरूप से परिचित हो एव इनके मधुर ज्ञान-ज्ञेय आदि सम्बन्धो मे मुक्ति की श्वास ले। (3) जिसने 'आत्मा ज्ञान स्वभावी है' यह तो रटा है पर ज्ञान के विश्व रूप वैभव से कतराता है अत ज्ञान हीन थोथा हुआ जा रहा है वह ग्रन्थ के पारायण से विश्व के पदार्थो से आत्मा की प्रदेश-पृथकता के साथ ज्ञान मे विश्वमयता स्वीकार कर आत्म विमुखता छोडे और आत्म स्पर्श के अपने द्वार खोले। (4) मन-वचन-काय की क्रियायें आत्मा की योग शक्ति के प्रकाशन है। जिनके क्रियाकलाप शिथिल हैं वे कैसे निष्कप रह परीषह-जय कर सकते है कैसे आत्मा के अनन्त वीर्य की तीक्ष्णताओ का स्पर्श कर सकते है और परिणामस्वरूप कैसे ज्ञान दर्शन की सतेजता का वेदन कर सकते है। अत महा क्रियावान/उद्यमी/सयमी होकर की गई ज्ञानाराधना ही मानव को कषाय क्षय कर परमात्मा बनाती है यह समझ कर जिसे अपने क्रिया पक्ष को सभालने की आवश्यकता है वह इस ग्रन्थ के पठन से अपना भ्रम दूर करे। (5) जो मानव शब्द और अर्थ के सम्बन्ध मे भ्रम मे है वह ग्रन्थ के पठन से समझे कि शब्द वस्तु के एक पक्ष को ही कहता है एकात रूप से ग्रहण करने पर वह अन्य पक्ष का लोप करता हुआ स्वय को निरर्थक करता है। अत प्रत्येक शब्द स्यात् लाञ्छन से युक्त स्वभाव से है। (6) आनन्द ही आत्मा है। जो जन ज्ञान ध्यान त्याग-तप आदि सब कुछ करते है पर रस विहीन/निरानन्द अन्दर बाहर से उनका जीवन है तो क्या वे आत्म स्पर्श की ओर गतिमान है, क्या उनका कर्म-पलेप टूट रहा है ? नीरस जीवन और आत्मा मे ३६ के अक की विमुखता है। ऐसे नीरस जीवन से जो ऊबा हो वह इस ग्रन्थराज के पठन से आत्मा से उमडते निर्मल मुक्त आनन्द के पर का रहस्य समझे और नीरस जीवन से अपना पिण्ड छुडाये।